
इकाई - 1: समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति, उद्देश्य और विकास

इकाई की रूपरेखा

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 समष्टि अर्थशास्त्र का परिचय
- 1.4 समष्टि अथवा व्यापक अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
- 1.5 समष्टि अर्थशास्त्र का उद्देश्य एवं उपकरण
- 1.6 समष्टि अर्थशास्त्र का विकास
- 1.7 समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र अथवा विषय वस्तु
- 1.8 समष्टि आर्थिक चर
- 1.9 समष्टि अर्थशास्त्र विश्लेषण के प्रकार
- 1.10 समष्टि अर्थशास्त्र की विशेषताएँ
- 1.11 समष्टि अर्थशास्त्र का महत्त्व एवं आवश्यकता
- 1.12 समष्टि अर्थशास्त्र एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर एवं पारस्परिक निर्भरता
- 1.13 समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ
- 1.14 सारांश
- 1.15 शब्दावली
- 1.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.18 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
- 1.19 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

खण्ड प्रथम की परिचय से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है जिसका शीर्षक 'समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति, उद्देश्य और विकास' है।

प्रस्तुत इकाई में समष्टि अर्थशास्त्र का विषय वस्तु एवं इसकी आवश्यकता के बारे में विस्तार से चर्चा किया गया है। व्यष्टि अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर एवं आर्थिक विरोधाभास को उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि समष्टि और व्यष्टि अर्थशास्त्र को पृथक-पृथक क्यों पढ़ाया जाता है। इन दोनों के विषय वस्तु को आप समझ सकते हैं।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि -

- समष्टि अर्थशास्त्र क्या है?
- समष्टि अर्थशास्त्र का विकास कैसे हुआ?
- आर्थिक विरोधाभास क्या है?
- प्रतिष्ठित दृष्टिकोण किस प्रकार से कीन्स दृष्टिकोण से अलग है।

1.3 समष्टि अर्थशास्त्र का परिचय

आर्थिक अर्थव्यवस्था का अध्ययन प्रायः दो दृष्टिकोण से होता है-

1. समष्टि विश्लेषण (Macro Analysis)
2. सूक्ष्म विश्लेषण (Micro Analysis)

1. समष्टि विश्लेषण - मैक्रो शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द Makro से हुई है जिसका अर्थ होता है 'बड़ा'। समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत संपूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन करते हैं या उन बड़ी इकाईयों का अध्ययन करते हैं जिनका सम्बन्ध संपूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है, जैसे- कुल राष्ट्रीय आय, कुल बचत, कुल विनियोग इत्यादि। समष्टि अर्थशास्त्र में किसी भी अर्थव्यवस्था के समग्र चरों (aggregate variables) जैसे राष्ट्रीय आय, रोजगार, मूल्य स्तर, बचत विनियोग, भुगतान शेष आदि का अध्ययन किया जाता है। समष्टि अर्थशास्त्र संपूर्ण अर्थव्यवस्था के क्रियाशीलता से सम्बन्धित है जिसमें वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन, किसी समय अवधि में उसकी वृद्धि दर, साधनों के रोजगार का स्तर, बचत तथा विनियोग आदि का निर्धारण एवं इसमें किसी समय अवधि में परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है। इसमें भुगतान शेष तथा भुगतान संतुलन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन भी सम्मिलित है।

2. सूक्ष्म विश्लेषण - माइक्रो (Micro) शब्द का उद्गम ग्रीक भाषा के (Mikro) शब्द से हुआ जिसका अर्थ है सूक्ष्म। सूक्ष्म अर्थशास्त्र का दृष्टि अर्थशास्त्र में अर्थव्यवस्था की विभिन्न छोटी इकाइयों (फर्म, उद्योग, व्यक्ति आदि) से सम्बन्धित समस्याएँ जैसे वस्तु के मूल्य निर्धारण की समस्या, फर्म में विवेकीकरण की समस्या एवं मजदूरी निर्धारण की समस्या आदि का अध्ययन करते हैं।

प्रत्येक अर्थव्यवस्था अनेक आर्थिक इकाइयों की समूह होती है। अर्थव्यवस्था भी फर्म, उद्योग, व्यक्ति आदि की ही तरह इकाई होती है पर इसका स्वरूप बड़ा होता है तथा इसका निर्माण इन इकाइयों के मिश्रण से होता है। फलस्वरूप अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित किसी भी समस्या का अध्ययन प्रायः दो दृष्टिकोण से किया जाता है- एक तो संपूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टिकोण से जिसे समष्टि अर्थशास्त्र कहते हैं। समष्टि आर्थिक समस्या के विश्लेषण के लिए जिस विधि का प्रयोग करते हैं उसे समष्टिभावी विश्लेषण कहते हैं तथा दूसरा अर्थव्यवस्था की अलग-अलग इकाइयों की दृष्टि से जिसमें छोटी इकाइयों अर्थात् व्यक्तिगत इकाइयों, जैसे एक फर्म, एक उद्योग, किसी एक वस्तु का मूल्य इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। इसे व्यष्टि अर्थशास्त्र कहते हैं। व्यष्टि आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए जिस विधि का प्रयोग करते हैं उसे व्यष्टिभावी विश्लेषण कहते हैं।

1. 4 समष्टि अथवा व्यापक अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

समष्टि अर्थशास्त्र की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं:-

1. प्रो. बोल्टिंग (Bolding) के अनुसार, “व्यापक अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत मात्राओं का अध्ययन नहीं किया जाता है, बल्कि इन मात्राओं के योग का अध्ययन किया जाता है। इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत आय से नहीं बल्कि राष्ट्रीय आय से होता है, व्यक्तिगत कीमतों से नहीं, बल्कि सामान्य कीमत स्तर से होता है, व्यक्तिगत उत्पादन से नहीं, बल्कि राष्ट्रीय उत्पादन से होता है।”
2. गार्डनर एकले (Gardner Ackley) के अनुसार “समष्टिगत अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इस प्रकार के तत्वों से है जैसे किसी अर्थव्यवस्था के समग्र उत्पादन, उनमें साधनों का किस सीमा तक उपयोग हो रहा है, राष्ट्रीय आय का आकार तथा सामान्य कीमत स्तर।”
3. प्रो. शुल्ज (Prof. Shultz) के अनुसार “व्यापक अर्थशास्त्र का मुख्य यन्त्र राष्ट्रीय आय विश्लेषण करता है।”
4. प्रो. चेम्बरलिन (Chamberlin) के अनुसार “व्यापक अर्थशास्त्र समग्र सम्बन्धों का अध्ययन करता है।”
5. ब्रेन हिलियट के अनुसार “समष्टि अर्थशास्त्र प्रमुख आर्थिक समग्रों जैसे उत्पादन, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, भुगतान शेष आदि के व्यवहार का अध्ययन है।”
6. प्रो. जे.के. मेंहता के अनुसार, “समष्टि अर्थशास्त्र संपूर्ण निकाय का अर्थशास्त्र है जबकि व्यष्टि अर्थशास्त्र इस निकाय के संघटकों का अर्थशास्त्र है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन के बाद आप समझ गये होंगे कि समष्टि अर्थशास्त्र संपूर्ण अर्थव्यवस्था या समग्रों में व्यवहार का अध्ययन है। आर.जी.डी. एकले ने समष्टि अर्थशास्त्र पर विचार करते हुए यह कहा कि “समष्टि अर्थशास्त्र विस्तृत आर्थिक समग्रों के बीच सम्बन्धों के अध्ययन से सम्बन्धित है।”

इस प्रकार आप कह सकते हैं कि समष्टि अर्थशास्त्र उन प्रमुख आर्थिक कारकों का अध्ययन करता है जो अर्थव्यवस्था में समग्र उत्पादन, समग्र आय, बेरोजगारी मुद्रास्फीति, भुगतान शेष तथा समयावधि में उनके वृद्धि दर को निर्धारित करता है।

1.5 समष्टि अर्थशास्त्र का उद्देश्य एवं उपकरण

समष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन,
2. पूर्ण रोजगार प्रदान करना,
3. तीव्र आर्थिक विकास को सुनिश्चित करना,
4. मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण रखना,
5. वस्तु एवं सेवाओं की कीमतों में स्थायित्व प्रदान करना,
6. व्यापार चक्र को समाप्त कर आर्थिक स्थिरता प्रदान करना।

उपरोक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समष्टि आर्थिक स्थायित्व नीति का उपयोग किया जाता है। आर्थिक नीति सम्बन्धी उपकरण सरकार के नियंत्रण में वह आर्थिक चर है जो एक या एक से अधिक समष्टि आर्थिक लक्ष्यों को प्रभावित कर सकता है। ऐसे तीन प्रमुख उपकरण हैं, यथा-

1. राजकोषीय नीति- राजकोषीय नीति से आशय सरकार के कर (आय), व्यय एवं ऋण से सम्बन्धित नीतियों से है। प्रो. आर्थर स्मिथीज के अनुसार, 'राजकोषीय नीति वह नीति है जिसमें सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रमों को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर वांछित प्रभाव डालने एवं अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है। कीन्स के अनुसार, "राजकोषीय नीति उपभोग के समान और विनियोग की प्रेरणा के बीच समायोजन करने वाला सन्तुलन तत्त्व है।" सरल शब्दों में राजकोषीय नीति एक ऐसी नीति है जो अर्थव्यवस्था में संतुलनकारी तत्त्व के रूप में राजस्व का प्रयोग करती है। विकसित देशों में राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर आर्थिक स्थायित्व सुनिश्चित करना है जबकि भारत जैसे विकासशील देश में राजकोषीय नीति का प्रधान उद्देश्य तीव्र गति से आर्थिक विकास के साथ-साथ समाज में आर्थिक विषमता को कम करना होता है। संक्षेप में आप कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि, पूँजी निर्माण, विनियोग ढाँचे का निर्माण, स्थिरता के साथ आर्थिक विकास, आय की असमानताओं को दूर करना तथा अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखना ही राजकोषीय नीति का उद्देश्य होता है।

2. मौद्रिक नीति - मौद्रिक नीति से अभिप्राय केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति से है। परन्तु मौद्रिक नीति का यह एक संकुचित अर्थ है। विस्तृत अर्थ में, मौद्रिक नीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा, उसकी लागत (अर्थात् ब्याज दर) को प्रभावित करने वाले मौद्रिक उपायों के अतिरिक्त ऐसी अमौद्रिक नीतियाँ और उपाय भी सम्मिलित किये जाते हैं जिनका प्रभाव देश में मौद्रिक स्थिति पर पड़ता है। पॉल ऐनजिंग के अनुसार मौद्रिक नीति में "वे सब मौद्रिक निर्णय तथा उपाय जिनके उद्देश्य मौद्रिक हों अथवा अमौद्रिक तथा वे सब मौद्रिक निर्णय तथा उपाय

जिनका उद्देश्य मौद्रिक प्रणाली पर प्रभाव डालना होता है, सम्मिलित होते हैं।'' मौद्रिक नीति का उद्देश्य मात्र मुद्रा के अध्ययन एवं स्फीति के नियंत्रण तक ही सीमित नहीं होती है बल्कि कीमत तथा मजदूरी नियंत्रण, व्यापार एवं विनियोग नियंत्रण, बेरोजगारी को समाप्त करने, बजट नीति तथा आय नीति सम्बन्धी वे अमौद्रिक उपाय भी मौद्रिक नीति में सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य मौद्रिक स्थिति को प्रभावित करना होता है।

3. विनियम दर नीति - विनियम दर या विदेशी विनियम दर वह दर होती है जिस दर पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की चलन मुद्रा से बदली जाती है। आप सोच रहे होंगे कि विनियम दर की आवश्यकता क्या है? जैसा कि आप जानते हैं कि आज सभी देशों की अर्थव्यवस्था एक दूसरे देश की अर्थव्यवस्था से एकीकृत हो गयी है जिसे आप वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण कहते हैं। विभिन्न देशों में अलग-अलग मुद्राओं का प्रचलन है और प्रत्येक देश की मुद्रा केवल उसी देश की सीमाओं के भीतर विधिग्राह्य होती है। इसलिए विदेशी भुगतानों के लिए एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में बदलने की समस्या उत्पन्न होती है। विदेशी विनियम दर का निर्धारण विदेशी विनियम बाजार द्वारा सम्पन्न होता है। किसी देश के लिए विनियम दर का अनुकूल तथा प्रतिकूल होना उसके व्यापार संतुलन तथा भुगतान संतुलन की स्थिति को प्रभावित करता है। विनियम दरें न केवल बाह्य संतुलन अपितु आन्तरिक संतुलन को भी प्रभावित करती हैं। इसलिए व्यावसायिक रूप में, विनियम दरें स्वाभाविक आर्थिक शक्तियों द्वारा ही निर्धारित नहीं होती हैं, बल्कि सरकारी नीति पर भी आधारित होती हैं।

1.6 समष्टि अर्थशास्त्र का विकास - प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्रियों ने सूक्ष्म विश्लेषण का प्रयोग किया है तथा मार्शल ने इस पद्धति को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया। प्राचीन समय में आर्थिक विश्लेषण की एक पृथक तथा स्पष्ट शाखा के रूप में व्यापक या समष्टि अर्थशास्त्र विद्यमान नहीं था। परन्तु समष्टि अर्थशास्त्र को प्रायः व्यष्टि अर्थशास्त्र के साथ मिलाकर प्रयोग में लाया जाता था। समष्टि शब्द का प्रथम बार प्रयोग संभवतः रैगनर फ्रिस् (Ragnar Frisch) ने 1933 में किया। जहाँ तक आर्थिक समस्याओं के अध्ययन की विधि के रूप में मॅक्रो शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि वणिकवादियों ने किया हांलाकि वे एक अध्ययन विधि के रूप में समष्टि अर्थशास्त्र से परिचित नहीं थे परन्तु वे संपूर्ण अर्थव्यवस्था को निर्यात में वृद्धि के द्वारा समृद्ध बनाने पर जोर देते थे, उनका दृष्टिकोण समष्टिमूलक था। वणिकवाद के पश्चात् प्रकृतिवाद नामक विचारधारा ने भी समष्टिवादी अर्थशास्त्र का प्रयोग किया। 18वीं सदी में इस विचारधारा के विचारक डॉ. क्वेजने ने समाज को तीन वर्गों में बांटा है- उत्पादक वर्ग, सम्पत्ती स्वामी वर्ग और अनुत्पादक वर्ग। इन तीनों वर्गों के बीच ही धन के परिभ्रमण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसे एक आर्थिक सारणी के माध्यम से व्यक्त किया। इस प्रकार संपूर्ण अर्थव्यवस्था में धन का वितरण समष्टिगत अर्थशास्त्र की विषय वस्तु है।

व्यष्टिगत अर्थशास्त्र के जन्म श्रेय प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री एडम स्मिथ को जाता है। एडम स्मिथ और उनके अनुयायी यह स्वीकार करते थे कि व्यक्ति में निहित स्वहित की भावना प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से संपूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। इस प्रकार एडम स्मिथ ने मनुष्य के स्वहित (Self-interest) को आधार बनाकर अपने विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये।

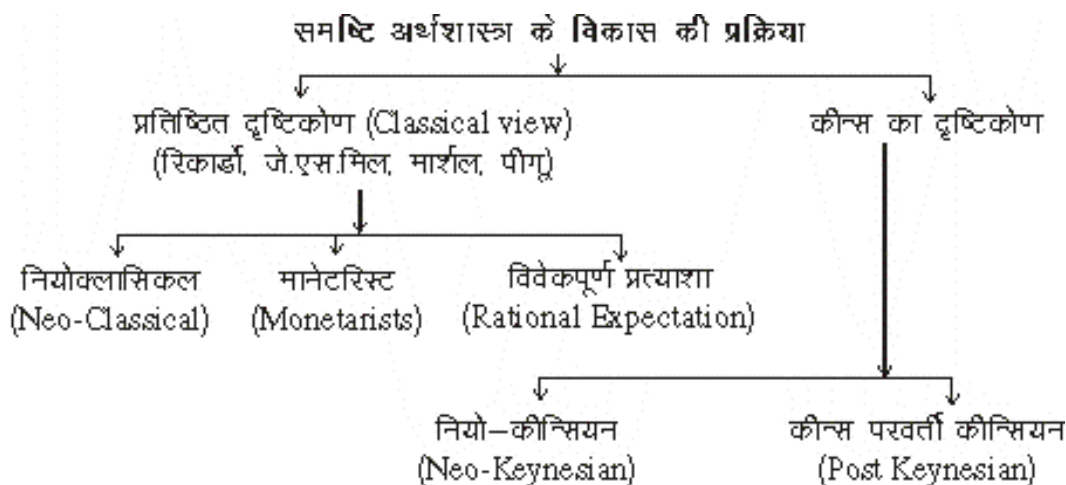
1930 के पूर्व अर्थशास्त्रियों का ध्यान व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण पर केन्द्रित था क्योंकि ये (प्रतिष्ठित) अर्थशास्त्री यह मानते थे कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है और उसमें होने वाला विचलन अस्थायी होता है और जल्द ही समाप्त हो जाता है। वास्तविकता यह है कि उस समय आर्थिक व्यवस्था प्रगतिशील एवं सरलता से चलने वाली थी, इसलिए नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को स्थिर एवं निश्चित मान लिया और वे सामान्य कीमतों, उत्पादन की मात्रा आदि पर ध्यान न देकर व्यक्तिगत कीमतों और मात्राओं के निर्धारण का ही अध्ययन विश्लेषण करते रहे। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को स्थिर मानने के पीछे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की महत्वपूर्ण मान्यता-पूर्ण रोजगार है। इस मान्यता के अनुसार जब अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार बना रहे तो अल्पकाल में अर्थव्यवस्था का कुल उत्पादन स्थिर रहेगा तथा मूल्यस्तर में अस्थिरता नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जहाँ कुल उत्पादन, कुल रोजगार तथा मूल्य स्थिर अर्थात् सभी समग्र चर स्थिर हों तो विश्लेषण व्यष्टिभावी होगा। अब आप समझ रहे होंगे कि क्यों प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपना ध्यान व्यष्टि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित समस्याओं जैसे उत्पादों के मूल्य तथा मूल्य निर्धारण की क्रिया पर केन्द्रित किया। दरअसल 1919-1929 के बीच संभाव्य उत्पादन या रोजगार (Potential output or employment) और वास्तविक रोजगार और वास्तविक उत्पादन/रोजगार (Actual output/employment) के बीच 5 प्रतिशत से अधिक का अन्तर नहीं था। किसी भी समय कुछ मजदूर अपने रोजगार में परिवर्तन करते रहेंगे। इसलिए अर्थशास्त्रियों ने यह विश्वास किया कि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी कभी भी 4 प्रतिशत से नीचे नहीं गिरेगी। 1978 में हम्फ्रे-हाकिन्स या पूर्ण रोजगार और संतुलित संवृद्धि विधि (The 1978 Humphrey-howkins or Full Employment and Balanced Growth Act) ने 4 प्रतिशत बेरोजगारी को पूर्ण रोजगार का नाम दिया। मार्शल के समय तक व्यष्टि अर्थशास्त्र अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। परन्तु 1930 की विश्व मन्दी ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजगार की मान्यता एवं उस पर आधारित रोजगार, आय, मूल्य स्तर आदि के निर्धारण सम्बन्धित सिद्धान्तों की सत्यता एवं उपादेयता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। इस विषम आर्थिक संकट की स्थिति में विश्वमन्दी से अर्थव्यवस्था को मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से कीन्स ने उन कारणों की सीमक्षा की जिनके परिणामस्वरूप विश्वमन्दी आयी। इसी अवधि में कीन्स की पुस्तक 'जेनरल थियरी आफ इम्प्लायमेंट, इन्टरेस्ट एण्ड मनी (General Theory of Employment, Interest and Money) 1936 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में कीन्स ने अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों (जिन्हें कीन्स ने प्रतिष्ठित (Classical) कहा) के सिद्धान्तों को खुलकर चुनौती दी। इसी पुस्तक के प्रकाशन के बाद समष्टिभावी विश्लेषण की दिशा में नयी सोच की शुरुआत हुई। कीन्स ने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों को क्लासिकल (Classical) कहकर पुकारा। हांलाकि क्लासिकल शब्द का प्रयोग सबसे पहले कार्ल मार्क्स ने किया जिसके अन्तर्गत उन्होंने डेविड रिकार्डो, जेम्स मिल तथा उनके अनुयायियों को रखा।

जे.एम.कीन्स की जेनरल थियरी के प्रकाशन के बाद समष्टिभावी विश्लेषण को दो भागों में बाँटा जा सकता है-

(क) प्रतिष्ठित समष्टिभावी दृष्टिकोण या कीन्स के पूर्ववर्ती समष्टिभावी दृष्टिकोण

(ख) कीन्सीयन दृष्टिकोण

समष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को निम्न चार्ट में दर्शाया गया है-



इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समष्टिभावी आर्थिक विचारधारा में कीन्स ने एक 'क्रान्तिकारी चिन्तन' को जन्म दिया जिसे 'कीन्सियन क्रान्ति' कहते हैं। विश्वमन्दी से अर्थव्यवस्था को मुक्ति दिलाने वाला कीन्स का आर्थिक विचार 1960 की दशाब्द में अपनी चरम सीमा पर था। कीन्स के द्वारा सुझाये गये उपचार विकासशील देश के सम्बन्ध में जहाँ समस्या माँग में कमी की है वहाँ पर अनुकूल परिणाम देते हैं परन्तु अगर समस्या पूर्ति के कमी की है तो यह उपचार प्रतिकूल परिणाम दे सकते हैं। कीन्स का आर्थिक विचार 1970 की दशाब्द में कमजोर सा पड़ गया। यह महसूस किया जाने लगा कि 'कीन्सियन उपचार' वर्तमान आर्थिक समस्याओं के समाधान में प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता तभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन, सुधार एवं नवीकरण होने लगा जो कीन्सियन क्रान्ति के प्रभाव में दब से गये थे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के नये आर्थिक विचारों को ही नव-प्रतिष्ठित या नियोक्लासिकल के नाम से जाना गया। इसमें सोलो, स्वेन, फेलप्स आदि ने नियोक्लासिकल संवृद्धि मॉडल प्रस्तुत किया जिसमें यह प्रतिपादित किया गया कि 'अर्थव्यवस्था में स्थिरता का तत्त्व आवश्यक रूप से रहता है और यदि पूर्ण रोजगार पथ से अलगाव होता है, तो इसके पुनः कायम होने की प्रवृत्ति होती है।' प्रतिष्ठित आर्थिक विचारों का पुनर्स्थापन तथा कीन्सियन दृष्टिकोण को चुनौती देने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम शिकागो स्कूल के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन के मौद्रिकवाद आर्थिक विचार में मिलता है जिसमें मौद्रिकवादियों ने मुद्रा पर सर्वाधिक बल दिया। इसे कीन्सियन प्रतिक्रियात्मक क्रान्ति का नाम दिया गया। प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन की दिशा में अमरीकी अर्थशास्त्री लुकास तथा सार्जेण्ट ने न्यू क्लासिकल दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया जिसमें कीन्स के इस विचार को चुनौती दी गयी कि 'विभेदात्मक सरकारी नीतियों' (Discretionary government policies) का प्रयोग अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता कायम रखने के लिए किया जा सकता है। कीन्स के सिद्धान्त के प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिष्ठित सिद्धान्त के पक्ष में नियोक्लासिकल, मानेटरिस्ट, विवेकपूर्ण प्रत्याशा (Rational Expectation) आदि दृष्टिकोण प्रतिपादित हुए। इसी तरह से कीन्स के सिद्धान्तों के पक्ष में नियोकीन्सियन तथा

कीन्स परवर्ती सिद्धान्त (Post-Kenesian Theories) विकसित हुए। कीन्स परवर्ती सिद्धान्त की दिशा में कार्य करने वाले अर्थशास्त्री थे मादोगिल्यानी, जेम्स टोबिन आदि।

1.7 समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र अथवा विषय वस्तु

समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता सूक्ष्म अर्थशास्त्र की सीमाओं तथा कुछ अन्य बातों के परिणामस्वरूप प्रतीत होती है। समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख शाखाएं निम्नलिखित हैं-

1. **राष्ट्रीय आय का सिद्धान्त-** समष्टि अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय की धारणा, इसके विभिन्न तत्व एवं माप की विधियों आदि का अध्ययन किया जाता है।
2. **रोजगार का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बेरोजगारी एवं रोजगार तथा इसको प्रभावित करने वाले तत्वों एवं इससे सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। रोजगार को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्व जैसे समग्र पूर्ति, समग्र उपभोग, समग्र निवेश, कुल बचत एवं प्रभावपूर्ण मांग आदि का अध्ययन किया जाता है।
3. **मुद्रा का सिद्धान्त-** मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन रोजगार के स्तर को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण तत्व है। इसलिए समष्टि अर्थशास्त्र मुद्रा के कार्य एवं इससे सम्बन्धित चरों (जैसे स्फीति अवस्फीति, संस्फीति, विस्फीति, स्टैगफ्लेशन एवं मुद्रा का विनिमय दर आदि) का अध्ययन करता है।
4. **सामान्य कीमत स्तर का सिद्धान्त-** सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन अर्थात् मुद्रा-स्फीति और अवस्फीति, मूल्य सूचकांक के निर्माण आदि का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।
5. **आर्थिक संवृद्धि एवं विकास का सिद्धान्त-** समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत विकसित एवं अल्पविकसित देशों में संवृद्धि एवं विकास अर्थात् प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। समस्याओं के समाधान हेतु राजस्व, मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति का प्रयोग किया जाता है। मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति समष्टि अर्थशास्त्र की प्रमुख नीति है।
6. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त-** अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन को हम चार भागों में बाँट सकते हैं- (क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति, (ग) भुगतान शेष, एवं (घ) भुगतान शेष में समायोजन। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के सूक्ष्म अर्थशास्त्र के पहलू का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि भुगतान शेष एवं भुगतान शेष का समायोजन समष्टि अर्थशास्त्र के पहलू का प्रतिनिधित्व करते हैं।
7. **वितरण का समग्र सिद्धान्त-** 'साधनों के वितरण' का अध्ययन समष्टि एवं व्यष्टि दोनों अर्थशास्त्र में किया जाता है परन्तु सूक्ष्म अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र दोनों में 'साधनों के वितरण' की समस्या के सम्बन्ध में अन्तर 'योग के स्तर' का है। सूक्ष्म अर्थशास्त्र में हम अर्थव्यवस्था को बहुत छोटे-छोटे फर्मों, उद्योगों इत्यादि में बाँटकर साधनों के वितरण की समस्या का अध्ययन करते हैं जबकि इसके विपरीत, समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत साधनों

के वितरण का अध्ययन दो बड़े भागों- उपभोक्ता वस्तुओं का भाग एवं पूँजीगत वस्तुओं का भाग के बीच किया जाता है।

1.8 समष्टि आर्थिक चर

चर एक परिणाम या मात्रा होता है जो विचाराधीन समय में परिवर्तित होता रहता है। 'चर' निम्नांकित प्रकार के हो सकते हैं-

1. आश्रित तथा स्वतंत्र चर - आश्रित चर वे चर होते हैं जो किसी अन्य चर पर निर्भर करते हैं जैसे उपभोग आय का फलन है जिसे आप सूत्र के रूप में दिखा सकते हैं :-

$$C = f(y)$$

यहाँ पर C उपभोग है, f फलन है और y आय है। उपभोग की मात्रा आय पर निर्भर करती है। इसलिए 'चर' जो बाँये हाथ में है अर्थात् उपभोग (c) आश्रित चर है तथा दाहिने हाथ वाला चर (आय) स्वतंत्र चर है।

2. अन्तर्जात तथा बहिर्जात चर (Endogenous and Exogenous Variables)- अन्तर्जात चर आर्थिक निकाय के आन्तरिक अंग होते हैं। उदाहरण के लिए अण्डे का माँग सिद्धान्त में अण्डे की मात्रा अन्तर्जात चर है जबकि मौसम बाह्य या बहिर्जात चर है। बहिर्जात चर आर्थिक निकाय के आन्तरिक अंग नहीं होते हैं।

3. स्ट्राक एवं प्रवाह चर (Stock and Flow Variables)- स्ट्राक चर वह चर होता है जिसमें समय आयाम (Time Dimension) नहीं होता है। यह किसी विशेष समय क्षण (Point of time) पर व्यक्त किया जाता है जैसे- अप्रैल 08, 1912 को आपके बैंक खाता में 10,000 रु. है। जबकि इसके विपरीत प्रवाह चर में समय आयाम होता है यह समय की प्रति इकाई (quantity per unit over a specified period of time) में व्यक्त किया जाता है जैसे- बैंक खाते में से 500रु. प्रति महीने निकालना। स्ट्राक और प्रवाह के उदाहरण निम्नवत है-

स्ट्राक	प्रवाह
1. धन	1. आय
2. मुद्रा की मात्रा	2. मुद्रा का व्यय
3. पूँजी	3. पूँजी निर्माण
4. देश में मुद्रा की पूर्ति	4. देश में मुद्रा की पूर्ति में वार्षिक परिवर्तन
5. बैंक जमा/निक्षेप	5. पूँजी पर ब्याज दर
6. वाराणसी में घरों की संख्या	6. वर्ष 1912 के दौरान वाराणसी में घरों का निर्माण
7. देश में रोजगारों की संख्या	7. भारत का राष्ट्रीय आय
8. 100 रु. का नोट	8. विनिवेश

1.9 समष्टि अर्थशास्त्र विश्लेषण के प्रकार

कुरिहारा ने समष्टि अर्थशास्त्र विश्लेषण के तीन प्रकार बताये हैं जिसका विवेचन नीचे किया गया है-

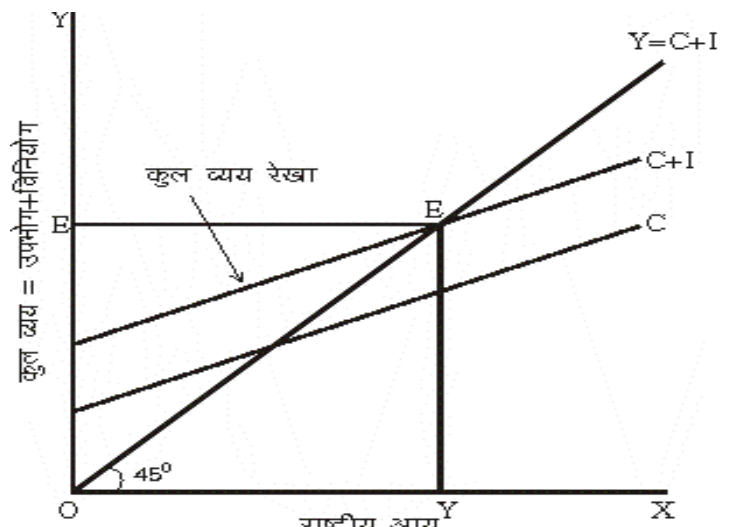
1. व्यापक अथवा समष्टि स्थैतिकी (Macro-statics)- समष्टि स्थैतिकी साम्य का अध्ययन है। विभिन्न यौगिक सम्बन्ध सन्तुलन की अवस्था में कैसे पहुँची, इसका अध्ययन नहीं करता है अर्थात् यह समायोजन की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं करता है। यह तो मात्र यौगिक सम्बन्धों के संतुलन तथा स्थिर चित्र का अध्ययन करता है। कीन्स के 'सामान्य सिद्धान्त' से उद्धृत समीकरण- $Y = C + I$ (कुल आय = कुल उपभोग + कुल विनियोग) समष्टि स्थैतिक स्थिति को दिखाता है। उपर्युक्त समीकरण को हम निम्नलिखित तरह से भी स्पष्ट कर सकते हैं $Y=C+I=E$

$Y =$ कुल आय, $C =$ कुल उपभोग, $I =$ कुल विनियोग, $E =$ कुल व्यय,

$Y=E$ अर्थात् कुल आय = कुल व्यय

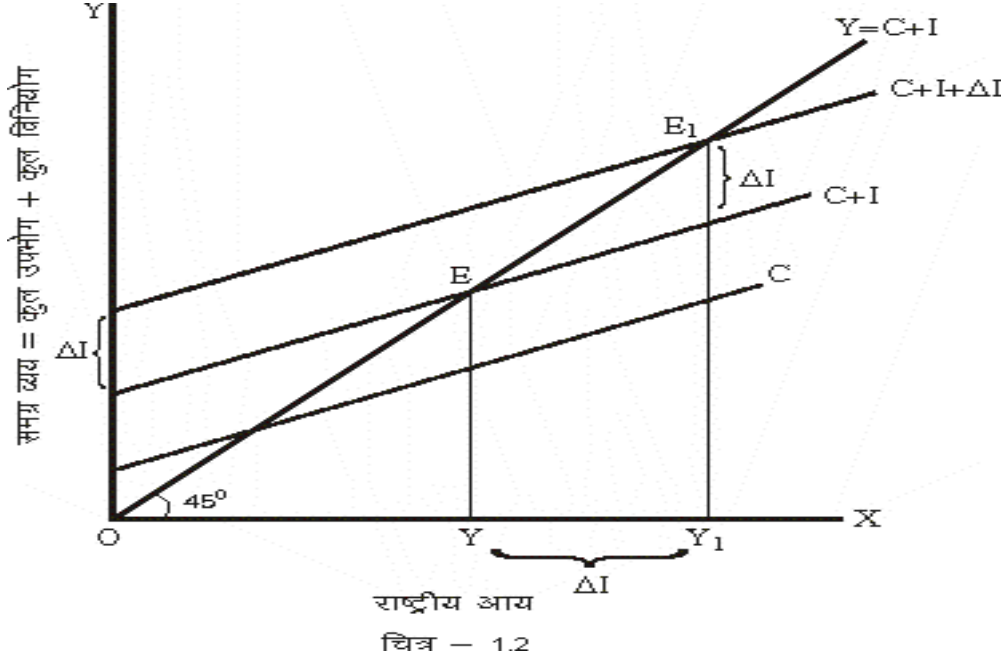
उपर्युक्त समीकरण केवल यह बताता है कि कुल आय कुल उपभोग तथा कुल विनियोग के बराबर है अर्थात् कुल आय कुल व्यय के बराबर है। यह समीकरण यह नहीं बताता कि अन्तिम संतुलन की स्थिति में कुल आय (Y) कुल व्यय (E) के बराबर किस समायोजन की प्रक्रिया द्वारा पहुँची। इस प्रकार आप कह सकते हैं कि समष्टि स्थैतिक अध्ययन में न तो समय का विवेचन करते हैं और न ही किसी परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह केवल समय-रहित एकरूप समीकरण (Timeless identify eqation) है।

समष्टि स्थैतिक विश्लेषण को चित्र 1.1 में स्पष्ट किया गया है। एक अर्थव्यवस्था में कुल आय कुल व्यय के बराबर होती है जिसे चित्र में बिन्दु E से दिखाया गया है चित्र में 45° रेखा उपभोग एवं विनियोग दोनों पर किये जाने वाले व्यय को व्यक्त करता है। 45° कोण पर रेखा $Y=C+I$ कुल आय तथा कुल व्यय रेखा है। बिन्दु E पर अर्थव्यवस्था संतुलन की स्थिति में है क्योंकि इस बिन्दु पर कुल राष्ट्रीय आय (OY) कुल व्यय (OE) के बराबर है। समष्टि स्थैतिक इसी सामन्य (बिन्दु E का अध्ययन करता है। आप ध्यान दें कि चित्र से यह स्पष्ट नहीं होता है कि अर्थव्यवस्था किस समायोजन की प्रक्रिया द्वारा संतुलन या साम्य की स्थिति बिन्दु E पर पहुँची है।



चित्र - 1.1

2. तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक (Macro-comparative statics) - तुलनात्मक समष्टि स्थैतिकी अर्थव्यवस्था में उत्पन्न विभिन्न संतुलनों का तुलनात्मक अध्ययन करती है परन्तु यह नहीं बताती कि एक संतुलन स्तर से दूसरे संतुलन स्तर तक कैसे या किन प्रक्रियाओं द्वारा पहुँच गया है।

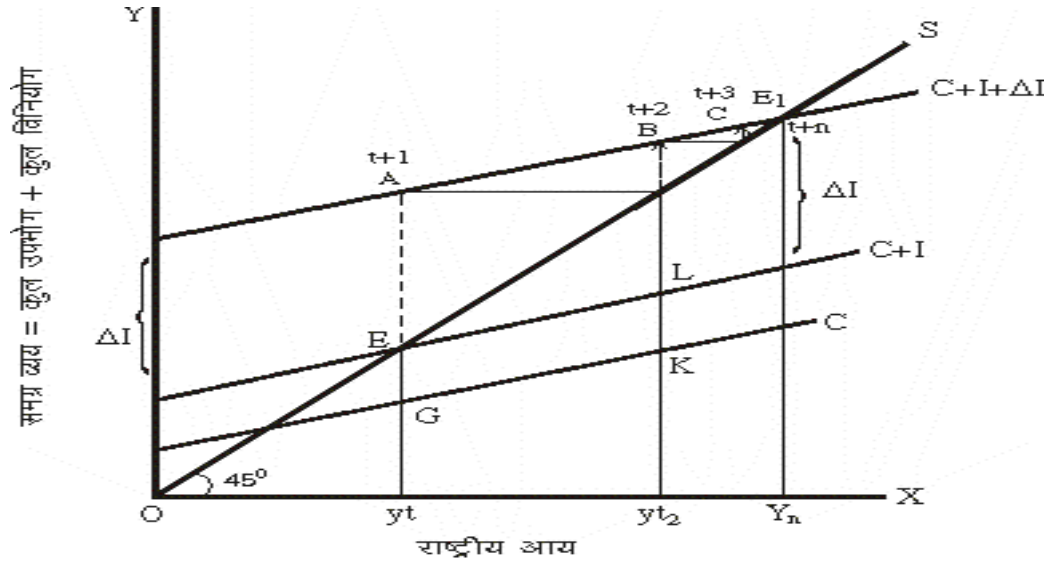


समष्टि तत्वों जैसे कुल उपभोग, कुल विनियोग इत्यादि में परिवर्तन होते रहते हैं, परिणामतः वह कभी स्थिर नहीं रहती। अर्थव्यवस्था में इन परिवर्तनों के कारण नये संतुलन बिन्दु स्थापित हो रहते हैं। कभी एक सतह पर तो कभी दूसरे सतह पर संतुलन स्थापित होता रहता है। तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक इन्हीं संतुलनों का तुलनात्मक अध्ययन करती है जिसे चित्र 1.2 में दिखाया गया है। चित्र 1.2 में प्रारम्भिक संतुलन की दशा बिन्दु E पर है, जहाँ OY प्रारम्भिक या वास्तविक संतुलन आय है समष्टि तत्व विनियोग में वृद्धि ΔI के बराबर होती है जिसके कारण अब अर्थव्यवस्था नयी संतुलन की स्थिति बिन्दु E_1 पर पहुँच जाती है। तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक केवल बिन्दु E तथा E_2 की तुलना करता है अर्थात् बताता है कि आय Y से बढ़कर (ΔY) Y_1 हो जाती है। परन्तु इस रीति से यह जानकारी प्राप्त नहीं होती किस समायोजन की प्रक्रिया द्वारा अर्थव्यवस्था नयी संतुलन स्थिति बिन्दु E_2 पर पहुँचती है। आप यहाँ पर ध्यान दें कि आय में परिवर्तन (ΔY) विनियोग में परिवर्तन (ΔI) पर निर्भर करता है अर्थात् विनियोग में वृद्धि (ΔI) आय में वृद्धि लाता है जिसे गुणांक कहते हैं।

(3) समष्टि प्रावैगिक (Macro Dynamics) - अभी तक आप ने देखा कि समष्टि स्थैतिक केवल साम्य की स्थिति एवं तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक साम्य की स्थिति में परिवर्तन की तुलना का अध्ययन करते हैं। यह दोनों समायोजन की प्रक्रिया (process of adjustment) का अध्ययन नहीं करते हैं। समष्टि प्रावैगिक समष्टि चरों (macro variables) तथा समूहों (aggregates) में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समायोजन की प्रक्रियाओं

(process of adjustment) की व्याख्या करती है। यह 'कारण' और 'परिणाम' का अध्ययन करती है। यह योगों (aggregates) में निरंतर परिवर्तनों, किसी प्रारम्भिक हलचल के परिणामस्वरूप उत्पन्न कारण एवं परिणाम की घटनाओं के क्रम तथा समष्टि चरों और यौगिक सम्बन्धों के समय-रास्तो (time-paths) का विश्लेषण करती है। इस प्रकार समष्टि प्रावैगिक रीति संपूर्ण प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में आए हलचल एवं परिवर्तनों के कारण एवं परिणाम का अध्ययन करता है।

समष्टि प्रावैगिक रीति का विकास रोबर्टसन (D.H. Robertson), फ्रिश (R.Frisch), सेम्युलसन (Samuelson), केलेकी (M. Kalecki), टिनवर्जन (J.Tinbergen), हेरोड (R.F.Harrod) तथा हिक्स (J.R.Hicks) इत्यादि विख्यात अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया है।



चित्र - 1.3

समष्टि प्रावैगिक को चित्र 1.3 से स्पष्ट किया जा सकता है। स्थैतिकी (Statics) दृष्टिकोण की व्याख्या करते समय आपने देखा कि संस्थिति आय का निर्धारण समग्र माँग तथा समग्र पूर्ति के द्वारा होता है। दिये गये चित्र 1.3 में t अवधि में राष्ट्रीय आय का संस्थिति-स्तर OY_t है जो कि समग्र माँग (C+I) तथा समता रेखा OS के द्वारा निर्धारित है। बिन्दु E प्रारम्भिक संस्थिति या साम्य की स्थिति को बताता है, इस संस्थिति में आय का स्तर OY_t है और उपभोग व्यय Y_tG है तथा विनियोग व्यय I (या EG या ab) है मान लीजिए विनियोग में वृद्धि (ΔI) के कारण कुल व्यय रेखा या समग्र माँग (C+I+ ΔI) हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप समग्र माँग रेखा विवर्तित होकर ऊपर उठ जायेगी जिसके फलस्वरूप संस्थिति की नयी स्थिति प्राप्त होगी तथा आय का स्तर ऊपर उठेगा। नयी संस्थिति की स्थिति E_1 पर प्राप्त होगी तथा आय स्तर वृद्ध है। आप जानते हैं कि समष्टि स्थैतिक में इस बात पर विचार नहीं करते हैं कि किस प्रकार अर्थव्यवस्था बिन्दु E को छोड़कर बिन्दु E_1 को प्राप्त करती है। परन्तु प्रावैगिक विश्लेषण में हम उस रास्ते (पथ) का पता लगाते हैं जिससे होकर अर्थव्यवस्था नयी साम्य बिन्दु E_1 को प्राप्त किया। इस पथ को रेखाचित्र में तीर के निशान के द्वारा प्रदर्शित किया है। समग्र माँग के दिये गये स्तर (C+I) के आधार पर t अवधि में आय (oy_t) है। विनियोग में वृद्धि (ΔI) के फलस्वरूप $t+1$ अवधि में आय में वृद्धि

होगी। $t+1$ की अवधि में आय की यह वृद्धि उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि लायेगा जिससे वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होगी परिणामस्वरूप $t+2$ अवधि में पुनः आय में वृद्धि लायेगी। $t+2$ में आय की यह अतिरिक्त वृद्धि वस्तुओं की माँग में और अधिक वृद्धि लायेगी फलस्वरूप विनियोग में वृद्धि होगी। अवधि $t+2$ में भी विनियोग अधिक रहता है बचत से कुल विनियोग $= BK=BL+LK=\Delta I+I]$, तथा कुल बचत $= PK$ अतः विनियोग का (बचत के ऊपर) आधिपत्य $= BK-PK=BP$, इस विनियोग का आधिक्य BP के कारण अवधि $t+3$ में आय में वृद्धि होगी जो बढ़कर O_{yn} हो जायेगी। इस प्रकार अन्त में अर्थव्यवस्था E_1 पर नयी साम्य की स्थिति में पहुँच जाती है। इस स्थिति में कुल विनियोग तथा कुल बचत में अन्तर समाप्त हो जाता है, अर्थात् वे दोनों (विनियोग और बचत) बराबर हो जाते हैं। इस प्रकार प्रावैगिक विश्लेषण यह बता रहा है कि अर्थव्यवस्था AP, PB, BD तथा DC के पथ होते हुए नयी ऊँची साम्य स्थिति E_1 पर पहुँची जहाँ आय OY_n है। ध्यान दें- चित्र 1.3 में EG विनियोग (I) को भी बताती है क्योंकि यह $C+I$ रेखा और C रेखा के बीच की दूरी है। दूसरे शब्दों में बिन्दु E पर विनियोग (I) और बचत बराबर है इसलिए आय OY_t पर अर्थव्यवस्था बिन्दु E पर संस्थिति या साम्य की स्थिति में है।

1.10 समष्टि अर्थशास्त्र की विशेषताएँ

समष्टि अर्थशास्त्र की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

- 1. समग्र इकाइयाँ-** समष्टि अर्थशास्त्र में समग्र इकाइयों का अध्ययन करते हैं। कुछ महत्वपूर्ण समग्र इकाइयाँ हैं- राष्ट्रीय बचत और विनियोग, सकल राष्ट्रीय उत्पाद, राष्ट्रीय आय, कुल रोगार, समग्र माँग एवं समग्र पूर्ति आदि।
- 2. संपूर्ण अर्थव्यवस्था-** समष्टि अर्थशास्त्र में संपूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समष्टि नीतियों एवं इसके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।
- 3. तुलनात्मक अध्ययन-** समष्टि अर्थशास्त्र किसी विषय का अध्ययन तुलनात्मक अर्थ में करता है। उदाहरणार्थ यह दो समयावधियों के भीतर राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग एवं कुल रोजगार आदि।
- 4. आय का सिद्धान्त-** समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आय के निर्धारण एवं इसे प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन किया जाता है। इसलिए इसे आय सिद्धान्त भी कहते हैं। आय सिद्धान्त को रोजगार का सिद्धान्त भी कहते हैं क्योंकि श्रम को रोजगार पर लगाने से ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है इसलिए आय के निर्धारक तत्व ही किसी देश में पूर्ण रोजगार को निर्धारित करते हैं।
- 5. व्यष्टि अर्थशास्त्र का पूरक-** समष्टि अर्थशास्त्र व्यष्टि विश्लेषण द्वारा निकाले गये निष्कर्षों की सत्यता की जाँच करता है इसलिए समष्टि अर्थशास्त्र को व्यष्टि अर्थशास्त्र का पूरक मानते हैं।
- 6. समष्टि उपकरण -** अर्थव्यवस्था को संतुलन में रखने एवं विकास से सम्बन्धित विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समष्टि उपकरणों (मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, आय नीति एवं विदेशी विनिमय नीति) का प्रयोग किया जाता है।

1.11 समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व एवं आवश्यकता

जैसा कि आप जानते हैं कि व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण पद्धति है परन्तु व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र संपूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन नहीं करती है यह अलग-अलग इकाई का अध्ययन करती है। अगर आपको संपूर्ण अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करना हो तो समष्टि अर्थशास्त्र का ही सहारा लेना पड़ेगा। आप सोच रहे होंगे कि व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र से प्राप्त विभिन्न इकाइयों के परिणाम को जोड़कर अर्थशास्त्र से प्राप्त विभिन्न इकाइयों के परिणाम को जोड़कर संपूर्ण अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तो आप गलत सोच रहे हैं, क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि जो सूक्ष्म स्तर पर सही हो वह समष्टि स्तर पर भी सही होगा। निम्नलिखित विवरण समष्टि अर्थशास्त्र के महत्व, आवश्यकता एवं इसके पृथक से अध्ययन करने को स्पष्ट करते हैं-

1. आर्थिक विकास व्यष्टि अर्थशास्त्र उस अर्थव्यवस्था में लागू होता है जो पूर्ण रोजगार प्राप्त कर ली हो। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसी अर्थव्यवस्था काल्पनिक ही है। कीन्स ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि 'पूर्ण रोजगार की कल्पना करना कठिनाइयों का सामना करने से मुख मोड़ना होगा' कुछ ऐसी आर्थिक समस्याएं हैं जिनका अध्ययन व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत संभव नहीं है जैसे-राष्ट्रीय आय तथा रोजगार सिद्धांत, सामान्य कीमत-स्तर आदि। इन सबके अध्ययन के लिए समष्टि अर्थशास्त्र की आवश्यकता होती है।

2. आर्थिक नीतियों का निर्माण- सरकार की आर्थिक नीतियों का सम्बन्ध प्रायः व्यक्तियों से न होकर व्यक्तियों के समूहों तथा योगों से होता है। यद्यपि समय-समय पर सरकार पृथक-पृथक इकाइयों (जैसे विशिष्ट फर्म या विशिष्ट उद्योग आदि) पर भी ध्यान देती है परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य समष्टि स्तर पर आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण करना होता जिसके लिए मौद्रिक नीति, आय का समान वितरण, आयात-निर्यात नीति, वित्तीय नीति एवं रोजगार नीति आदि का अध्ययन करती है। यह सब समष्टि अर्थशास्त्र की विषय वस्तु है।

3. मौद्रिक समस्याओं का विश्लेषण- मुद्रा के मूल्य में होने वाले उच्चावचन (अर्थात् मुद्रा प्रसार व मुद्रा संकुचन) अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इन सबको नियंत्रण करने के लिए सरकार मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति एवं विनिमय नीति का प्रयोग करती है जो समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं।

4. व्यापक अर्थशास्त्र विरोधाभासी - संरचना का धोखा (fallacy of composition) के कारण भी समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। संरचना का धोखा या समष्टि अर्थशास्त्र विरोधाभासी का आशय उन धारणाओं से है जो किसी एक व्यक्ति के लिए तो सही हो परन्तु उनका प्रयोग अर्थव्यवस्था के लिए किया जाय तो गलत सिद्ध हो जैसे बचत एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से लाभदायक है परन्तु सभी लोग एक साथ द्राव्यिक बचत करने लग जायें तो वह संपूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से हानिकारक होगी।

1.12 समष्टि अर्थशास्त्र एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर एवं पारस्परिक निर्भरता

वास्तव में सूक्ष्म या व्यष्टि अर्थशास्त्र तथा समष्टि अर्थशास्त्र के बीच एक निश्चित रेखा खिंचना कठिन है क्योंकि यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। समष्टि अर्थशास्त्र और व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की दो अलग-अलग पद्धतियाँ हैं इसलिए इन दोनों में अन्तर दिखाया गया है :-

सारणी 1.1 समष्टि अर्थशास्त्र एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर

क्रम सं.	अन्तर का आधार	समष्टि अर्थशास्त्र	व्यष्टि अर्थशास्त्र
1	अध्ययन	समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जो कि संपूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन करती है। यह कुल अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित होती है जिसमें समग्र योगों का अध्ययन किया जाता है।	व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जो कि विशिष्ट आर्थिक इकाइयों तथा अर्थव्यवस्था के छोटे भागों का उनके व्यवहार तथा पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।
2	क्षेत्र	इसका क्षेत्र व्यापक होता है। इसमें संपूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया जाता है जैसे राष्ट्रीय आय, कुल रोजगार आदि	इसका क्षेत्र सीमान्त विश्लेषण पर आधारित नियमों तक सीमित होता है।
3	संकेत	यह कुल विनियोग, कुल व्यय, राष्ट्रीय आय, रोजगार एवं कुल उपभोग की ओर संकेत करता है	यह विशिष्ट फर्मों, विशिष्ट उपभोक्ताओं, विशिष्ट वस्तुओं या विशिष्ट साधनों की कीमतों की ओर संकेत करता है।
4	संबन्ध	यह आय विश्लेषण से सम्बन्धित है	यह कीमत विश्लेषण से सम्बन्धित है।
5	प्रकृति	यह विश्लेषण बहुत जटिल है	यह विश्लेषण सरल है
6	सिद्धान्त	समष्टि अर्थशास्त्र में यह माना जाता है कि अर्थव्यवस्था में अपूर्ण रोजगार एक सामान्य स्थिति है इसका क्षेत्र साधनों के पूर्ण उपयोग, राष्ट्रीय आय एवं रोजगार स्तर से सम्बन्धित है। इसलिए इसे आय एवं रोजगार का सिद्धान्त भी कहा जाता है।	व्यष्टि अर्थशास्त्र में पूर्ण रोजगार की मान्यता के आधार पर साधनों के बंटवारे, उत्पादन साधनों की कीमत, वस्तु की कीमत, उत्पादन का सिद्धान्त आदि समस्याओं का अध्ययन सीमान्त विश्लेषण के आधार पर किया जाता है। इसी कारण व्यष्टि अर्थशास्त्र को कीमत सिद्धान्त भी कहा जाता है।
7	परिवर्तन	उसमें आर्थिक इकाइयों कम परिवर्तनशील होती है। समय के साथ सामूहिक आर्थिक चर-मूल्यों में कम परिवर्तन होता है।	विशिष्ट आर्थिक इकाइयों अधिक परिवर्तनशील होती है। समय के साथ व्यक्तिगत आर्थिक चर-मूल्यों में अधिक परिवर्तन होता है।

अभी आपने व्यक्ति एवं समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर का अध्ययन किया परन्तु ये दोनों आर्थिक विश्लेषण अलग-अलग होने के बावजूद इनमें परस्पर सम्बन्ध है। ये एक दूसरे के पूरक है। इनके परस्पर सम्बन्धित होने की बात तो इसी से सपष्ट हो जाती है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र तो अर्थव्यवस्था की विभिन्न इकाइयों का अलग-अलग अध्ययन है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र उन अलग-अलग इकाइयों के मिश्रण से निर्मित संपूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन है। इसे हम उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं :-

1. सबसे पहले हम व्यष्टि की समस्या को लेते हैं। माना कि आपको किसी फर्म में मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी का अध्ययन करना है। यह समस्या व्यष्टि की है। पर एक फर्म में निर्धारित मजदूरी, उस उद्योग की अन्य

फर्मों द्वारा निर्धारित मजदूरी द्वारा प्रभावित होगी और उस उद्योग द्वारा निर्धारित मजदूरी अर्थव्यवस्था के अन्य उद्योगों द्वारा निर्धारित मजदूरी से प्रभावित होगी। इस प्रकार एक फर्म में दी जाने वाली मजदूरी संपूर्ण अर्थव्यवस्था में मजदूरी की माँग पर निर्भर करेगी। स्पष्ट है कि पहली समस्या (फर्म के द्वारा मजदूरी का निर्धारण) व्यष्टि की समस्या है जबकि इसका समाधान समष्टि-भावी समस्या (संपूर्ण अर्थव्यवस्था में मजदूरों की माँग) पर आधारित है। इस प्रकार आप कह सकते हैं कि व्यष्टि की समस्या का समाधान समष्टि अर्थशास्त्र में होता है।

2. अब यहाँ पर आपको यह बताया जा रहा है कि समष्टि अर्थशास्त्र विश्लेषण में व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकता क्यों होती है। संपूर्ण अर्थव्यवस्था को समझने तथा उसके सम्बन्ध में नीतियों का निर्धारण करने के लिए हम व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन करते हैं। उदाहरण के लिए जब हम संपूर्ण अर्थव्यवस्था के बारे में कोई योजना बनाना चाहते हैं तो इसके लिए व्यक्तिगत फर्मों तथा उद्योगों आदि की योजनाओं को ध्यान में रखना होगा। भारत में जब योजना आयोग पंचवर्षीय योजना का निर्माण करता है तो विभिन्न विभागों तथा संस्थाओं से व्यक्तिगत रूप में खर्च एवं विवरण का अनुमान माँगता है। अतः हम कह सकते हैं कि व्यष्टि अर्थशास्त्र समष्टि अर्थशास्त्र की आधारशिला है। जिस प्रकार व्यक्तियों के मेल से समाज बनता है उसी प्रकार फर्मों के मेल से उद्योग और उद्योगों के मेल से अर्थव्यवस्था का निर्माण होता है। अतः संपूर्ण अर्थव्यवस्था के उचित ज्ञान के लिए विभिन्न वैयक्तिक इकाइयों की जानकारी होना आवश्यक है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर होने के बावजूद भी इनमें पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

1.13 समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ

यद्यपि समष्टि आर्थिक विश्लेषण महत्वपूर्ण है तथा पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है। अनेक उपयोगिताओं के बावजूद भी समष्टि अर्थशास्त्र की कुछ सीमाएँ हैं जिनको ध्यान में रखना आवश्यक है, ये निम्नलिखित हैं-

1. समूह (या योग) की संरचना, अंगों पर ध्यान नहीं दिया जाता, समष्टि अर्थशास्त्र में समूह के आकार एवं प्रकार का अध्ययन किया जाता है न कि उनके संरचना या विभिन्न अंगों का जिससे समाज या अर्थव्यवस्था का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में आप कह सकते हैं कि समष्टि अर्थशास्त्र के आर्थिक विश्लेषण में समूह का तो अध्ययन किया जाता है पर समूह की आन्तरिक बनावट पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका सबसे हानिकारक परिणाम यह होता है कि समष्टि के आधार पर जो भविष्यवाणियाँ की जाती हैं वह निराधार व महत्वहीन हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं :-

(क) सामान्य मूल्य स्तर को ही आप लीजिए, मान लीजिए वर्ष 1911 तथा वर्ष 1912 में सामान्य मूल्य-स्तर समान है। सामान्यतः आप सामान्य मूल्य स्तर की जानकारी के लिए निर्देशांक का उपयोग करते हैं। दोनों वर्षों का निर्देशांक अगर बराबर निकला तो इसका अर्थ है कि सामान्य मूल्य-स्तर में कोई कमी या वृद्धि नहीं हुई अर्थात् मूल्य स्तर ज्यों का त्यों है। यह परिणाम गलत हो सकता है क्योंकि आपने समूह का अध्ययन करने के पश्चात् निर्णय निकाला। इस अध्ययन में समूह के आन्तरिक बनावट/संरचना/ अंग पर ध्यान नहीं दिया गया। यदि आप मूल्य स्तर के विभिन्न अंगों या अवयवों का विश्लेषण करेंगे तो यह संभव पायेंगे कि खाद्यान्न के मूल्यों में 19 प्रतिशत

की वृद्धि हुई हो और औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य में 19 प्रतिशत की कमी हुई हो। फलस्वरूप मूल्य स्तर ज्यों का त्यों रह गया है। मूल्य-स्तर तो स्थिर रहा परन्तु खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि (मूल्य-स्तर स्थिर रहने के बावजूद) गरीब तथा मजदूर वर्ग के रहन-सहन के स्तर में गिरावट आयेगी क्योंकि खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि गरीबों के बजट को प्रभावित करता है।

कीमत-स्तर भलो ही स्थिर बना रहे लेकिन सरकार को अपनी आर्थिक नीति में परिवर्तन इसको ध्यान में रखकर करना होगा। अतः यह कहना सही है कि समूह के आधार पर परिणाम या सुझाव देना तब तक उपयुक्त नहीं होगा जब तक समूह की बनावट और उसके अंगों के स्वभाव तथा आपसी संबंधों की पूर्ण जानकारी न प्राप्त कर ली जाय।

2. आर्थिक विरोधाभास (Economic Paradox)- समष्टि आर्थिक विश्लेषण के परिणाम या निष्कर्ष व्यक्ति अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आवश्यक रूप से सत्य नहीं होते हैं। इस प्रकार के अनेक विरोधाभास उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :-

(क) बचत सम्बन्धी विरोधाभास- व्यक्ति स्तर पर बचत करना लाभप्रद है पर समष्टि स्तर पर यही अभिशाप सिद्ध होता है। सभी व्यक्ति बचत करने लगे तो वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग में कमी आ जायेगी, फलस्वरूप कीन्स के अनुसार प्रभावोत्पादक माँग में कमी होगी जिसके कारण उत्पादन में तथा आय एवं रोजगार में कमी होगी। इस प्रकार आप ने देखा कि एक व्यक्ति की बचत उसके लिए तो आशीर्वाद का कार्य करती है जबकि बचत की वृद्धि समूह के लिए अभिशाप सिद्ध होती है।

(ख) बैंक से रूपयं की निकासी सम्बन्धी विरोधाभास- बैंक इस आधार पर कार्य करता है कि सभी जमाकर्ता एक साथ बैंक से रूपये की निकासी नहीं करेंगे। इसलिए इससे पता चलता है कि एक व्यक्ति के द्वारा बैंक से निकाला गया पैसा अर्थव्यवस्था एवं समाज के लिए कोई खतरा नहीं है परन्तु सभी जमाकर्ता बैंक से एक साथ रूपये की निकासी करने लगे तो बैंक बन्द हो जायेगा।

(ग) मजदूरी में कटौती तथा रोजगार सम्बन्धी विरोधाभास- प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों के अनुसार मजदूरी में कटौती रोजगार में वृद्धि लाती है परन्तु इसी को अगर समष्टि स्तर पर देखे तो इसमें विरोधाभास है जैसे कि कीन्स ने यह प्रतिपादित किया कि मजदूरी में कमी आय में कमी लायेगी। आय में कमी समग्र माँग में कमी लायेगी फलस्वरूप समग्र व्यय में कमी होगी जिससे रोजगार में कमी आयेगी।

(घ) मुद्रा परिमाण सम्बन्धी विरोधाभास- किसी व्यक्ति के पास मुद्रा की मात्रा में वृद्धि लाभकारी सिद्ध हो सकती है परन्तु समाज में कुल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि मुद्रा स्फीति को जन्म देती है जिससे पूरी अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है।

3. समूहों के माप सम्बन्धी कठिनाइयाँ- जैसा कि आप जानते हैं कि समष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण में आर्थिक विश्लेषण का आधार समूह या समग्र होता है। समग्र या समूह में शामिल विभिन्न इकाइयों का स्वभाव एवं उनके मापक इकाइयाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं जैसे गेहूँ की मापक इकाई क्विटल होती है एक कपड़े की मापक इकाई मीटर होती है। इन सबको एक साथ जोड़ने के लिए हम एक सामान्य मापदण्ड 'मुद्रा' का प्रयोग करते हैं, किन्तु मुद्रा की कीमत निरन्तर बदलती रहती है। इसलिए आर्थिक योगों की तुलना कठिन हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

- (क) समष्टि अर्थशास्त्र का उद्देश्य बताइये।
 (ख) समष्टि स्थैतिक एवं समष्टि प्रावैगिक विश्लेषण रीति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
 (ग) समष्टि अर्थशास्त्र की विषय वस्तु को स्पष्ट कीजिए।
 (घ) समष्टि स्थैतिक विश्लेषण से आप क्या समझते हैं?

2. सत्य/असत्य बताइये-

- (क) व्यष्टि अर्थशास्त्र को कीमत सिद्धांत भी कहते हैं।
 (ख) समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कुल राष्ट्रीय आय एवं रोजगार का अध्ययन किया जाता है।
 (ग) एक साम्य से दूसरे सम्य तक पहुँचने की प्रक्रिया का अध्ययन तुलनात्मक समष्टि स्थैतिकी के अन्तर्गत किया जाता है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न-

- (क) प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री नहीं हैं-
 (अ) एडम स्मिथ (ब) जे.एस.मिल (स) डेविड रिकार्डो (द) जे.एम.कीन्स
 (ख) राष्ट्रीय आय एवं रोजगार सिद्धान्त किस अर्थशास्त्र की विषय वस्तु है-
 (अ) समष्टि अर्थशास्त्र (ब) व्यष्टि अर्थशास्त्र (स) दोनों (द) कोई नहीं
 (ग) आय कौन-सा चर है-
 (अ) स्ट्राक (ब) प्रवाह (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं
 (घ) समष्टि प्रावैगिक विश्लेषण के अन्तर्गत-
 (अ) केवल साम्य अध्ययन करते हैं (ब) दो साम्यों के बीच तुलना करते हैं
 (स) साम्य के कारण और परिणाम में आए हलचल का अध्ययन करता है (द) कोई नहीं

1. एक पंक्ति तथा एक शब्द वाले प्रश्न:-

- (क) समष्टि अर्थशास्त्र किससे सम्बन्धित है?
 (ख) समष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख उपकरण बताइये।
 (ग) मौद्रिक नीति से क्या अभिप्राय है?
 (घ) क्लासिकल शब्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया था?

5. रिक्त स्थान भरिए:-

- (क) मेंक्रो शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द से हुई।
 (ख) माइक्रो शब्द का उद्गम ग्रीक भाषा के शब्द से हुआ है।
 (ग) व्यष्टि अर्थशास्त्र के जन्म का श्रेय को जाता है।
 (घ) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि अर्थव्यवस्था में की स्थिति बनी रहती है।
 (ङ) समष्टि स्थैतिकी का अध्ययन है।

1.14 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान चुके हैं कि आर्थिक अर्थव्यवस्था का अध्ययन प्रायः दो दृष्टिकोण से होता है- 1. समष्टि विश्लेषण, और 2. सूक्ष्म विश्लेषण। समष्टि विश्लेषण को समष्टि अर्थशास्त्र कहते हैं जिसके अन्तर्गत आर्थिक इकाइयों के समग्र का अध्ययन किया जाता है। सूक्ष्म विश्लेषण को व्यष्टि अर्थशास्त्र कहते हैं जिसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था की विभिन्न छोटी इकाइयों (फर्म, उद्योग, व्यक्ति आदि) से सम्बन्धित समस्याएं जैसे वस्तु के मूल्य निर्धारण की समस्या, विवेकीकरण की समस्या एवं मजदूरी निर्धारण की समस्या का अध्ययन करते हैं। समष्टि अर्थशास्त्र का उद्देश्य होता है पूर्ण रोजगार प्रदान करना, वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन, मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण रखना, वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों में स्थायित्व प्रदान करना एवं आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित करना। इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख तीन उपकरणों का प्रयोग करती है :- राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति एवं विनिमय दर नीति। इस इकाई के पढ़ने के बाद आप समष्टि अर्थशास्त्र एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर को स्पष्ट कर पायेंगे एवं इनके उद्देश्यों, उपकरणों एवं समस्याओं की व्याख्या कर सकेंगे।

1.15 शब्दावली

- **पूर्ण रोजगार:-** सामान्यतया पूर्ण रोजगार की स्थिति तब होती है जिसमें ऐसे सभी व्यक्ति जो प्रचलित मजदूरी पर काम करने को तैयार हैं और रोजगार प्राप्त कर लेते हैं। पूर्ण रोजगार से यह तात्पर्य नहीं है कि सभी प्रकार की बेरोजगारी पूर्णतया अनुपस्थित हो।
- **व्यापार संतुलन:-** व्यापार संतुलन निर्यातित और आयातित वस्तुओं तथा सेवाओं का अन्तर होता है। व्यापार संतुलन में विदेशी व्यापार की दृश्य मर्दे ही शामिल होती है। व्यापार संतुलन में संतुलन से अभिप्राय आयात-निर्यात के अन्तर तथा अतिरेक से है क्योंकि कोई भी देश सदा अपने आयात तथा निर्यात बराबर नहीं रख पाता है।
- **भुगतान संतुलन:-** किसी देश का भुगतान संतुलन उसके किसी एक वर्ष में किए गये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की प्राप्तियों और भुगतानों का व्यवस्थित रिकार्ड होता है। भुगतान संतुलन में दृश्य एवं अदृश्य दोनों प्रकार के मर्दों को शामिल किया जाता है। व्यापार संतुलन भुगतान संतुलन का एक प्रमुख अंग होता है, जो आयात एवं निर्यात के मूल्य के अन्तर को दर्शाता है। भुगतान संतुलन में संतुलन का अर्थ समानता से लिया जाता है।
- **मुद्रा स्फीति :-** मुद्रास्फीति वह स्थिति है जिसमें वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतें बढ़ती है तथा मुद्रा का मूल्य गिरता है।
- **अवस्फीति :-** अवस्फीति को मुद्रा संकुचन भी कहते हैं। जब उत्पादन मात्रा की तुलना में मौद्रिक आय (अर्थात् माँग) कम रहती है तो अवस्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है।
- **विस्फीति:-** मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा अपनाये गये उपाय का परिणाम होती है। अवस्फीति तथा विस्फीति दोनों में कीमतें गिरती हैं परन्तु अवस्फीति में कीमतों में गिरावट के साथ-साथ

उत्पादन मात्रा तथा रोजगार के स्तर में गिरावट होती है जबकि विस्फीति में भी कीमतें गिरती हैं परन्तु रोजगार एवं उत्पादन के स्तर में कोई गिरावट नहीं होती है।

- **संस्फीति** - मुद्रा संस्फीति को प्रत्यवस्फीति भी कहते हैं। अवस्फीति या मुद्रा संकुचन के प्रभावों को कम करने के लिए सरकार द्वारा जब नियंत्रित रूप से मुद्रा प्रसार किया जाता है तो उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं।
- **स्टैगफ्लेशन** - स्टैगफ्लेशन अर्थव्यवस्था की गतिहीनता को बताता है जिसमें स्फीति दर एवं बेरोजगारी दर दोनों दरें ऊँची होती है।

1.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) समष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

- i. वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन,
- ii. पूर्ण रोजगार प्रदान करना,
- iii. तीव्र आर्थिक विकास को सुनिश्चित करना,
- iv. मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण रखना,
- v. वस्तु एवं सेवाओं की कीमतों में स्थायित्व प्रदान करना,
- vi. व्यापार चक्र को समाप्त कर आर्थिक स्थिरता प्रदान करना।

1(ख) समष्टि स्थैतिक साम्य का अध्ययन यह साम्य के समायोजन की प्रक्रिया का अध्ययन नहीं करती जबकि समष्टि प्रावैगिक विश्लेषण साम्य के विश्लेषण के साथ यह तुलना एवं साम्य के समायोजन की प्रक्रिया का अध्ययन करती है। यह कारण एवं परिणाम का अध्ययन करती है। समष्टि प्रावैगिक रीति सम्पूर्ण प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में आये हलचल एवं परिवर्तनों के कारण एवं परिणाम का अध्ययन करती है।

1(ग) समष्टि अर्थशास्त्र के विषय वस्तु के अन्तर्गत निम्नलिखित का अध्ययन किया जाता है-

1. राष्ट्रीय आय का सिद्धान्त; 2. रोजगार का सिद्धान्त; 3. मुद्रा का सिद्धान्त;
4. सामान्य कीमत स्तर का सिद्धान्त; 5. आर्थिक समृद्धि एवं विकास का सिद्धान्त;
6. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त; और 7. वितरण का समग्र सिद्धान्त।

1. (घ) समष्टि स्थैतिकी साम्य का अध्ययन है। विभिन्न यौगिक सम्बन्ध सन्तुलन की अवस्था में कैसे पहुँची, इसका अध्ययन नहीं करता है अर्थात् यह समायोजन की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं करता है। यह तो मात्र यौगिक सम्बन्धों के संतुलन तथा स्थिर चित्रों का अध्ययन करता है।

2. (क) सत्य, (ख) सत्य, (ग) असत्या।

3. (क) द, (ख) अ, (ग) ब, (घ) सा।

4. (क) समष्टि अर्थशास्त्र विस्तृत आर्थिक समग्रों के बीच सम्बन्धों के अध्ययन से सम्बन्धित है।

(ख) समष्टि अर्थशास्त्र के प्रमुख उपकरण निम्नलिखित हैं- राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति एवं विनिमय दर

(ग) मौद्रिक नीति से अभिप्राय केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति से है। (घ) कार्ल मार्क्स

5. (क) Makro (ख) Mikro (ग) एडम स्मिथ (घ) पूर्ण रोजगार (ङ) साम्य

1.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- सिंघई, जी.सी., मिश्रा, जे.पी. (1910), “अर्थशास्त्र”, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा ।
- सिन्हा, बी.सी. (1910-11), “अर्थशास्त्र”, एस.बी.डी. पब्लिशिंग हाउस आगरा ।
- जैन, के.पी., गुप्ता, के.एल. (1906), “अर्थशास्त्र- मॅक्रो अर्थशास्त्र, मुद्रा बैंकिंग एवं राजस्व”, नवयुग साहित्य सदन, आगरा ।
- लाल, एस.एन. (1910), “अर्थशास्त्र-2”, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद ।

1.18 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Kamerschen, Mckenzie and Nardeneli (1989), "Economics", Houghton Mifflin Company, New Jersey
- शर्मा, रामरतन (1907), “लोक अर्थशास्त्र”, रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा ।
- सेठी, टी.टी. (1907-08), “मौद्रिक अर्थशास्त्र”, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा ।

1.18 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समष्टि अर्थशास्त्र का उद्देश्य एवं उपकरण की चर्चा कीजिए।
2. समष्टि अर्थशास्त्र के विकास की व्याख्या कीजिए।
3. समष्टि प्रावैगिक की व्याख्या कीजिए।
4. समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व एवं आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।

इकाई 2: राष्ट्रीय आय अवधारणा एवं संरचना

इकाई की रूपरेखा

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा
- 2.4 राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित मूल अवधारणाएँ
- 2.5 राष्ट्रीय आय की अवधारणा
- 2.6 राष्ट्रीय आय की संरचना
- 2.7 राष्ट्रीय आय के निर्धारक तत्व
- 2.8 राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय कल्याण
- 2.9 राष्ट्रीय आय तथा समानिकाएँ
- 2.10 अभ्यास प्रश्न
- 2.11 सारांश
- 2.12 शब्दावली
- 2.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.16 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

परिचय से सम्बन्धित यह दूसरी इकाई है। इससे पहले की इकाई में आप समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति, उद्देश्य और विकास के बारे में ज्ञान प्राप्त किये।

प्रस्तुत इकाई में राष्ट्रीय आय की अवधारणा एवं संरचना के बारे में विस्तार से चर्चा किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप राष्ट्रीय आय एवं घरेलू आय में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे तथा राष्ट्रीय आय समानिकाओं को समझा सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि-

- राष्ट्रीय आय क्या है ?
- साधन लागत पर राष्ट्रीय आय और बाजार लागत पर राष्ट्रीय आय में क्या अन्तर है?
- राष्ट्रीय आय समानिकाएँ क्या है?
- भारत के सामान्य निवासी और भारत के गैर-निवासी में क्या अन्तर है?

2.3 राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा

राष्ट्रीय आय से तात्पर्य किसी देश में एक वर्ष के अन्तर्गत उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं के बाजार मूल्य के जोड़ से है। राष्ट्रीय आय के लिए राष्ट्रीय लाभांश एवं राष्ट्रीय उत्पाद शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रीय आय समष्टि अर्थशास्त्र का अंग है क्योंकि इसके अन्तर्गत देश की समग्र आय की माप की जाती है। अध्ययन की दृष्टि से राष्ट्रीय आय की परिभाषा को आप दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:

(क) नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की परिभाषा;

(ख) आधुनिक परिभाषा

(क) नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की परिभाषा:

इस परिभाषा के अन्तर्गत नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री जैसे मार्शल, पीगू, फीशर आदि की परिभाषाएं सम्मिलित हैं;

1) मार्शल की परिभाषा: मार्शल के अनुसार किसी देश का श्रम व पूँजी उस देश के प्राकृतिक साधनों पर कार्य करते हुए प्रति वर्ष भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं एवं सभी प्रकार की सेवाओं का एक विशुद्ध योग उत्पन्न करते हैं। यह किसी देश की वास्तविक विशुद्ध वार्षिक आय या आगम अथवा राष्ट्रीय लाभांश है।

परिभाषा की विशेषताएँ:- मार्शल के परिभाषा की निम्नलिखित विशेषता है:-

क. राष्ट्रीय आय क गणना प्रायः वार्षिक आधार पर की जाती है।

- ख. कुल उत्पत्ति में से मशीनों की टूट-फूट तथा घिसाई का व्यय निकाल दिया जाता है।
- ग. विदेशी विनियोग से प्राप्त आय को जोड़ दिया जाता है।
- घ. मार्शल ने राष्ट्रीय आय की गणना कुल उत्पादन के आधार पर न करके शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन के आधार पर की है।
- ङ. मार्शल के अनुसार किसी देश की एक वर्ष का कुल उत्पादन ही उस देश की उस वर्ष का कुल आय है।
- च. वे सभी सेवाएं जो कोई व्यक्ति बिना किसी पारिश्रमिक के अपने परिवार के सदस्यों के लिए करता है, राष्ट्रीय आय/लाभांश में नहीं जोड़ी जानी चाहिए।
- छ. कोई भी व्यक्ति सार्वजनिक सम्पत्ति से जो लाभ प्राप्त करता है उसे राष्ट्रीय आय में नहीं सम्मिलित किया जाना चाहिए।
- संक्षेप में:** शुद्ध राष्ट्रीय आय = वस्तुओं तथा सेवाओं का राष्ट्रीय उत्पादन + विदेशों में विनियोग से प्राप्त शुद्ध आय - कच्ची सामग्री की लागत - हास

मार्शल की परिभाषा की आलोचना:

यह परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से संतोषजनक प्रतीत होती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसमें कुछ कमियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं:

- क. वस्तुओं एवं सेवाओं के कुल उत्पादन की सांख्यिकीय माप कठिन है।
- ख. ऐसी वस्तुएं जिनका बाजार में विनिमय नहीं होता है जैसे कृषि फसल का एक भाग उत्पादक अपने परिवार के प्रयोग के लिए रख लेता है। ऐसी वस्तुओं का द्राव्यिक मूल्य ज्ञात नहीं किया जा सकता है, अतः राष्ट्रीय आय की सही गणना नहीं की जा सकती।
- ग. दोहरी गणना की संभावना रहती है। उदाहरणार्थ, कृषि उत्पादन में गन्ने के मूल्य को शामिल किया जा सकता है तथा औद्योगिक उत्पादन में चीनी और गुड़ के मूल्य को भी शामिल किया जा सकता है।

2.) पीगू की परिभाषा: पीगू के अनुसार, "राष्ट्रीय लाभांश समाज की वस्तुगत आय का, जिसमें निसंदेह विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल होती है, वह भाग है जो कि द्रव्य में मापा जा सकता है।" पीगू ने अपनी परिभाषा में राष्ट्रीय आय की गणना में केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित किया है, जिनको मुद्रा के मापदण्ड द्वारा मापा जा सके।

संक्षेप में- राष्ट्रीय आय = मौद्रिक आय + विदेशों में विनियोग से प्राप्त आय

पीगू की परिभाषा की विशेषताएँ - पीगू की राष्ट्रीय आय की परिभाषा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- क. केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं की राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जायेगा जिसको मुद्रा के माध्यम से मापा जा सकता है।
- ख. राष्ट्रीय आय की गणना करते समय हर सम्भव प्रयास किया जाय कि दोहरी गणना न हो।

ग. देश के उत्पादन के अतिरिक्त देश के नागरिकों द्वारा विदेशों में किये गये विनियोगों से प्राप्त आय का समावेश भी राष्ट्रीय आय में किया जाना चाहिए।

पीगू की परिभाषा की आलोचनाएँ:-

क. यह परिभाषा मुद्रा अर्थव्यवस्था में लागू होती है। वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था में नहीं लागू होती है।

ख. इसमें उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं को लिया गया जो मुद्रा के माध्यम से मापी जा सकती है। यह सिद्धान्ततः सही नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रीय लाभांश में उन सभी वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित करना चाहिए जिससे राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि हो।

ग. पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय/लाभांश में केवल उन्हीं वस्तुओं को शामिल किया जाता है जिनका द्रव्य द्वारा विनिमय किया जाता है परन्तु इसमें कठिनाईयाँ उपस्थित होती है जैसे-

(अ) यदि कोई किसान अपनी पैदावार में से अपने परिवार की आवश्यकता के लिए कुछ अंश निकाल लेता है तो इसे राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नहीं किया जायेगा, परन्तु यदि वही किसान अपनी सम्पूर्ण पैदावार बाजार में पहले बेच दे, पुनः उसमें से अपनी आवश्यकता अनुसार खरीद ले तो उसकी पूर्ण उपज राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होगी। इस प्रकार उत्पादन दोनों अवस्थाओं में एक ही रहने पर भी पहली अवस्था में राष्ट्रीय आय कम तथा दूसरी में अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(ब) एक सेविका की सेवाएँ राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जाएगी क्योंकि उसकी सेवा के बदले में द्रव्य दिया जाता है, परन्तु यदि मालिक अपनी सेविका से विवाह कर लेता है तो उसकी सेवाएँ राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं की जायेगी।

(स) यदि कोई औरत पैसा लेकर खाना बनाती है तो उसकी सेवा राष्ट्रीय लाभांश में जोड़ी जायेगी पर वही औरत अपने घर में बिना पैसे के खाना बनाती है तो इसे राष्ट्रीय लाभांश/आय में नहीं रखा जायेगा।

3) फिशर की परिभाषा: मार्शल तथा पीगू दोनों ने राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए उत्पादन को आधार बनाया, पर फिशर ने राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए उपभोग को आधार माना। प्रो. इरविंग फिशर के अनुसार, “वास्तविक राष्ट्रीय आय, एक वर्ष में उत्पादित शुद्ध उपज का वह अंश है जिसका उस वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उपभोग किया जाता है।” इसे स्पष्ट करते हुए फिशर ने अन्यत्र राष्ट्रीय आय की परिभाषा इस प्रकार दी है, “राष्ट्रीय लाभांश आय में वहीं सेवायें सम्मिलित की जाती हैं जो कि उपभोक्ताओं को अपने भौतिक अथवा मानवीय वातावरण द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार एक पियानों अथवा ओवरकोट जो कि मेरे लिए इस वर्ष बनाया गया है, इस वर्ष की आय का भाग नहीं है बल्कि पूँजी में वृद्धि है। केवल वहीं सेवायें जो कि इनके प्रयोग से इस वर्ष मुझे मिलेगी आय होगी।” इस परिभाषा से स्पष्ट है कि किसी एक वर्ष में उत्पादित वस्तु एवं सेवाओं के उत्पादन का वही भाग राष्ट्रीय आय में शामिल होता है जिसका उपभोग किया जाता है।

फिशर की परिभाषा की विशेषताएँ:- फिशर की राष्ट्रीय आय की परिभाषा से सम्बन्धित विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. फिशर ने उपभोग के आधार पर राष्ट्रीय आय को परिभाषित किया है जबकि मार्शल तथा पीगू ने 'उत्पादन' के आधार पर राष्ट्रीय आय को परिभाषित किया है।
2. टिकाऊ उपभोग वस्तुओं के जीवन काल का अनुमान लगाना कठिन है। उदाहरण के लिए फिशर के ओवरकोट को ही लें। यदि इसका मूल्य 1000रु. है और इसका जीवन 10 वर्ष माने तो रु. 100 एक वर्ष के राष्ट्रीय आय में शामिल होगा जबकि मार्शल और पीगू के अनुसार पूरे रु. 1000 ही उस वर्ष के राष्ट्रीय आय में शामिल होंगे और सम्भव है ओवरकोट 10 वर्ष से ज्यादा या कम चले।
3. वस्तु का हस्तान्तरण हो सकता है। वस्तु हस्तान्तरण के फलस्वरूप स्वामित्व व मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में वस्तु से प्राप्त उपभोग या उपयोगिता का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

2.4 राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित मूल अवधारणाएँ

राष्ट्रीय आय का एक देश केवल सामान्य निवासियों की आय का कुल जोड़ है। आगे अध्ययन करने से पहले आपको समझना होगा कि सामान्य निवासी किसे कहते हैं।

सामान्य निवासी: सामान्य निवासी की अवधारणा को समझ लेना चाहिए। एक सामान्य निवासी वह व्यक्ति अथवा संस्था होता है जो साधारणतया एक देश में निवास करता है और जिसकी आर्थिक रुचि उसी देश में केन्द्रित होती है। सामान्य निवासी बनने के लिए निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं:

1. सामान्य निवासी के अन्तर्गत व्यक्ति तथा संस्था दोनों ही आते हैं।
2. व्यक्ति देश में एक वर्ष या इससे अधिक समय के लिए रहा हो।
3. व्यक्ति का आर्थिक रुचि का होना जरूरी है।
4. एक देश का सामान्य निवासी उस देश का नागरिक हो यह जरूरी नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई भारतीय एक वर्ष से अधिक समय से न्यूजीलैण्ड में निवास कर रहा है और इसकी आर्थिक रुचि का केन्द्र भी वहीं देश है तो वह न्यूजीलैण्ड का सामान्य निवासी माना जायेगा, भले ही वह भारत का नागरिक बना हुआ है।
5. भारत में स्थित संगठनों जैसे डब्ल्यू.एच.ओ. तथा आई.एम.एफ. को भारत का सामान्य निवासी नहीं माना जायेगा। यदि इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में कोई भारतीय काम करता है तो उसे भारत का सामान्य निवासी माना जायेगा।
6. मनोरंजन, अवकाश बिताने, चिकित्सा, अध्ययन, कांफ्रेंस, खेलकूद आदि के लिए देश में आये व्यक्ति या विदेशी सैलानी साधारणतया ये किसी देश की घरेलू सीमा के अन्दर एक वर्ष से कम की अवधि के लिए ठहरते हैं तथा इनकी रुचि आर्थिक नहीं होती है। इसलिए ये सामान्य निवासी नहीं हैं।

भारत के सामान्य निवासी तथा भारत के गैर निवासी को पूरी तरह से समझने के लिए इनके बीच के अन्तर को स्पष्ट करना जरूरी है। इन दोनों के बीच अन्तर निम्नलिखित है-

भारत के सामान्य निवासी (Normal Residents of India)	भारत के गैर निवासी (Non-Residents of India)
1. अमेरिका में भारत का राजदूत	1. भारत में अमेरिका का राजदूत
2. भारत में स्थित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं/संगठनों में काम करने वाले भारतीय	2. भारत में स्थित अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों (W.H.O., I.M.F) में काम करने वाले विदेशी
3. भारत में एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए रह रहे विदेशी नागरिक (अध्ययन तथा चिकित्सा के लिए आए व्यक्तियों के अतिरिक्त)	3. एक वर्ष से कम अवधि के लिए भारत में काम कर रहे विदेशी तकनीकी विशेषज्ञ
4. भारत में स्थित विदेशी दूतावासों में काम करने वाले भारतीय	4. अमेरिका में स्थित भारतीय दूतावास में काम करने वाले विदेशी।

आपने राष्ट्रीय आय की अवधारणा को समझने के लिए सामान्य निवासी की अवधारणा को समझा परन्तु आपको जानना जरूरी है कि राष्ट्रीय आय तब प्राप्त होती है जब घरेलू आय में विदेशी से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़ दिया जाता है।

घरेलू आय:- एक लेखा वर्ष में एक देश की घरेलू सीमा के अन्दर सृजित कारक का साधन आय को घरेलू आय अथवा घरेलू उत्पाद कहा जाता है। अतः अब हमें घरेलू सीमा की अवधारणा को समझ लेना चाहिए।

घरेलू सीमा की अवधारणा:- आम बोलचाल की भाषा में एक राष्ट्र की घरेलू सीमा का अर्थ देश की राजनीतिक सीमाओं के अन्दर के भू-भाग से लिया जाता है परन्तु राष्ट्रीय लेखांकन के संदर्भ में घरेलू सीमा का अर्थ एक राष्ट्र के राजनीतिक सीमाओं के बाहर के क्षेत्र का स्वामित्व नहीं है। इसका अर्थ केवल घरेलू आय को सृजित करने वाला परिचालन क्षेत्र है। उदाहरणार्थ :-

1. अमेरिका में भारतीय दूतावास, भारत की घरेलू सीमा का अंग है तथा भारत में अमेरिका का दूतावास अमेरिका की घरेलू सीमा का अंग है।
2. राजनीतिक सीमाओं का भू-भाग जिसमें देश की सामुद्रिक सीमा भी सम्मिलित है। उदाहरण के लिए भारतीय मछुआरों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जल सीमा में मछली पकड़ना आदि।
3. देश के निवासियों द्वारा विश्व के विभिन्न भागों में चलाये जाने वाले वायुयान तथा जलयान। उदाहरण के लिए जापान तथा कोरिया के बीच नियमित रूप से चलाये जाने वाले भारतीय जलयान अथवा अमेरिका व इंग्लैण्ड के बीच एयर इण्डिया द्वारा चलाये जाने वाले यात्री हवाई जहाज भी भारत के घरेलू सीमा के ही अंग है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत तीन बातों पर ध्यान दिया जाता है :-

1. एक लेखांकन वर्ष होना चाहिए

2. एक सामान्य निवासी, और
3. घरेलू सीमा

सर्वप्रथम हम घरेलू आय का अनुमान लगाते हैं, तत्पश्चात् इसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय जोड़ देते हैं, संक्षेप में, राष्ट्रीय आय = घरेलू आय+विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय।

2.5 राष्ट्रीय आय की अवधारणा

राष्ट्रीय आय की अवधारणा को समझने के लिए आपको समझना होगा कि वस्तुएँ एवं सेवाएँ कहाँ से आती हैं और कहाँ को जाती हैं। अर्थव्यवस्था में सबसे पहले वस्तुओं का उत्पादन होता है या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मूल्य में वृद्धि हुई है (प्रथम अवस्था) इसके बाद आप सोचें कि यह उत्पादन किसके द्वारा किया जाता है। यह उत्पादन उत्पत्ति के साधनों द्वारा किया जाता है। (दूसरी अवस्था) अंतिम रूप से तैयार वस्तु जिसे अंतिम वस्तु कहते हैं। उत्पादन के बाद अंतिम वस्तुएँ सेवाओं को उपभोक्ता तथा उत्पादक द्वारा खरीदा जाता है अर्थात् दोनों ही व्यय करते हैं (तीसरी अवस्था)। इस प्रकार से राष्ट्रीय आय की अवधारणा को समझने के लिए इसे तीन अवस्थाओं में बाँटा गया है-

प्रथम अवस्था:-वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन अथवा मूल्य वृद्धि के रूप में राष्ट्रीय आय एक देश की अर्थव्यवस्था के अन्दर एक वर्ष के अन्तिम सभी वस्तुओं एवं सेवाओं का बाजार मूल्य का कुल जोड़ राष्ट्रीय आय कहलाता है। निस्संदेह राष्ट्रीय आय का आंकलन एक देश की घरेलू सीमा के अन्दर उत्पादन या मूल्य वृद्धि द्वारा होता है जिसे घरेलू उत्पाद तथा घरेलू आय कहते हैं। राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए घरेलू आय में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय जोड़ दी जाती है।

द्वितीय अवस्था:-साधन या कारक आय के रूप में राष्ट्रीय आय कारक या साधन आय उसे कहते जो व्यक्तियों को जैसे भूमि का पुरस्कार लगान, मजदूर का पुरस्कार मजदूरी, पूँजी का पुरस्कार ब्याज, साहसी या उद्यमी को पुरस्कार लाभ है। कारक के रूप में राष्ट्रीय आय को हम निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं:

एक लेखा वर्ष की अवधि के दौरान एक देश की उनकी कारक सेवाओं (भूमि, श्रम, पूँजी तथा उद्यमशीलता) के बदले पुरस्कार के रूप में प्राप्त होता है। घरेलू सीमा के अन्दर साधनों द्वारा प्राप्त कुल पुरस्कार/आय को जोड़ देने पर घरेलू आय प्राप्त होती है। राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए घरेलू आय में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय जोड़ी जाती है।

तृतीय अवस्था:-आय के व्यय/विन्यास के रूप में राष्ट्रीय आय अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं को अन्तिम प्रयोगकर्ता अर्थात् उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों द्वारा खरीदा जाता है। उपभोक्ता के खरीद को व्यय या खर्च कहा जाता है तथा उत्पादक के व्यय को निवेश व्यय कहा जाता है। कुछ वस्तुएँ बिक नहीं पाती हैं क्योंकि आय का एक भाग खर्च नहीं किया जाता है जिसके कारण उत्पादकों के पास माल सूची स्टॉक को माल सूची निवेश का एक भाग माना जाता है। इसका उपभोग व्यय तथा निवेश व्यय के कुल जोड़ के रूप में अनुमान लगाया जाता है। इस

प्रकार कारक के रूप में राष्ट्रीय आय एक लेखा वर्ष की अवधि में अंतिम वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग व्यय तथा निवेश व्यय तथा विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय का कुल जोड़ राष्ट्रीय आय कहलाती है।

2.6 राष्ट्रीय आय की संरचना

राष्ट्रीय आय की संरचना का तात्पर्य राष्ट्रीय आय के विभिन्न समुच्चयों से है। राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित विभिन्न समुच्चय निम्नलिखित हैं:

1. बाजार कीमत पर :-

- (क) सकल घरेलू उत्पाद GDP_{MP}
- (ख) शुद्ध घरेलू उत्पाद NDP_{MP}
- (ग) सकल राष्ट्रीय उत्पाद GNP_{MP}
- (घ) शुद्ध राष्ट्रीय आय उत्पाद NDP_{MP}

2. कारक/साधन लागत पर:-

- (1) सकल घरेलू उत्पाद GDP_{FC}
- (2) शुद्ध घरेलू उत्पाद NDP_{FC}
- (3) सकल राष्ट्रीय उत्पाद GNP_{FC}
- (4) शुद्ध राष्ट्रीय आय उत्पाद NDP_{FC}

3. राष्ट्रीय प्रयोजन आय:-

(अ) सकल राष्ट्रीय प्रयोजन आय

(ब) शुद्ध राष्ट्रीय प्रयोजन आय

- i. निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय
- ii. निजी आय
- iii. वैयक्तिक आय
- iv. वैयक्तिक प्रयोज्य/व्यय-योग्य/स्वायत्त आय
- v. मौद्रिक तथा वास्तविक आय

इन अवधारणाओं का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है:-

1. बाजार कीमत पर:-

(क) सकल घरेलू उत्पाद:- बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद से आशय एक देश की घरेलू सीमा में एक लेखा वर्ष में उत्पादित सभी अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्य के जोड़ से है। इसमें मूल्य हास का स्थिर पूँजी के उपभोग को शामिल किया जाता है। यहाँ पर आप ध्यान दे कि एक देश की घरेलू सीमा में निवासी तथा विदेशी दोनों प्रकार के उत्पादक पाये जाते हैं। ऐसे सभी उत्पादकों द्वारा उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के बाजार मूल्य को सकल घरेलू उत्पाद के शामिल किया जाता है।

(ख) शुद्ध घरेलू उत्पाद:- बाजार कीमत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद तब प्राप्त होता है जब आप बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद में से मूल्य ह्रास या स्थिर पूँजी के उपभोग को घटा देते हैं।

$$NDP_{MP} = GDP_{MP} - DEPRICIATION \text{ (मूल्य ह्रास)}$$

(ग) सकल राष्ट्रीय उत्पाद:- बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद से आशय अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के बाजार मूल्य से है। जिसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय को शामिल किया जाता है।

$$GNP_{MP} = GDP_{MP} + \text{विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय}$$

विदेशों से प्राप्त, शुद्ध कारक आय से तात्पर्य हमारे निवासियों द्वारा शेष विश्व से प्राप्त कारक आय (लगान, ब्याज, लाभ तथा मजदूरी) तथा हमारे देश में प्राप्त गैर-निवासियों द्वारा प्राप्त कारक आय का अन्तर है।

(घ) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद:- बाजार कीमत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद तब प्राप्त होता है जब बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से मूल्य ह्रास को घटा देते हैं।

$$NNP_{MP} = GNP_{MP} - \text{मूल्यह्रास}$$

2. कारक/साधन लागत पर

(क) सकल घरेलू उत्पाद:- साधन लागत पर सकल घरेलू उत्पाद से तात्पर्य एक लेखा वर्ष में एक देश की घरेलू सीमा के अन्दर अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में लगे हुए उत्पत्ति के साधनों का प्रतिफल या सृजित कारक आय (लगान + ब्याज + लाभ + मजदूरी) के कुल जोड़ से है। यह कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद के बराबर होती है जिसे संक्षेप में, 'घरेलू आय' कहते हैं। आप जान चुके हैं कि 'उत्पाद' तथा 'आय' समरूप अवधारणाएँ हैं। अतः शुद्ध घरेलू आय त्र कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद। यदि कारक लागत शुद्ध घरेलू उत्पाद में मूल्यह्रास को सम्मिलित किया जाता है तो हमें कारक लागत पर सकल घरेलू उत्पाद प्राप्त हो जाता है। अतः

$$GDP_{FC} = NDP_{FC} + \text{मूल्यह्रास}$$

$$\text{(ख) शुद्ध घरेलू उत्पाद} = GDP_{FC} - \text{मूल्यह्रास}$$

(ग) सकल राष्ट्रीय उत्पाद:- अब तक आप जान चुके हैं कि कोई भी 'घरेलू अवधारणा राष्ट्रीय' अवधारणा बन जाती है यदि उसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय को जोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार सकल राष्ट्रीय आय एक देश में एक लेखा वर्ष में सामान्य निवासियों द्वारा अर्जित कारक आय का कुल जोड़ है जिसमें मूल्यह्रास या घिसावट व्यय सम्मिलित रहता है।

$$GNP_{FC} = NNP_{FC} + \text{मूल्यह्रास}$$

(घ) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद:- 'विदेशों' से प्राप्त शुद्ध कारक आय को कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद में जोड़ दे तो हमें कारक लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद प्राप्त कर सकते हैं। कारक लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद एक लेखा वर्ष की अंतिम वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के बदले में उनके द्वारा अर्जित कारक आय (लगान + मजदूरी + पूँजी + लाभ) का कुल जोड़ है।

$$NNP_{FC} = GNP_{FC} - \text{मूल्यह्रास, अथवा}$$

$NNP_{FC} = NDP_{FC} + \text{विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय}$

NNP_{FC} को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं।

3. राष्ट्रीय प्रयोज्य या व्यय योग्य आय:-राष्ट्रीय प्रयोज्य या व्यय योग्य या स्वायत्त आय उस आय से है जो किसी देश या देश के निवासियों को खर्च करने के लिए उपलब्ध होती है। किसी देश के निवासियों को खर्च करने के लिए उपलब्ध होती है। किसी देश की राष्ट्रीय प्रयोज्य आय उस देश की राष्ट्रीय आय, शुद्ध अप्रत्यक्ष कर तथा शेष विश्व से प्राप्त शुद्ध चालू हस्तान्तरण का जोड़ है। अर्थात्

राष्ट्रीय व्यय योग्य आय = राष्ट्रीय आय + शुद्ध अप्रत्यक्ष कर + शेष विश्व से प्राप्त शुद्ध चालू हस्तान्तरण
संक्षेप में आप कह सकते हैं कि व्यय योग्य आय व्यक्तिगत आय का वह भाग है जो प्रत्यक्ष कर देने के बाद लोगों के पास शेष रह जाता है अर्थात्

(1) व्यय योग्य आय = व्यक्तिगत आय - व्यक्तिगत प्रत्यक्ष कर (2) इस आय का मुख्य भाग तो उपभोग पर व्यय हो जाता है और शेष बचा लिया जाता है। अतः व्यय योग्य आय =अभोग+बचत।

राष्ट्रीय प्रयोज्य आय वह आय है जो किसी देश के निवासियों के सभी स्रोतों (अर्जित आय एवं विदेशों से प्राप्त होने वाले चालू हस्तान्तरण भुगतानों) से उपभोग या बचत के लिए एक वर्ष में प्राप्त होती है।

(क) सकल राष्ट्रीय प्रयोज्य आय:- सकल राष्ट्रीय प्रयोज्य आय में चालू पुनः स्थापन लागत शामिल होती है।
सकल राष्ट्रीय प्रयोज्य आय = शुद्ध राष्ट्रीय प्रयोज्य आय + चालू पुनः स्थापन (जो समस्त अर्थव्यवस्था के स्तर पर मूल्यहास है)

(ख) शुद्ध राष्ट्रीय प्रयोज्य आय:- शुद्ध राष्ट्रीय आय त्र सकल राष्ट्रीय प्रयोज्य आय-चालू पुनःस्थापन (जो समस्त अर्थव्यवस्था के स्तर पर मूल्यहास है) स्मरण रहे कि 'राष्ट्रीय प्रयोज्य आय' से अभिप्राय शुद्ध राष्ट्रीय प्रयोज्य आय से है।

4. निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पादन से प्राप्त कराके आय:- निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय को समझने के लिए निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र में अन्तर स्पष्ट करना एवं जानना जरूरी है निजी क्षेत्र के उद्यमों का स्वामित्व तथा नियंत्रण निजी व्यक्तियों के हाथ में होता है जबकि सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत सरकार के विभागीय उद्यम (जैसे रेलवे और डाक तथा तार सेवाएँ) तथा गैर-विभागीय उद्यम (जैसे एयर इण्डिया तथा इण्डियन एयरलाइन्स) शामिल होते हैं। इन उद्यमों पर सरकार का स्वामित्व एवं नियंत्रण है। शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय का वह भाग जो निजी क्षेत्र को प्राप्त होती है उसे निजी क्षेत्र द्वारा अर्जित आय कहा जाता है। निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पादन से प्राप्त कारक आय त्र कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद - सरकार की विभागीय उद्यमों की सम्पत्ति तथा उद्यमवृत्ति से प्राप्त आय - गैर विभागीय उद्यमों की बचत।

5. निजी आय: -केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के अनुसार, 'निजी आय वह आय है जो निजी क्षेत्र को सभी स्रोतों से प्राप्त होने वाली कारक आय तथा सरकार से प्राप्त वर्तमान हस्तान्तरण और शेष विश्व से प्राप्त चालू हस्तान्तरण का जोड़ है।

निजी आय = निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय + राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज + विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय + सरकार से प्राप्त वर्तमान हस्तान्तरण + शेष विश्व से प्राप्त चालू हस्तान्तरण।

यहाँ पर निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय तथा निजी आय में अन्तर स्पष्ट करना जरूरी है, जो निम्नलिखित है:

1. निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय घरेलू आय का एक भाग है अर्थात् यह एक घरेलू धारणा है जबकि निजी आय एक राष्ट्रीय धारणा है।
2. निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय शामिल नहीं होती है जबकि निजी आय में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय भी शामिल होती है।
3. निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय में केवल कारक आय ही शामिल होती है जबकि निजी आय में कारक आय के अतिरिक्त चालू हस्तान्तरण भुगतान भी शामिल होते हैं।
4. निजी क्षेत्र को शुद्ध घरेलू उत्पाद से प्राप्त कारक आय में राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज सम्मिलित नहीं होता है जबकि निजी आय में राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज सम्मिलित होता है।

6. वैयक्तिक आय या व्यक्तिगत आय:- वैयक्तिक आय से तात्पर्य उस आय से है जो किसी देश में एक वर्ष की अवधि में व्यक्तियों अथवा परिवारों द्वारा सभी स्रोतों से वास्तव में प्राप्त कारक आय तथा चालू हस्तान्तरण का जोड़ है।

वैयक्तिक आय जानने के लिए निजी आय में से निगम बचत या अवितरित लाभ और निगम कर जो परिवारों को प्राप्त नहीं होते हैं को घटा दिया जाता है जैसे-

वैयक्तिक आय = निजी आय - निगम कर - अवितरित व्यावसायिक लाभ - सामाजिक सुरक्षा अंशदान + अन्तरण भुगतान

वैयक्तिक आय की गणना हेतु राष्ट्रीय आय में से निगम कर को घटा दिया जाता है क्योंकि व्यापारिक निगमों अपने लाभ का कुछ हिस्सा निगम कर के रूप में सरकार को चुकाना पड़ता है। इस प्रकार आय का यह भाग अंशधारियों को व्यक्तिगत आय के रूप में प्राप्त नहीं होता है। दूसरा घटक अवितरित लाभ जिसे निगम के रूप में सरकार को चुकाना पड़ता है। इस प्रकार आय का यह भाग अंशधारियों की व्यक्तिगत आय के रूप में प्राप्त नहीं होता है। दूसरा घटक अवितरित लाभ जिसे निगम बचत भी कहते हैं। निगम अपनी आय का यह भाग अंशधारियों में न बाँटकर

इसे पुनः व्यवसाय में विनियोजित कर देता है, इसलिए इसे भी व्यक्तिगत आय प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय आय में से घटा देते हैं क्योंकि यह व्यक्ति को मिला ही नहीं। सामाजिक सुरक्षा हेतु जो कटौतियाँ प्रोविडेंट फण्ड व पेंशन आदि के रूप में की जाती है इनको भी व्यक्तिगत आय प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय आय में घटा दिया जाता है? क्योंकि वैयक्तिक आय इन कटौतियों से कम हो जाती है। इन सब के अतिरिक्त अन्तरण भुगतान जैसे बेरोजगारी भत्ता, पेंशन आदि को वैयक्तिक आय की गणना हेतु राष्ट्रीय आय में जोड़ दी जाती है।

7. वैयक्तिक प्रयोज्य आय: वैयक्तिक प्रयोज्य आय वह आय है जो सभी प्रकार के प्रत्यक्ष करों (आय कर एवं गृह कर) तथा सरकार के प्रशासनिक विभागों की विविध प्राप्तियाँ अथवा गृहस्थों द्वारा दिये गये शुल्क और जुर्माना के भुगतान के पश्चात् बचती है। अतएव, वैयक्तिक प्रयोज्य आय = वैयक्तिक आय - प्रत्यक्ष वैयक्तिक कर - सरकारी विभागों के शुल्क और जुर्माना।

8. मौद्रिक तथा वास्तविक आय: -राष्ट्रीय आय या घरेलू आय के दो पहलू होते हैं।

1) मौद्रिक आय का आशय एक अर्थव्यवस्था में एक लेखा वर्ष के दौरान उत्पादित अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं से होता है जिसकी कीमत की गणना का आधार चालू वर्ष की कीमत होती है। चालू वर्ष की कीमत से तात्पर्य अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं की वर्तमान कीमत से होती है।

$$\text{अतः } Y = Q \times P$$

(यहाँ, y = चालू कीमत पर राष्ट्रीय आय/मौद्रिक आय है, Q = एक लेखा वर्ष में उत्पादित अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं से है, लेखा वर्ष के दौरान उत्पादित अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं की वर्तमान कीमत से है।) यहाँ पर आप ध्यान दें कि अगर y में वृद्धि P में वृद्धि के कारण हुई है तो इसे मौद्रिक वृद्धि कहेंगे क्योंकि वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन यथास्थिर बना रहा। मात्र उनके कीमतों में वृद्धि हुई है। इस तरह की मौद्रिक वृद्धि से अर्थव्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रकार में कोई वृद्धि नहीं होती है। इससे केवल मुद्रा भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

2) वास्तविक आय: एक लेखा वर्ष में अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमत की गणना का आधार वर्तमान कीमत न होकर किसी अन्य पिछले वर्ष (जिसे आधार वर्ष कहते हैं) की कीमत पर करते हैं तो उसे वास्तविक आय कहते हैं।

$$\text{अतः } Y^1 = Q \times P^1$$

(यहाँ Y^1 = स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय/वास्तविक आय, Q = लेखा वर्ष में अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा; P^1 = आधार वर्ष के दौरान वस्तुओं तथा सेवाओं की प्रचलित कीमत।) उपरोक्त समीकरण से स्पष्ट है कि Y^1 में वृद्धि तभी होती है जब Q में वृद्धि होती है क्योंकि P^1 हमेशा स्थिर बना रहता है अर्थात् Y^1 में वृद्धि वास्तविक वृद्धि है क्योंकि ये वृद्धि वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने के कारण होती है अथवा, अर्थव्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रवाह में वृद्धि होती है। निम्न समीकरण के आधार पर वास्तविक शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद/आय ज्ञात की जाती है।

$$\text{वास्तविक शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद/आय} = \frac{\text{मौद्रिक शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद}}{\text{वर्ष का कीमत निर्देशांक}} \times 100$$

2.7 राष्ट्रीय आय के निर्धारक तत्व

राष्ट्रीय आय के निर्धारक तत्व इस प्रकार से है:-

1. **उत्पाद प्रविधि तथा प्रौद्योगिकी:-** किसी भी देश का राष्ट्रीय आय उस देश की उत्पादन प्रविधि और प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है। उत्पादन प्रविधि मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है- (1) श्रम प्रधान तकनीक या प्रविधि तथा (2) पूँजी प्रधान प्रविधि। श्रम प्रधान प्रविधि में उत्पादन शीघ्र ही प्राप्त होने लगता है जबकि पूँजी प्रधान प्रविधि में बहुत अधिक मात्रा में विनियोग की आवश्यकता पड़ती है तथा इनमें उत्पादन के सम्बन्ध में समय पश्चात् या फलन अवधि होती है फलस्वरूप उत्पादन कुछ समय बाद मिलता है। जितना अधिक उत्पादन होगा उतना ही अधिक राष्ट्रीय आय होगी। उत्पादन की मात्रा आगत-निर्गत (प्रविधि) के अनुपात तथा इस अनुपात को परिवर्तन करने वाला प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है। प्रौद्योगिकी के विकास से कम आगत पर अधिक निर्गत प्राप्त किया जा सकता है। अगर देश श्रम प्रधान है तो श्रम प्रधान प्रविधि का ही प्रयोग करना चाहिए जिससे बेरोजगारी को रोका जा सके। सामान्यतया विकसित देश पूँजी प्रविधि का प्रयोग करते हैं क्योंकि वे पूँजी प्रचुर देश होते हैं।
2. **कीमतों का ढांचा:-** उत्पादन प्रविधि एवं प्रौद्योगिक के प्रयोग से उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है परन्तु वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन की मात्रा उनकी कीमतों के ढांचे से प्रभावित होती है। अतः कीमत ढांचा उत्पादन तथा उपभोग की दिशा का निर्देश एवं नियंत्रण करता है। इस प्रकार यह निवेश (विनियोग) को प्रभावित करके राष्ट्रीय आय को प्रभावित करता है।
3. **पूँजी निर्माण:-** पूँजी निर्माण का आशय पूँजी निवेश से है, अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन का कुछ भाग का उपभोग कर लिया जाता है तथा दूसरे भाग को पूँजी वस्तुओं (कारखाने की इमारतें, मशीन, उपकरण आदि) के निर्माण में लगाया जाता है जिससे पूँजी स्टॉक में वृद्धि होती है। पूँजी स्टॉक में होने वाली इस वृद्धि को पूँजी निर्माण या निवेश कहते हैं। पूँजी स्टॉक में वृद्धि राष्ट्रीय आय में वृद्धि लाती है तथा पूँजी स्टॉक में कमी राष्ट्रीय आय में कमी लाती है।
4. **पूँजी की सीमान्त क्षमता तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता:-** जैसा कि आप जानते हैं कि निवेश रोजगार तथा आय निर्धारण का अति महत्वपूर्ण तत्व है। अब हमें यह देखना है कि निवेश का निर्धारण किन तत्वों पर निर्भर करता है। निवेश का निर्धारण, पूँजी की सीमान्त क्षमता, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज पर निर्भर करती है। कीन्स के अनुसार ब्याज दर एक अपेक्षाकृत स्थिर तत्व है, इसलिए पूँजी की सीमान्त क्षमता तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादक ही निवेश को प्रभावित करती है। अल्पकाल में भले ही ब्याज दरों को एक अपेक्षाकृत स्थिर तत्व मान लिया, परन्तु निवेशक पूँजी की सीमान्त क्षमता की तुलना ब्याज दर से अवश्य करेगा। ब्याज दर पूँजी की सीमान्त क्षमता के बराबर होने पर निवेश पर निष्क्रिय प्रभाव डालती है। ब्याज दर पूँजी की सीमान्त दक्षता से कम होने पर निवेश पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत, ब्याज दर पूँजी की सीमान्त क्षमता से अधिक होने पर इसका निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। निवेश उसी सीमा तक किया जाता है जहाँ पर पूँजी की सीमान्त क्षमता और ब्याज दर एक-दूसरे के बराबर हो जाते हैं परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि पूँजी की सीमान्त क्षमता

परिसम्पत्तियों की पूर्ति कीमत तथा सम्भावित प्राप्ति पर निर्भर करती है, जबकि ब्याज दर का आधार तरलता पसन्दगी है।

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पूँजी की सीमान्त क्षमता से भिन्न है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर के साथ विनियोग को प्रभावित करती है। यदि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, ब्याज दर से अधिक है तो उत्पादन के पूँजी विनियोग की संभावना बढ़ जाती है। इससे उत्पादन और आय दोनों बढ़ता है।

5. प्रत्याशाएं:- प्रत्याशाओं का सम्बन्ध भविष्य की संभावनाओं से जुड़ा होता है। वर्तमान उपभोग एवं विनियोग भविष्य की संभावनाओं से प्रभावित होता है। यदि उपभोक्ता यह प्रत्याशा करें कि वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य में वृद्धि होगी तो वह अपना वर्तमान उपभोग बढ़ा देगा। फलस्वरूप, बचत एवं विनियोग में कमी आयेगी। इसी प्रकार उत्पादक की यह प्रत्याशा हो कि भविष्य में वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग में वृद्धि होगी तो वह विनियोग में वृद्धि करेगा। अधिक विनियोग से अधिक उत्पादन, अधिक उत्पादन का तात्पर्य अधिक आय से होता है।

6. मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार:- भारतीय वित्तीय प्रणाली के दो प्रमुख अंग हैं- मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार। मुद्रा बाजार को साख बाजार भी कहते हैं। विकसित मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार उद्योग को बढ़ावा देते हैं। जिससे निवेश में वृद्धि होती है फलस्वरूप उत्पादन या राष्ट्रीय आय को प्रभावित करती है।

7. जनसंख्या:- राष्ट्रीय आय के स्तर को निर्धारित करने में जनसंख्या अथवा श्रम शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जनसंख्या राष्ट्रीय आय को दो तरह से प्रभावित करती है। प्रथम, प्राकृतिक संसाधनों, प्रविधि एवं प्रौद्योगिकी में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या में वृद्धि उत्पादन में वृद्धि लाती है। दूसरी ओर मात्र जनसंख्या में वृद्धि पूँजी-निर्माण में वृद्धि को भी निगल जाती है। यह जनसंख्या वृद्धि उपभोग में वृद्धि लाती है। फलस्वरूप विनियोग में कमी तथा उत्पादन में कमी आती है।

8. आय स्तर तथा साहसी की योग्यता:- यदि आय स्तर ऊँचा है तो इसे देश के उत्पाद के साधनों तथा प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग में किया जाता सकता है और उत्पादन व आय की मात्रा की बढ़ाई जा सकती है। प्रो0 शुम्पीटर ने आय के निर्धारक तत्वों में साहसी की विशेष महत्व दिया क्योंकि यही वह व्यक्ति है जो उत्पत्ति के साधनों को इकट्ठा कर वस्तुओं एवं सेवाओं को उत्पादन करने का जोखिम उठाता है और लाभ कमाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय जहाँ एक ओर ऊँचा आय स्तर पर निर्भर है वहीं उसी आय को या नये निवेश को शुरुआत करने के लिए साहसी का होना अति आवश्यक है।

2.8 राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय कल्याण

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण के बीच क्या सम्बन्ध है। क्या राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक कल्याण में वृद्धि लाती है। इस अवधारणा को समझने के लिए फिशर की परिभाषा को समझना होगा। प्रो. इरविंग फिशर के अनुसार, 'वास्तविक राष्ट्रीय आय' एक वर्ष में उत्पादित शुद्ध उपज का वह अंश है जिसका उस वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उपभोग किया जाता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन की मात्रा नहीं बल्कि उस वर्ष में उनकी उपभोग की मात्रा राष्ट्रीय आय का निर्धारण करती है। इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय में वृद्धि आवश्यक रूप से राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि लायेगी। परन्तु राष्ट्रीय आय की परिभाषा का आधार सामान्य तौर पर एक लेखा वर्ष में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा के मूल्य को मानते हैं। ऐसी देशों में राष्ट्रीय आय में होने

वाला परिवर्तन राष्ट्रीय कल्याण को सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार से प्रभावित कर सकता है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ राष्ट्रीय कल्याण का बढ़ना अनेक कारकों पर निर्भर करता है जिसका अध्ययन इन निम्नांकित रूपों में कर सकते हैं :-

1. **राष्ट्रीय आय को प्राप्त करने का ढंग:-** राष्ट्रीय आय में वृद्धि किस तरह से हो रही है। उदाहरणार्थ, कार्य करने की खराब दशाएँ, लम्बे समय घंटों तक कार्य करना राष्ट्रीय कल्याण में कमी लायेगा।
2. **व्यय योग्य आय तथा व्यय का ढंग:-** सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि के साथ व्यय योग्य आय अत्यधिक करारोपण के कारण कम हो जाय तो लोगों की क्रय शक्ति प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगी। इस तरह की जी.एन.पी. में वृद्धि राष्ट्रीय कल्याण में कमी लायेगी।
3. **राष्ट्रीय आय का वितरण:-** राष्ट्रीय आय के वितरण का अर्थ है एक वर्ग के व्यक्तियों से दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को आय का हस्तान्तरण। इस प्रकार का वितरण या हस्तान्तरण धनी वर्ग के पक्ष में या निर्धन वर्ग के पक्ष में हो सकता है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि राष्ट्रीय कल्याण में तभी वृद्धि करेगी जब राष्ट्रीय आय में वृद्धि का वितरण गरीब वर्ग के पक्ष में हो क्योंकि:-

- (i) धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्ति अपनी आय का अधिक भाग उपभोग की वस्तुओं पर व्यय करता है।
- (ii) धनी व्यक्तियों के लिए द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम होती है।
- (iii) पीगू के अनुसार धनी व्यक्तियों की संतुष्टि (कल्याण) का एक बड़ा भाग निरपेक्ष आय से न होकर सापेक्षिक आय से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, एक धनी व्यक्ति बहुत दुःखी होगा क्योंकि उसके पास मँहगी कार नहीं है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय में कुछ कल्याण सम्बन्धी घटकों को नहीं लिया जाता है जबकि वे राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि करती है। उदाहरण के लिए गृहणी की सेवा को लिजिए। गृहणी जब घर में सेवा प्रदान करती है तो उसे राष्ट्रीय आय के आकलन में नहीं सम्मिलित करते हैं पर यही गृहणी वहीं सेवा बाजार के लिए करती है तो इसे राष्ट्रीय आय में शामिल कर लिया जाता है। घर के भीतर परिवार के सदस्यों के लिए की गयी वह सेवा जो राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं होगी, आवश्यक रूप से राष्ट्रीय कल्याण को प्रभावित करेगी।

2.9 राष्ट्रीय आय तथा समानिकाएँ

राष्ट्रीय आय के विभिन्न अंगों या घटकों के बीच सम्बन्ध को समानिकाओं के द्वारा समझाया जा सकता है। समानिकाओं को दर्शाने के लिए चिन्ह का प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रीय आय की समानिकाओं की व्याख्या को दो भागों में बांट कर अध्ययन करना उचित होगा।

1. ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें सिर्फ गृहस्थ क्षेत्र तथा फर्म हो अर्थात् सरकार तथा विदेशी क्षेत्र शामिल नहीं, साधारण अर्थव्यवस्था से आशय ऐसी अर्थव्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत सरकार तथा विदेशी क्षेत्र अर्थात् आयात और निर्यात सम्मिलित नहीं होता है। साधारण अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कुल उत्पादन या कुल आय को

ल द्वारा, उपभोग व्यय को ब् द्वारा तथा निवेश या विनियोग व्यय को प् द्वारा व्यक्त करते हैं। इस समानिका को सांकेतिक रूप में निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है-

$$Y = C + I \dots\dots\dots (1)$$

जैसा कि आप जानते हैं व्यय दो तरह से किया जाता है। प्रथम गृहस्थ क्षेत्र द्वारा कुल उत्पादन में से एक भाग का उपभोग करते हैं जिसे उपभोग व्यय कहते हैं। दूसरे शब्दों में अपने आय का कुछ भाग उपभोग की वस्तुओं पर खर्च कर देते हैं तथा दूसरा फर्म भी उत्पादन के कुछ हिस्से पर व्यय करता है परन्तु यह उपभोग के लिए नहीं करता है बल्कि निवेश के लिए करता है। इसलिए इसे निवेश या विनियोग व्यय (I) कहते हैं। कुल उत्पादन का कुछ हिस्सा नहीं खरीदा जाता है। इसे स्टॉक या भण्डारों में शामिल कर लिया जाता है। अतः उपर्युक्त समानिका का अर्थ है। कुल उत्पादन आय या उपभोग व्यय और विनियोग व्यय के बराबर होता है।

दूसरी समानिका निम्नलिखित है-

$$Y = C + S \dots\dots\dots (2)$$

यहाँ पर S बचत दर्शाता है। उपभोक्ताओं के द्वारा आय का कुछ भाग बचा लिया जाता है। समानिका 1 में $Y = C + I$, उपभोग एवं निवेश व्यय का योग है जो अर्थव्यवस्था की समग्र माँग का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि C उपभोग की वस्तुओं की माँग और प् पूँजीगत वस्तुओं की माँग को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार समानिका 2 में, $Y = C + S$ अर्थव्यवस्था में समग्र पूर्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इसका कारण यह है कि कुल उपभोग व्यय (C) से उपभोक्ता वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन होता है और कुल बचत (S) पूँजी वस्तुओं के उत्पादन में निवेश की जाती है।

समानिका (1) और (2) को मिलाकर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है-

$$Y = C + I$$

$$Y = C + S$$

$$C + I \Delta Y \Delta C + S \dots\dots\dots (3)$$

समानिका तीन में C+I समग्र माँग के दो अंग तथा C+S आय के आवंटन को बताता है। समानिका (3) में थोड़े से परिवर्तन करने पर बचत विनियोग के बराबर हो जाती है जैसे-

$$I \Delta Y - C \Delta S$$

$$I = S \dots\dots\dots (4)$$

(2) ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें गृहस्थ क्षेत्र फर्म, सरकार तथा विदेशी क्षेत्र शामिल हो:

अब समानिका 1 का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जा सकता है-

$$Y \Delta C + I + G + (X - M) \dots\dots\dots (5)$$

यहाँ, Y=कुल आय

C= कुल उपभोग व्यय, I= कुल विनियोग व्यय, G= कुल सरकार व्यय, (X - M) = विशुद्ध निर्यात (अर्थात् निर्यात-आयात)

परन्तु

$$Y = C + I = C + S = E \dots\dots\dots (6)$$

यहाँ E= कुल व्यय

$$\text{इसलिए } Y \Delta E \Delta C + I + G + (X - M)$$

$$Y \Delta C + S + T \Delta E \Delta C + I + G + (X - M)$$

$$Y = E$$

इसलिए कुल आय/उत्पाद कुल व्यय के बराबर होती है।

व्यय योग्य आय को पाने के लिए आय को राष्ट्रीय आय से कर (T) तथा हस्तान्तरण भुगतान (TP) कों जोड़ना होगा यह निम्नलिखित है:

$$DY = Y - T + TP$$

यहाँ Dy= व्यय योग्य है, T= कर, TP= हस्तान्तरण भुगतान है।

उपर्युक्त राष्ट्रीय समानिकाओं से स्पष्ट है कि कुल उत्पादन कुल आय एवं कुल व्यय एक-दूसरे के बराबर होते हैं।

2.10 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

- (क) राष्ट्रीय आय क्या है?
- (ख) घरेलू आय तथा राष्ट्रीय आय में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
- (ग) राष्ट्रीय प्रयोज्य आय किसे कहते हैं?
- (घ) वैयक्तिक आय तथा प्रयोज्य आय में अन्तर स्पष्ट करें।
- (ङ) कारक आय किसे कहते हैं?

2. सत्य/असत्य बताइये

- (क) कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद = बाजार कीमत पर घरेलू उत्पाद-अप्रत्यक्ष कर + आर्थिक सहायता
- (ख) शुद्ध अप्रत्यक्ष कर व अप्रत्यक्ष कर-आर्थिक सहायता
- (ग) राष्ट्रीय आय में केवल कारक भुगतान ही शामिल होते हैं।
- (घ) राष्ट्रीय आय में कारक भुगतान और हस्तान्तरण भुगतान दोनों सम्मिलित होते हैं।
- (ङ) साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पादन ही राष्ट्रीय आय है।
- (च) निर्यात-आयात(X-M) विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय होती है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) इसमें से किसे राष्ट्रीय आय कहते हैं:

- (अ) NNP_{FC} (ब) NDP_{FC} (स) GNP_{FC} (द) NNP_{MP}

(ख) इसमें से किसे घरेलू आय कहते हैं

- (अ) NDP_{MP} (ब) NDP_{FC} (स) NNP_{FC} (द) GDP_{FC}

(ग) घरेलू आय में शामिल नहीं होती है

- (अ) विदेशों से आय प्राप्त

- (ब) कारक आय

- (स) एक लेखा वर्ष में वस्तुओं की मात्रा (द) मूल्यहास
 (घ) राष्ट्रीय प्रयोज्य आय में शामिल हैं:
 (अ) राष्ट्रीय आय (ब) शुद्ध अप्रत्यक्ष कर
 (स) शेष विश्व से प्राप्त शुद्ध चालू हस्तान्तरण (द) उपर्युक्त सभी

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न

- (क) निजी आय तथा वैयक्तिक आय में मुख्य अन्तर बताइये।
 (ख) विदेशों से शुद्ध कारक आय से आप क्या समझते हैं?
 (ग) सकल राष्ट्रीय आय क्या है?
 (घ) साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से मूल्यहास घटा देने पर क्या प्राप्त होता है।

2. रिक्त स्थान भरिए

- (क) राष्ट्रीय आय एक देश के केवल की आय का कुल जोड़ है।
 (ख) सामान्य निवासी के अन्तर्गत तथा दोनों ही आते हैं।
 (ग) विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय तथा हो सकती है।
 (घ) सकल राष्ट्रीय उत्पाद घरेलू अवधारणा नहीं है। यह एक अवधारणा है।

2.11 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप जान चुके हैं कि कुल उत्पादन का मूल्य ही राष्ट्रीय आय कहलाता है। कुल उत्पादन कुल व्यय एवं कुल आय एक दूसरे के बराबर होते हैं। साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं। सकल उत्पादन में से मूल्यहास घटा देने पर शुद्ध उत्पादन प्राप्त होता है। जब घरेलू उत्पादन में विदेशी कारक आय जोड़ देते हैं तो राष्ट्रीय आय प्राप्त होता है। कारक लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP_{FC}) एक लेखा वर्ष की अवधि के दौरान सामान्य निवासियों द्वारा अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन के बदले में उनके द्वारा अर्जित कारक आय (लगान+मजदूरी+ब्याज+लाभ) का कुल योग है।

2.12 शब्दावली

- **मूल्यहास:-** उत्पादन के दौरान पूँजीगत वस्तुओं जैसे मशीन, उपकरण, टैक्टर, फैक्ट्री इत्यादि का ह्रास होता है। एक समय अवधि के बाद इन पूँजीगत वस्तुओं का प्रतिस्थापन आवश्यक हो जाता है इसलिए कुल उत्पादन में से एक हिस्सा घिसावट व्यय के लिए अलग रखना होता है। इसी को मूल्यहास कहते हैं जो सकल घरेलू या राष्ट्रीय आय में शामिल होता है। सकल में से मूल्यहास को घटा देने पर शुद्ध प्राप्त होता है।
- **चालू पुनः स्थापन लागत:-** समस्त अर्थव्यवस्था के स्तर पर मूल्यहास को चालू पुनः स्थापन लागत कहते हैं।
- **निगम बचत:-** निगम लाभ का कुछ भाग अवितरित लाभ के रूप में फर्मों के पास रह जाता है जिसे निगम बचत कहते हैं।

- **निगम कर:-** निगम लाभ के कुछ भाग पर सरकार द्वारा लगाया गया कर निगम कर कहलाता है।
- **आधार वर्ष:-** आधार वर्ष तुलना का वर्ष होता है। जब विश्वास किया जाता है कि समष्टि चर (जैसे उत्पादन तथा सामान्य कीमत स्तर) उस वर्ष में सामान्य रहते हैं।
- **प्रविधि:-** प्रविधि से अभिप्राय उत्पादन के साधनों के एक निश्चित सम्बन्ध से है जिससे उत्पादन के एक निश्चित स्तर को प्राप्त किया जा सकता है।
- **प्रौद्योगिकी:-** प्रौद्योगिकी से अभिप्राय ऐसे वैज्ञानिक विकास से है जिससे आगत-निर्गत अनुपात (प्रविधि) में परिवर्तन आता है। जो आगत-निर्गत अनुपात को पहले से उत्तम कर दे, एक निश्चित आगत से हम पहले की अपेक्षा अधिक निर्गत प्राप्त करने लगे या दूसरे शब्दों में जो उत्पादन फलन में ही परिवर्तन ला दें, प्रौद्योगिकी की विषय वस्तु होगी।
- **पूँजी सीमान्त क्षमता:-** पूँजी की सीमान्त क्षमता कटौती की वह दर है जो पूँजी परिसम्पत्ति से प्राप्त होने वाली कुल सीमान्त आय को इसकी पुनः स्थापन लागत (पूर्ति कीमत का अर्थ वर्तमान बदली लागत अथवा पुनः स्थापन लागत के बराबर कर देती है) पूँजी की सीमान्त क्षमता का सम्बन्ध सीमान्त इकाई से उसके सम्पूर्ण जीवन काल में मिलने वाली प्राप्ति से है। सीमान्त क्षमता का सम्बन्ध केवल चालू वार्षिक लाभ से नहीं है अपितु प्रत्याशित आदि प्राप्तियों को निवेश प्रेरणा के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करना है। पूँजी की सीमान्त क्षमता को लागत के ऊपर प्राप्ति की दर भी कहा जाता है।
- **पूँजी की सीमान्त उत्पादकता:-** पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से अभिप्राय पूँजी की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से अन्य साधन स्थिर रहने पर उत्पादन में होने वाली वृद्धि है।
- **मुद्रा बाजार:-** मुद्रा बाजार मौद्रिक नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक क्रियाकलापों की धूरी है, यहाँ अल्पकालीन स्वभाव की मौद्रिक सम्पत्तियों या प्रतिभूतियाँ जिनकी परिपक्वता एक रात्रि से 1 वर्ष होती है में व्यवहार होता है।

2.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(क) एक लेखा वर्ष की अवधि के दौरान अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के मौद्रिक मूल्य को राष्ट्रीय आय कहते हैं।

1.(ख) घरेलू आय तथा राष्ट्रीय आय में अन्तर निम्नलिखित हैं:

1. घरेलू आय एक देश की घरेलू सीमा में सृजित कारक आय का कुल जोड़ है, भले ही यह आय निवासियों अथवा गैर-निवासियों द्वारा सृजित की गई हों। जबकि राष्ट्रीय आय एक देश के निवासियों द्वारा सृजित कारक आय का कुल जोड़ है, भले ही यह आय घरेलू सीमा के अन्दर अथवा शेष विश्व में सृजित की गई हो।

2. घरेलू आय में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय सम्मिलित नहीं होती जबकि राष्ट्रीय आय में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय सम्मिलित होती है।

1. (ग) राष्ट्रीय प्रयोज्य आय से अभिप्राय किसी देश की बाजार कीमत पर उस शुद्ध आय से है जो उस देश को खर्च करने के लिए उपलब्ध होती है। अर्थात् राष्ट्रीय प्रयोज्य आय त्र राष्ट्रीय आय \$ शुद्ध अप्रत्यक्ष कर \$ शेष विश्व से प्राप्त शुद्ध चालू हस्तान्तरण।

1. (घ) वैयक्तिक आय वह आय है जो व्यक्तियों तथा परिवारों को कारक आय और चालू हस्तान्तरण आय के रूप में सभी स्रोतों से वास्तव में प्राप्त होती है। इसके विपरीत वैयक्तिक प्रयोज्य आय वह आय है जो सभी प्रकार के प्रत्यक्ष करों (जैसे आयकर और गृहकर) तथा सरकारी प्रशासनों, विभागों के शुल्क और जुर्माने के भुगतान के पश्चात् बचती है।

1. (ङ) कारक आय उस आय को कहते हैं जो उत्पादन के कारकों के स्वामियों (गृहस्थ क्षेत्र) को अपनी कारक सेवाओं को उत्पादकों को अर्पित करने के बदले में प्राप्त होती है। गृहस्थ क्षेत्र से उत्पादक क्षेत्र को कारक सेवाओं के वास्तविक प्रवाह के अनुरूप उत्पादक क्षेत्र से गृहस्थ क्षेत्र को मौद्रिक प्रवाह, अर्थात् लगान, ब्याज, मजदूरी तथा लाभ के रूप में प्राप्त होता है। इन प्रवाहों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन होता है।

2 (क) सत्य (ख) सत्य (ग) सत्य (घ) असत्य (ङ) असत्य (च) असत्य

3. (क) (अ) , (ख) (ब), (ग) (अ), (घ) (द)

4. (क) निजी आय की अवधारणा वैयक्तिक आय की तुलना में अधिक विस्तृत है निजी आय तथा वैयक्तिक आय का मुख्य अन्तर यह है कि निजी आय में निगम बचते हैं तथा निगम कर शामिल होते हैं। जबकि वैयक्तिक आय में ये शामिल नहीं होते हैं।

(ख) विदेशों से शुद्ध कारक आय से अभिप्राय अपने निवासियों द्वारा शेष विश्व से अधिक कारक आय (लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ) तथा गैर-निवासियों द्वारा अपने देश में अर्जित कारक आय के अन्तर से है।

(ग) सकल राष्ट्रीय आय एक देश में एक लेखा वर्ष में सामान्य निवासियों द्वारा अर्जित कारक आय का कुल जोड़ है जिसमें मूल्यहास (घिसावट व्यय) सम्मिलित रहता है।

(घ) साधन लागत पर राष्ट्रीय उत्पाद (NNP_{FC})

5. (क) सामान्य निवासियों , (ख) व्यक्ति, संस्थाएँ , (ग) धनात्मक, ऋणात्मक , (घ) राष्ट्रीय

2.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, के.पी.; गुप्ता के.एल. (1906) “अर्थशास्त्र”, नवयुग साहित्य सदन, आगरा।
2. जैन, टी.आर.; ओहरि, बी.के. (1912-13) “प्रारम्भिक समष्टि अर्थशास्त्र”, के.के. ग्लोबल पब्लिकेशन्स प्रा.लि., नई दिल्ली।
3. सिंघई, जी.सी.; मिश्रा, जे.पी. (1910) “अर्थशास्त्र”, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
4. लाल, एस.के.; एस.एन (1910) “अर्थशास्त्र”, शिव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
5. सिन्हा, वी.सी. (1910-11) “अर्थशास्त्र”, एस.पी.डी. पब्लिशिंग हाऊस, आगरा।

2.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सेठी, टी.टी. (1904-05) “समष्टि अर्थशास्त्र”, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. एन.सी.ई.आर.टी. (1907) “व्यष्टि अर्थशास्त्र: एक परिचय” एन.सी.ई.आर.टी., दिल्ली।

-
3. अग्रवाल, एम.एन. (1907), “भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन”, न्यू एज इंटरनेशनल प्रा.लि., नई दिल्ली।
-

2.16. निबन्धात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय आय की अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए।
2. राष्ट्रीय आय समानिकाएँ की व्याख्या कीजिए।
3. ‘राष्ट्रीय आय’ में परिवर्तन राष्ट्रीय कल्याण को प्रभावित करती है। इस कथन की विवेचना कीजिए।
4. राष्ट्रीय आय की संरचना की चर्चा कीजिए।

इकाई 3: राष्ट्रीय आय माप एवं लेखांकन

इकाई की रूपरेखा

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 राष्ट्रीय आय मापन की विधियाँ
 - 3.3.1 उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि सम्बन्धी सावधानियाँ
 - 3.3.2 आय विधि सम्बन्धी सावधानियाँ
 - 3.3.3 व्यय विधि सम्बन्धी सावधानियाँ
- 3.4 राष्ट्रीय आय मापने में कठिनाईयाँ
- 3.5 राष्ट्रीय आय का महत्व
- 3.6 राष्ट्रीय आय लेखांकन अथवा सामाजिक लेखांकन
- 3.7 अभ्यास प्रश्न
- 3.8 सारांश
- 3.9 शब्दावली
- 3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.13 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

परिचय से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है। इससे पहले की इकाई में आप राष्ट्रीय आय अवधारणा एवं संरचना के बारे में ज्ञान प्राप्त किया।

प्रस्तुत इकाई में राष्ट्रीय आय माप एवं लेखांकन के बारे में विस्तार से चर्चा किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप राष्ट्रीय आय को मापने की विधि को समझा सकेंगे तथा राष्ट्रीय आय माप की आधुनिक विधि सामाजिक लेखांकन की भी व्याख्या कर सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि :-

- राष्ट्रीय आय माप विधियाँ क्या हैं ?
- सामाजिक लेखांकन क्या हैं ?
- राष्ट्रीय आय लेखांकन और राष्ट्रीय आय में क्या अन्तर है ?
- हस्तान्तरण भुगतान क्या हैं ?
- साधन आय क्या हैं ?

3.3 राष्ट्रीय आय मापन की विधियाँ

हम जानते हैं कि राष्ट्रीय आय की अवधारणा को तीन दृष्टिकोण से देखा जाता है- उत्पादन, आय और व्यय। उत्पादन, आय एवं व्यय आर्थिक क्रियाओं का चक्राकर प्रवाह बनाते हैं। उत्पादन प्रवाह यह बताता है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न उत्पादक क्षेत्रों में कितनी शुद्ध वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय आय के मापने की इस विधि को उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि भी कहते हैं। आय प्रवाह यह व्यक्त करता है कि उत्पादन के फलस्वरूप उत्पत्ति के साधनों को उत्पादन प्रक्रिया के दौरान देश की घरेलू सीमाओं में कितनी आय का सृजन होता है और विदेशों से कितनी शुद्ध आय प्राप्त होती है। राष्ट्रीय आय को मापने की इस विधि को आय विधि कहते हैं। जब आय प्राप्त होती है तो इसका व्यय किया जाता है। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्र जैसे सरकार, फर्म, उपभोक्ता उत्पादक आदि राष्ट्रीय आय का उपभोग करते हैं। राष्ट्रीय आय को मापने की इस विधि को व्यय विधि कहते हैं। संक्षेप में आप कह सकते हैं कि उत्पादन से आय संचरित होती है, आय से व्यय संचरित होता है एवं व्यय से उत्पादन संचरित होता है। इस प्रकार उत्पादन, आय और व्यय का चक्र निरन्तर चलता रहता है जिसका सम्बन्ध क्रमशः उत्पादन, आय, वितरण और व्यय से होता है। चूँकि ये तीनों एक चक्र में चलते हैं। अतः इसे चक्रीय प्रवाह भी कहते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय के मापने की तीन विधियाँ हैं जो इस प्रकार हैं:

- (i) उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि
- (ii) आय विधि तथा
- (iii) व्यय विधि

इन विधियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :-

(i) उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि:-“उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि एक लेखा वर्ष में देश की घरेलू सीमा के अन्तर्गत प्रत्येक उद्यम के उत्पादन में योगदान की गणना करके राष्ट्रीय आय मापती है।” उत्पादन से तात्पर्य कुल उत्पादन (Census of Production) से नहीं है बल्कि शुद्ध उत्पादन से है।

शुद्ध उत्पादन = कुल/सकल उत्पादन - हास

प्रो. कुजनेट्स ने इस पद्धति को वस्तु सेवा पद्धति (Commodity Service Method) भी कहा है। क्योंकि इसमें वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह का योग किया जाता है। राष्ट्रीय आय गणना की यह रीति अर्थव्यवस्था के विभिन्न वर्गों के आयों की योग होती है। इसलिए इसे हम ‘औद्योगिक उद्भव द्वारा राष्ट्रीय आय’ भी कहते हैं।

उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि द्वारा राष्ट्रीय मापने के लिए सामान्यतया तीन कदम का प्रयोग करते हैं-

1. उत्पादक उद्यमों की पहचान तथा वर्गीकरण
2. उत्पाद के मूल्य की गणना
3. राष्ट्रीय आय का अनुमान

1. उत्पादक उद्यमों की पहचान तथा वर्गीकरण:- इस विधि में सबसे पहले उन उत्पादक उद्यमों की पहचान की जाती है जो वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करते हैं। उत्पादन का वर्गीकरण निम्न तीन क्षेत्रों में किया जाता है।

- (i) प्राथमिक क्षेत्र या कृषि क्षेत्र: इसमें कृषि तथा कृषि से सम्बन्धित क्षेत्र, वन, मछली पालन, पशुपालन तथा खनन उद्योग सम्मिलित होते हैं।
- (ii) द्वितीय क्षेत्र या उद्योग क्षेत्र: इसमें निर्माण उद्योग, बिजली की आपूर्ति जल एवं गैस आदि को शामिल किया जाता है।
- (iii) तृतीयक क्षेत्र या सेवा क्षेत्र: इसमें विभिन्न सेवाओं जैसे व्यापार परिवहन, बैंकिंग, बीमा संचार, सामान्य प्रशासन आदि को शामिल किया जाता है।

इस विधि के अन्तर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं की बाजार मूल्य की गणना की जाती है इसलिए इसे बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP_{mp}) भी कहा जाता है। इस विधि को निम्नलिखित सारणी 1 में स्पष्ट किया गया है-

सारणी 1: बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद

विभिन्न क्षेत्र	उत्पादन मात्रा	कीमत (₹0 में)	सकल मौद्रिक मूल्य (₹0)
1. प्राथमिक क्षेत्र	800	190	160000
2. द्वितीयक क्षेत्र	600	300	180000
3. तृतीयक क्षेत्र	900	500	450000
बाजार कीमत पर GDP का कुल योग			790000

सूत्र के रूप में, $GDP_{MP} = P.Q.$

जहाँ पर P = प्रति इकाई बाजार कीमत, Q= वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा

2. उत्पाद के मूल्य की गणना:-उत्पाद मूल्य की गणना की दो विधियाँ हैं :-

- (i) अन्तिम उत्पाद विधि (ii) मूल्य वृद्धि विधि

(i) अन्तिम उत्पाद विधि: इस विधि के अन्तर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं के अन्तिम उपभोग की गणना की जाती है। वस्तुओं एवं सेवाओं का अन्तिम मूल्य निकालने के लिए इसमें से मध्यमवर्ती वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य घटा दिया जाता है।

(ii) मूल्य वृद्धि विधि: तालिका 2 मूल्य वृद्धि (वर्धित मूल्य) की धारणा को स्पष्ट करती है।

सारिणी 2: मूल्य वृद्धि का आकलन

उत्पादक का नाम	उत्पादन की अवस्था	मध्यवर्ती वस्तु की लागत (₹0)	उत्पादन का मूल्य	मूल्य वृद्धि
किसान	गेहूँ	-	500	500
आटा चक्की	आटा	500	800	300
बेकर (डबलरोटी बनाने वाला)	डबलरोटी	800	1000	190
दुकानदार	विक्रय	1000	1500	500
	योग	2300	3800	1500

उपरोक्त सारणी 2 में यह मान लिया गया है कि किसान को गेहूँ का उत्पादन करते समय कोई व्यय नहीं करना पड़ता है, वह स्वयं परिश्रम करता है तथा खाद बीज आदि पर कोई व्यय नहीं होता है। इसलिए किसान ने गेहूँ द्वारा ₹. 500 की मूल्य वृद्धि की है। आटा चक्की ने 500 ₹. की गेहूँ खरीदा और उससे आटा बनाकर ₹. 800 में बेकर का बेंच दिया। जिससे आटा चक्की वाले ने ₹. 300 (800-500) की मूल्य वृद्धि की। अब बेकर ने उस आटे से डबलरोटी बनाकर ₹. 1000 में दुकानदार को बेचा जिससे बेकर ने ₹. 190 (1000-800) की मूल्य वृद्धि की। दुकानदार ने ग्राहकों को डबलरोटी ₹. 1500 में बेची। इस प्रकार दुकानदार ने ₹. 500 (1500-1000) की मूल्य वृद्धि की। इस प्रकार कुल मूल्य वृद्धि = 500+300+190+500 = ₹ 1500 होगी। जबकि कुल वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य ₹ 3800 है।

सूत्र के रूप में,

मूल्य वृद्धि = कुल उत्पादन का मूल्य - मध्यवर्ती वस्तु की कुल लागत

मूल्य वृद्धि = ₹. 3800-2300 =1500

मूल्य वृद्धि ₹. 1500 है जो अन्तिम वस्तु एवं सेवा का मूल्य है।

3. राष्ट्रीय आय का अनुमान:- एक लेखा वर्ष के दौरान किसी देश की घरेलू सीमाओं के अंदर सभी उत्पादक उद्यमियों द्वारा की गई सकल मूल्य वृद्धि को बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद कहा जाता है। GDP_{MP} का आकलन करने के बाद हम साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP_{FC}) ज्ञात करते हैं। NNP_{FC} को ही राष्ट्रीय आय कहा जाता है। उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि का प्रयोग करते हुए राष्ट्रीय आय के माप का कदम निम्नलिखित है

1. सबसे पहले हम GDP_{MP} का अनुमान लगाते हैं;

2. GDP_{MP} में ये मूल्यहास घटा देते हैं। जिसे बाजार कीमत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद (NNP_{MP}) प्राप्त होता है;

3. NNP_{FC} में से अप्रत्यक्ष कर घटा देते हैं तथा आर्थिक सहायता को जोड़ देते हैं। इससे साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद (NNP_{FC}) प्राप्त होती है।

4. NNP_{FC} में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय को जोड़ देने से NNP_{FC} प्राप्त होता है। इसे ही राष्ट्रीय उत्पाद या राष्ट्रीय आय कहते हैं।

उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना इस प्रकार से होती है :-

1. प्राथमिक क्षेत्र का सकल मूल्य वृद्धि

+

2. द्वितीयक क्षेत्र का सकल मूल्य वृद्धि

+

3. तृतीयक क्षेत्र का सकल मूल्य वृद्धि

=

1+2+3 = बाजार कीमत पर सकल मूल्य वृद्धि या घरेलू उत्पाद (GDP_{MP})

-

4. मूल्य हास

=

1+2+3-4 = बाजार कीमत पर शुद्ध मूल्य वृद्धि या शुद्ध घरेलू उत्पाद (NNP_{MP})

5. - शुद्ध अप्रत्यक्ष कर

=

1+2+3-4-5+6 = कारक/साधन लागत या कारक लागत पर शुद्ध घरेलू आय (NNP_{FC})

+

6. विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय

=

साधन लागत या कारक लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय (NNP_{FC}) ही राष्ट्रीय आय है।

(NNP_{FC}) को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं।

ध्यान दें :-

1. शुद्ध अप्रत्यक्ष कर व अप्रत्यक्ष कर - आर्थिक सहायता

(ii) आय विधि:- इस विधि के अन्तर्गत एक वर्ष में उत्पादन के कारकों के स्वामित्वों (श्रमिकों, भू-स्वामियों, पूँजीपतियों तथा उद्यमियों) को उनकी सेवाओं के बदले किये गये भुगतानों (मजदूरी, लगान, ब्याज तथा लाभ) के रूप में मापा जाता है। इन सबकी आय का जोड़ का परिणाम कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद (NDP_{FC}) होता है। NDP_{FC} में विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय जोड़ देने से राष्ट्रीय आय (NNP_{FC}) प्राप्त होती है।

चूँकि इसमें सभी साधनों के अर्जित आय को जोड़ा जाता है, इसलिए इसे कारक भुगतान विधि भी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, इसमें एक वर्ष में साधनों के आयों के प्रवाह का प्रयोग किया जाता है, इसलिए इस विधि को 'आय प्रवाह विधि' भी कहते हैं।

आय विधि का प्रयोग करने से पहले आप को कारक आय के वर्गीकरण के बारे में ज्ञान रखना जरूरी है-

कारक/साधन आय का वर्गीकरण:- साधन या कारक आय को मुख्य रूप से निम्नलिखित भागों में बांटा जाता है-

1. कर्मचारियों का पारिश्रमिक: इसके अन्तर्गत (i) नकद मजदूरी तथा वेतन (ii) किस्म के रूप में भुगतान तथा (iii) सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में मालिकों के योगदान को शामिल किया जाता है।

2. प्रचालन अधिशेष: इसके अन्तर्गत सम्पत्ति तथा उद्यमशीलता से प्राप्त आय को शामिल किया जाता है। इसमें निम्नलिखित मदें सम्मिलित हैं: (i) लगान (ii) ब्याज तथा (iii) लाभा लाभ को तीन भागों में बांटा जाता है-

(i) लाभांश: लाभ का वह भाग जिसे भागीदारों में बांटा जाता है। इसे वितरित लाभ भी कहते हैं।

(ii) निगम लाभ कर: निगम के लाभ का वह भाग जिसे लाभ कर के रूप में सरकार को दिया जाता है।

(iii) अवितरित (प्रतिधारित) लाभ: लाभ का वह भाग है जिसे फर्म अपने पास रखती है। इसे 'निगम बचत' अथवा अवितरित लाभ भी कहते हैं।

3. मिश्रित आय: स्वरोजगार व्यक्तियों के आय को मिश्रित आय कहते हैं क्योंकि ये वे व्यक्ति होते हैं जो अपने श्रम, भूमि, पूँजी तथा उद्यमशीलता का प्रयोग करके वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करते हैं। इसके बदले में उन्हें आय प्राप्त होती है। यह आय मजदूरी, लगान ब्याज तथा लाभ का मिश्रण होती है। तभी इसे मिश्रित आय कहते हैं। आय विधि का प्रयोग करते हुए राष्ट्रीय आय का माप निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट किया गया है।

आय विधि का प्रयोग करते हुए राष्ट्रीय आय का माप

1. कर्मचारियों का पारिश्रमिक

+

2. प्रचालन अधिशेष

+

4. मिश्रित आय

=

शुद्ध घरेलू आय या कारक लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद (NDP_{FC})

+

4. विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन/कारक आय

=

5. शुद्ध राष्ट्रीय आय या साधन/कारक लागत पर शुद्ध आय या साधन/कारक लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP_{FC})

आय विधि के द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाता है:-

- (1) ऐसे भुगतानों को ही शामिल किया जाता है जिसका वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में योगदान होता है। दूसरे शब्दों में हस्तान्तरण भुगतान जैसे वृद्धावस्था की पेंशन, निर्धनों को राहत भुगतान, छात्रों की छात्रवृत्ति इत्यादि की राष्ट्रीय आय की गणना में शामिल नहीं किया जाता है।
- (2) जिन वस्तुओं एवं सेवाओं का कोई द्राव्यिक भुगतान नहीं किया जाता (जैसे घर की स्त्री की सेवाएँ) उन्हें आय में शामिल नहीं किया जाता।
- (3) अवितरित लाभ को राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है।
- (4) उत्पादन के स्वयं के साधनों के पुरस्कारों को (बाजार कीमत पर) राष्ट्रीय आय में शामिल करना चाहिए यदि वे किसी वस्तु की उत्पादन लागत के अंग हैं।

III व्यय विधि:- अपनी आय का एक भाग लोग व्यय करते हैं तथा शेष बचत के रूप में रखते हैं। अतः किसी देश के समस्त व्यक्तियों का कुल व्यय तथा उनकी कुल बचत दोनों मिलाकर देश के कुल आय के बराबर होंगे। इसी तथ्य पर यह विधि आधारित है। कुल बचत कुल विनियोग के बराबर होती है, इसलिए इस रीति को उपभोग-विनियोग विधि/रीति भी कहते हैं। चूँकि इस विधि के अन्तर्गत लोगों के व्ययों की गणना की जाती है, इसलिए इसको 'व्यय गणना विधि' भी कहते हैं या केवल व्यय विधि भी कहते हैं। व्यय विधि के अनुसार एक लेखा वर्ष के दौरान अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के लिए किये गये व्यय के रूप में राष्ट्रीय आय को मापा जाता है। क्योंकि अन्तिम व्यय में उपभोग और निवेश सम्मिलित होता है। इस कारण इसे उपभोग-निवेश विधि या आय विन्यास विधि भी कहते हैं। एक लेखा वर्ष के दौरान उत्पादित अन्तिम वस्तुओं (एक देश की घरेलू सीमा के अन्दर) पर किये गये व्यय का अनुमान बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद (GDP_{MP}) के बराबर होता है। इसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय को जोड़कर साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP_{FC}) या राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है।

व्यय विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना एक लेखा वर्ष के दौरान अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं पर किये जाने वाले अन्तिम व्यय पर आधारित है। देश की घरेलू सीमा के अन्तर्गत इन सभी आर्थिक इकाइयों द्वारा किये जाने वाले अन्तिम व्यय को मोटे तौर पर चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है :-

1. निजी अन्तिम उपभोग व्यय
2. सरकारी अन्तिम उपभोग व्यय
3. निवेश व्यय, तथा
4. शुद्ध निर्यात (निर्यात-आयात)

इसका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है :-

1. निजी अन्तिम उपभोग व्यय:- इससे अभिप्राय व्यक्तियों, परिवारों तथा गैर-लाभ वाली निजी संस्थाओं या सेवा संस्थाओं द्वारा अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं पर किये गये व्यय से। यह व्यय निम्नलिखित प्रकार का हो

सकता है: (i) टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ: वे वस्तुएँ जिनका उपभोग कई वर्षों तक बार-बार कर सकते हैं जैसे- फर्नीचर, कालीन, वांशिग मशीन, अलमीरा, कार इत्यादि।

(ii) गैर-टिकाऊ उपभोग वस्तुएँ: वे वस्तुएँ जो शीघ्र ही खराब हो जाती है या जिसका बार-बार प्रयोग नहीं कर सकते हैं जैसे- मक्खन, दुध आदि।

(iii) विभिन्न उपभोक्ता सेवाएँ जैसे-शिक्षण, मनोरंजन, संचार तथा परिवहन आदि।

एक देश में गैर निवासी परिवारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा भी व्यय किया जाता है, किन्तु इस व्यय की घरेलू निजी अंतिम उपभोग व्यय में शामिल नहीं किया जाता है। यदि देश के नागरिकों द्वारा सीधे विदेशों से माल के क्रय पर व्यय किया जाता है तो इसे निजी अन्तिम उपभोग व्यय में शामिल किया जाता है।

2. सरकारी या शासकीय अन्तिम उपभोग व्यय:-इससे अभिप्राय सरकार द्वारा अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं पर किये जाने वाले बचत से है। ये व्यय निम्नलिखित है:

(i) कर्मचारियों का पारिश्रमिक;

(ii) सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यय जैसे- रोड, पार्क, ब्रीज, स्ट्रीट लाइट, रक्षा, स्वास्थ्य, कानून एवं सांस्कृतिक अंग मनोरंजन आदि पर व्यय;

(iii) चालू खाते के अन्तर्गत सरकार द्वारा विदेशों से वस्तुओं एवं सेवाओं का प्रत्यक्ष क्रय जैसे दूतावास पर किया गया खर्च, विदेशों में भारतीय दूतावास द्वारा किया गया खर्च जैसे-पेट्रोल, संचार आदि;

(iv) विदेशों में वस्तुओं एवं सेवाओं का शुद्ध क्रय।

3. निवेश व्यय:-निवेश व्यय वस्तुओं के उत्पादन प्रक्रिया में आगे प्रयोग किया जाता है जिससे पूँजी का निर्माण है। निवेश व्यय को निम्नलिखित दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है:

(i) स्थायी निवेश और

(ii) माल-सूची निवेश

(i) स्थायी निवेश: स्थायी निवेश में अभिप्राय उत्पादकों द्वारा पूँजी निर्माण पर किये गये व्यय से है। एक लेखा वर्ष में उपभोग के अतिरिक्त जो उत्पादन होता है। उसे पूँजी निर्माण कहते हैं। पूँजी निर्माण में परिसम्पत्तियों का निर्माण होता है जो दो प्रकार की होती है:

(a) निर्माण से सम्बन्धित: इसमें व्यवसायिक स्थायी निवेश, परिवारों द्वारा रिहायशी मकानों के निर्माण तथा सरकार द्वारा किया गया स्थायी निवेश जैसे-सड़कों, बांधों तथा पुलों का निर्माण आदि।

(b) मशीनें एवं उपकरण से सम्बन्धित निवेश: ये वस्तुओं एवं सेवाएँ के उत्पादक में सहायक होती है और इन्हें विनियोग में सम्मिलित किया जाता है।

(ii) माल-सूची निवेश: माल-सूची का सम्बन्ध एक वर्ष के अन्त में 'अन्तिम स्टॉक' तथा 'प्रारम्भिक स्टॉक' के अन्तर से है। स्टॉक में निम्नलिखित सम्मिलित होते हैं:

(a) कच्चे माल का स्टॉक

(b) अर्द्धनिर्मित वस्तुओं का स्टॉक, तथा

(c) निर्मित वस्तुओं का स्टॉक

यदि वर्ष के अन्त में इस स्टॉक या माल-सूची में वृद्धि होती है तो वृद्धि के मूल्य को माल-सूची या स्टॉक में विनियोग माना जाता है। स्टॉक में परिवर्तन का अनुमान वर्ष के अन्त में अन्तिम स्टॉक में से प्रारम्भिक स्टॉक घटाकर लगाया जाता है अर्थात् स्टॉक में परिवर्तन त्र अन्तिम स्टॉक-प्रारम्भिक स्टॉक।

4 शुद्ध निर्यात:- निर्यात और आयात के अन्तर को शुद्ध निर्यात कहते हैं। निर्यात से अभिप्राय देश की घरेलू सीमा में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं पर विदेशियों द्वारा किये जाने वाले व्यय से है, इसके विपरित आयात से अभिप्राय उस व्यय से है जो विदेशों में उत्पादित वस्तुओं और सेवाएँ पर किया जाता है। यदि आयात की तुलना में निर्यात अधिक होगा तो शुद्ध निर्यात धनात्मक और यदि आयात निर्यात से अधिक होगा तो शुद्ध निर्यात ऋणात्मक होगा।

एक लेखा वर्ष में घरेलू सीमा में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं पर हुए कुल व्यय के जोड़ को बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद कहा जाता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर व्यय विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना निम्नलिखित है:

व्यय विधि

1. निजी अन्तिम उपभोग
- +
2. सरकारी अन्तिम उपभोग व्यय
- +
3. सकल घरेलू स्थायी निर्माण:
 - अ. व्यावसायिक स्थायी निवेश
 - ब. सरकारी स्थायी निवेश
 - स. रिहायशी मकान के निर्माण पर निवेश
- +
4. माल-सूची निवेश
- +
5. शुद्ध निर्यात
- =
6. बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पाद
-
7. मूल्यहास
- =

8. बाजार कीमत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद

-

9. शुद्ध अप्रत्यक्ष कर

=

10. साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद

+

11. विदेशों से शुद्ध साधन आय

=

12. साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद

या

राष्ट्रीय आय

ध्यान दें:-

1. साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद ही राष्ट्रीय आय है।
2. शुद्ध अप्रत्यक्ष कर = अप्रत्यक्ष कर- आर्थिक सहायता
3. साधन लागत = बाजार कीमत-अप्रत्यक्ष कर + आर्थिक सहायता
4. बाजार कीमत = साधन/कारक लागत + अप्रत्यक्ष कर-आर्थिक सहायता

या

बाजार कीमत = कारक/साधन लागत+शुद्ध अप्रत्यक्ष कर

5. सकल घरेलू उत्पाद = बाजार कीमत (p) X उत्पादित अन्तिम वस्तुएं एवं सेवाएं (Q)

3.3.1 उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि सम्बन्धी सावधानियाँ:-

उत्पादन विधि से राष्ट्रीय आय की गणना करते समय कुछ मदों को इसमें सम्मिलित किया जाता है और कुछ मदों की इसमें सम्मिलित नहीं किया जाता है।

अ. सम्मिलित करना चाहिए :-

1. पुरानी वस्तुओं के व्यापारियों की दलाली.
2. सभी उत्पादक इकाईयों द्वारा किये गये स्वलेखा उत्पादन
3. स्व-उपभोग के लिए उत्पादन का आरोपित मूल्य (imputed value)
4. जिन मकानों में मालिक खुद रहते हैं उनका भी आरोपित किराया शामिल किया जाता है

ब. सम्मिलित नहीं करना चाहिए :-

1. पुरानी वस्तुओं का क्रय-विक्रय,
2. मध्यवर्ती वस्तुओं का मूल्य उत्पादन में शामिल नहीं किया जाता क्योंकि उसका मूल्य अंतिम वस्तुओं के मूल्य में शामिल होता है।
3. स्व-उपभोग सेवाओं का मूल्य उत्पादन विधि में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि-
 - (i) किसी वस्तु अथवा सेवा के मूल्य की दोहरी गणना न हो;
 - (ii) केवल अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य को जोड़ा जाता है

3.3.2 आय विधि सम्बन्धी सावधानियाँ:-

आय विधि द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्नलिखित सावधानियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए-

- (i) हस्तातरित आय को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है।
- (ii) गैर कानूनी तरीके से प्राप्त की गई आय की राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है।
- (iii) जिन करों का भुगतान चालू आय में से नहीं किया जाता, उन्हें राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है जैसे-मृत्यु कर, आकस्मिक लाभ पर कर, उपहार कर, तथा सम्पत्ति कर इत्यादि।
- (iv) आय कर कर्मचारियों के पारिश्रमिक से दिया जाता है। इसे अलग से राष्ट्रीय आय में जोड़ा नहीं जाना चाहिए।
- (v) पुरानी वस्तुओं के विक्रय से प्राप्त आय को राष्ट्रीय में शामिल नहीं किया जाता है।
- (vi) बॉण्ड और शेयर के विक्रय से प्राप्त आय को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है।

निम्नलिखित को आय विधि द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना में शामिल किया जाना चाहिए।

- (i) पुरानी वस्तुओं की बिक्री तथा खरीद पर दिये जाने वाले कमीशन या दलाली को राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है।
- (ii) शेयर तथा बॉण्ड्स की बिक्री/खरीद पर दी जाने वाली दलाली।
- (iii) जिन मकानों में मकान मालिक स्वयं रहे हैं उनके आरोपित किराए को।
- (iv) स्व-उपभोग के लिए उत्पादन

इस विधि में दोहरी गणना से बचा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए एक मालिक की आय 10000 रूपया प्रतिमाह है, उसमें से वह अपने नौकर को 1000 रूपये प्रतिवर्ष देता है तो यदि मालिक की आय 1,19,000 रूपये प्रतिवर्ष माप ली गयी है तो नौकर की आय पृथक से नहीं आंकी जानी चाहिए वरना दोहरी गणना हो जाएगी।

3.3.3 व्यय विधि सम्बन्धी सावधानियाँ

राष्ट्रीय आय की गणना में व्यय विधि का प्रयोग करते समय निम्नलिखित सावधानियाँ आवश्यक है।

- (i) वस्तुओं तथा सेवाओं पर किया गया केवल अन्तिम व्यय ही राष्ट्रीय आय में शामिल करना चाहिए।
- (ii) मध्यवर्ती वस्तुओं तथा सेवाओं पर होने वाले व्यय को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करना चाहिए।

- (iii) पुरानी वस्तुओं पर किया जाने वाले व्यय राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं होता है।
- (iv) सरकार द्वारा वृद्धावस्था पेंशन, छात्रवृत्ति, बेरोजगारी भत्ता, बीमा, आर्थिक सहायता आदि पर किया जाने वाला व्यय राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है।
- (v) शेरों तथा बाण्डों पर किया गया व्यय भी कुल व्यय में शामिल नहीं किया जाता है क्योंकि ये केवल कागजी दावे हैं और इनका अंतिम वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रवाह से सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे व्यय कोई मूल्य वृद्धि नहीं करते।

3.4 राष्ट्रीय आय मापने में कठिनाईयाँ

राष्ट्रीय आय की गणना में मुख्यतः दो प्रकार की समस्या आती है।

1. धारणात्मक कठिनाईयाँ (Conceptual Problems)
2. सांख्यिकीय कठिनाईयाँ (Statistical Problems)

1. धारणात्मक कठिनाईयाँ:- राष्ट्रीय आय की गणना मुद्रा में की जाती है। परन्तु उत्पादन की गई अनेक वस्तुएँ एवं सेवाएँ ऐसी होती हैं जिनका न हम मुद्रा में भुगतान कर सकते हैं न ही उसे बाजार में बेच सकते हैं। उदाहरण के लिए गृह-स्वामिनी द्वारा अपने परिवार के लिए गयी सेवाएँ ऐसी होती हैं, जिनका न हम मुद्रा में भुगतान कर सकते हैं न ही उसे बाजार में बेच सकते हैं। उदाहरण के लिए गृह-स्वामिनी द्वारा अपने परिवार के लिए की गयी सेवाएँ महत्वपूर्ण होते हुए भी मुद्रा में व्यक्त नहीं की जा सकती। शायद इसलिए गृह-स्वामिनी की सेवा की राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जा सकता है दूसरी तरफ उत्पादन एक ऐसा भाग होता है जिसका उपभोग स्वयं उत्पादक करता है जैसे किसान अपनी कृषि उपज का कुछ भाग स्वयं के उपभोग के लिए रखता है। स्व-उपभोग के लिए रखी वस्तुओं का बाजार मूल्य आंकने में कठिनाईयाँ होती हैं।

सरकार द्वारा उपलब्ध करायी गयी प्रशासनिक सुरक्षा तथा न्याय आदि से सम्बन्धित सेवाओं का भी बाजार मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता है इसलिए इन सेवाओं का मूल्य साधन लागत (अर्थात् वेतन आदि के रूप में किए गये व्यय) के आधार पर लगाया जाता है और इसे अन्तिम उपभोग मानकर राष्ट्रीय आय में सम्मिलित कर लिया जाता है।

2. सांख्यिकीय कठिनाईयाँ:- उत्पादकों के पास रखे माल-सूची निवेश को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है। कीमत में परिवर्तन होने पर माल-सूची निवेश में परिवर्तन हो जाता है। स्ट्राक के मूल्य में परिवर्तन से यही नहीं पता चल पाता कि वास्तव में कितनी मात्रा में परिवर्तन हुआ है जिससे राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रभावित हुए हैं। विभिन्न वर्षों की राष्ट्रीय आय की तुलना में परिवर्तन का समायोजन करना पड़ता है। इसके लिए मूल्य निर्देशांकों (Price Index Numbers) का प्रयोग करते हैं। परन्तु मूल्य-निर्देशांक प्रायः सही नहीं होते हैं क्योंकि कीमत निर्देशांक तैयार करने के लिए यह निर्णय करना होगा कि कौन-कौन सी वस्तुएँ सम्मिलित की जाएँ, उनको कितना महत्व या भार दिया जाए, किस प्रकार की कीमतें ली जाएँ। इन सब का निर्णय लेना ही बहुत कठिन है। कहीं भी भूल होने पर गलत परिणाम सामने आयेंगे और इनका राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमानों पर प्रभाव पड़ेगा।

3.5 राष्ट्रीय आय का महत्व

राष्ट्रीय आय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की गतिविधियों को बताती है और इस प्रकार यह एक देश की आर्थिक नाड़ी (economic pulse) की गति की जानकारी देती है। इसका महत्व निम्नलिखित है:

- (i) राष्ट्रीय आय के आधार पर प्रति व्यक्ति आय का औसत अनुमान लगाया जाता है और लोगों के जीवन स्तर के बारे में अनुमान प्राप्त किए जा सकते हैं।
- (ii) राष्ट्रीय आय आर्थिक नीति के निर्धारण में सहायक होती है।
- (iii) राष्ट्रीय आय आर्थिक प्रवृत्तियों को दिशा निर्देशन देती है। स्थायित्वपूर्ण विकास के लिए विनियोग की आवश्यकता है। इसी के अनुसार आर्थिक प्रवृत्तियाँ प्रभावित होती हैं तथा विशिष्ट वित्तीय, मौद्रिक और मजदूरी एवं रोजगार सम्बन्धी नीतियाँ अपनायी जाती हैं।
- (iv) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े आर्थिक उन्नति का तुलनात्मक अध्ययन करने में मदद करते हैं।
- (v) आर्थिक योजनाओं में लक्ष्यों का निर्धारण, बच्चों की प्राप्ति तथा नियोजन की सफलता का अनुमान राष्ट्रीय आय तथा उसके अंगों की मात्राओं में परिवर्तन के आधार पर लगाया जाता है।
- (vi) राष्ट्रीय आय के आँकड़े देश की अर्थव्यवस्था के ढाँचे अर्थात् उसके विभिन्न अंगों (जैसे प्राथमिक क्षेत्र, द्वितीयक क्षेत्र तथा सेवा क्षेत्र) की स्थिति पर प्रकाश डालते हैं।
- (vii) राष्ट्रीय आय के आँकड़ें उत्पादन के साधन आय (जैसे लगान, मजदूरी, ब्याज, लाभ) की वितरण की जानकारी देते हैं। इसके आधार पर असमानता को दूर करने में सरकार को मदद करती है।
- (viii) राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि देश के आर्थिक कल्याण का सूचक है।
- (ix) राष्ट्रीय आय पूँजी निर्माण में मदद करती है।
- (x) आर्थिक, सामाजिक एवं वाणिज्यिक विषयों के शोधरत छात्रों के लिए राष्ट्रीय आय के आँकड़े उपयोगी होते हैं।

3.6 राष्ट्रीय आय लेखांकन अथवा सामाजिक लेखांकन

एक देश की आर्थिक स्थिति की जानकारी मात्र राष्ट्रीय आय से नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की जानकारी के लिए जरूरी है कि विभिन्न आर्थिक इकाइयों के आँकड़ों को किस प्रकार से संगठित और प्रस्तुत किया जाय ताकि उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझा जा सके तथा आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के आर्थिक लेखांकन को 'राष्ट्रीय आय लेखांकन अथवा सामाजिक लेखांकन' कहा जाता है। अर्थशास्त्र में 'सामाजिक लेखांकन' शब्द का समावेश सबसे पहले जे.आर.हक्स ने 1942 में किया था। सामाजिक लेखांकन वह प्रणाली है। जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को सांख्यिकीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है ताकि समस्त अर्थव्यवस्था की आर्थिक स्थितियों को पूरी तरह से समझा जा सके। यह आर्थिक ढाँचे की अध्ययन की पद्धति है। 'राष्ट्रीय लेखांकन' या 'सामाजिक लेखांकन' दोहरी लेखा प्रणाली पर आधारित होते हैं। जिसमें एक तरफ प्राप्ति होती है तथा दूसरी तरफ भुगतान को दर्शाया जाता है। राष्ट्रीय लेखांकन की इस पद्धति से अर्थव्यवस्था की विभिन्न आर्थिक इकाइयों और क्षेत्रों के

आंकड़ों को 'मैट्रिक्स' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिससे पारस्परिक सम्बन्धों को समझने में मदद मिलती है। इस तरह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए तैयार किये गये लेखे को 'राष्ट्रीय लेखांकन' अथवा 'राष्ट्रीय आय लेखांकन' अथवा 'सामाजिक लेखांकन' कहते हैं। राष्ट्रीय आय लेखे के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से पांच प्रकार के लेखे बनाये जाते हैं: 1) परिवार क्षेत्र के लेखे 2) उत्पादन क्षेत्र के लेखे 3) पूँजी क्षेत्र के लेखे और 4) सरकारी क्षेत्र के लेखे 5) विदेशी क्षेत्र के लेखे। आपको यह जानना जरूरी है कि 'राष्ट्रीय आय' 'राष्ट्रीय आय लेखांकन' तथा 'सांख्यिकीय' तीनों में भेद होता है। जैसा कि आप जानते हैं कि एक लेखा वर्ष के दौरान उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं का मौद्रिक मूल्य राष्ट्रीय आय कहलाता है जबकि 'राष्ट्रीय आय लेखांकन' एक ऐसी विधि है जो अर्थव्यवस्था की आर्थिक क्रियाओं के सांख्यिकीय विश्लेषण एवं वर्गीकरण से सम्बन्धित है। सांख्यिकीय तो एक विज्ञान है जो उन समकों के संग्रहण, प्रस्तुतीकरण एवं विश्लेषण में सांख्यिकीय का बहुलता से प्रयोग होता है किन्तु सांख्यिकीय रूप से आर्थिक चरों के अन्तर्सम्बन्ध को ज्ञात नहीं कर सकते जबकि राष्ट्रीय आय लेखांकन हमें आर्थिक चरों के परस्पर सम्बन्धों को बताता है जैसे राष्ट्रीय आय और कल्याण में क्या सम्बन्ध है? यह हम राष्ट्रीय आय लेखांकन से जान सकते हैं। संक्षेप में, राष्ट्रीय आय लेखांकन समाज के आर्थिक स्वास्थ्य पर नियंत्रण रखने में तथा उस स्वास्थ्य में सुधार करने के लिए समझदारी के साथ नीतियों के निर्माण में सहायता करता है। सामाजिक लेखांकन राष्ट्रीय आय की आधुनिक विधि है।

3.7 अभ्यास प्रश्न:

1. लघुत्तरीय प्रश्न

- (क) कारक आय क्या है?
- (ख) हस्तान्तरित आय को राष्ट्रीय में क्यों नहीं शामिल किया जाता है?
- (ग) सामाजिक लेखांकन से आप क्या समझते हैं?
- (घ) राष्ट्रीय आय किसे कहते हैं?
- (ङ) अर्थव्यवस्था के निर्वाह क्षेत्र तथा सामान्य सरकारी क्षेत्र में प्रचालन अधिशेष क्यों नहीं होता है?
- (च) अन्तिम व्यय के वर्गीकरण को बताइये
- (छ) राष्ट्रीय आय मापने की विधियों के नाम बताइये।

2. सत्य/असत्य बताइये

- (क) पुरानी वस्तुओं के क्रय-विक्रय को मूल्य वृद्धि में शामिल किया जाता है।
- (ख) मध्यवर्ती वस्तुओं के मूल्य को मूल्य वृद्धि में शामिल नहीं किया जाता है।
- (ग) सरकारी क्षेत्र में मूल्य वृद्धि केवल कर्मचारियों के पारिश्रमिक के बराबर होती है।
- (घ) राष्ट्रीय आय के अनुमान में हस्तान्तरण प्राप्तियाँ या हस्तान्तरण भुगतान को शामिल किया जाता है।
- (ङ) मध्यवर्ती वस्तुओं के मूल्य को मूल्य वृद्धि में शामिल किया जाता है।
- (च) दोहरी गणना से अभिप्राय है किसी वस्तु के मूल्य की गणना एक बार से अधिक करना।
- (छ) सेवानिवृत्त कर्मचारियों की मिलने वाली पेंशन को राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि द्वारा राष्ट्रीय आय के आकलन में निम्नलिखित में से शामिल नहीं है।

- (अ) पुरानी वस्तुओं के व्यापारियों की दलाली या कमीशन
- (ब) स्व उपभोग वस्तुओं के उत्पादन का आरोपीत मूल्य
- (स) स्व उपभोग सेवाओं का मूल्य वृद्धि
- (द) सभी उत्पादक इकाईयों द्वारा किये गये स्वलेखा उत्पादन।

(ख) राष्ट्रीय लेखांकन से क्या अभिप्राय है?

- (अ) राष्ट्रीय आय की माप
- (ब) प्रतिव्यक्ति आय
- (स) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के कार्यकरण तथा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का सांख्यिकीय विश्लेषण
- (द) समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण

(ग) यदि निर्यात को X तथा आयात को M के रूप में व्यक्त किया जाय तो शुद्ध निर्यात का मूल्य होगा।

- (अ) X-M
- (ब) X=M
- (स) X+M
- (द) M-X

(घ) कर्मचारियों के पारिश्रमिक में क्या सम्मिलित है?

- (अ) नकद मजदूरी तथा वेतन
- (ब) किस्म के रूप में भुगतान
- (स) सेवानिवृत्त कर्मचारियों का पेंशन
- (द) उपर्युक्त सभी

(ङ) स्थायी निवेश में शामिल हैं:-

- (अ) व्यावसायिक स्थायी निवेश
- (ब) परिवारों द्वारा रिहायशी मकानों के निर्माण पर किया गया स्थायी निवेश
- (स) सार्वजनिक या सरकार द्वारा किया गया स्थायी निवेश
- (द) उपर्युक्त सभी

(च) एक लेखा वर्ष के दौरान अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के बाजार मूल्य को कहते हैं:-

- (अ) राष्ट्रीय आय
- (ब) वैयक्तिक आय
- (स) निजी आय
- (द) शुद्ध घरेलू उत्पाद

(छ) घरेलू मूल्य और राष्ट्रीय मूल्य में जो अन्तर होता है, वह बराबर होता है:-

- (अ) आयात एवं निर्यात
- (ब) विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय
- (स) हास
- (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(ज) निम्नलिखित मर्दें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होती है:-

- (अ) विदेशों से उपहार
- (ब) बेरोजगारी भत्ता
- (स) गृहणियों द्वारा प्रदान की गई सेवाएँ
- (द) सैनिक तथा सुरक्षा सेवाएँ

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न :-

- (क) स्व-उपभोग सेवाओं का मूल्य उत्पादन विधि द्वारा गणना की गयी राष्ट्रीय आय में क्यों नहीं शामिल किया जाता है?
- (ख) मूल्य वृद्धि विधि से आप क्या समझते हैं?
- (ग) राष्ट्रीय लेखांकन में सम्मिलित लेखों के नाम बताइये।
- (घ) निजी आय क्या है?
- (ङ) वैयक्तिक आय क्या है?
- (च) बाजार कीमत पर सकल घरेलू उत्पादन में से मूल्यहारस घटाने पर क्या प्राप्त होता है?
- (छ) प्रचालन अधिशेष क्या है?
- (ज) मिश्रित आय किसे कहते हैं?
- (झ) राष्ट्रीय आय की गणना की आधुनिक प्रणाली के रूप में कौन सी प्रणाली जानी जाती है?

5. रिक्त स्थान भरिये :-

- (क) सामाजिक लेखांकन दुहरी लेखा प्रणाली पर आधारित है।
- (ख) $GNP_{FC} = NNP_{FC} + \text{-----}$
- (ग) मूल्य वृद्धि त्र उत्पाद का मूल्य -
- (घ) अन्तिम स्ट्राक-प्रारम्भिक स्टॉक
- (ङ) $NNP_{FC} = NDP_{FC} + \text{.....}$
- (च) बाजार मूल्य और साधन लागत पर राष्ट्रीय उत्पाद बराबर होते हैं जब आर्थिक अनुदान और

3.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप जान चुके हैं कि राष्ट्रीय आय को तीन तरह से परिभाषित किया जाता है- प्रथम वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में एक लेखा वर्ष की अवधि के दौरान अर्थव्यवस्था में उत्पादित अंतिम वस्तुओं तथा सेवाओं के मौद्रिक मूल्य को राष्ट्रीय आय कहते हैं। दूसरी कारक आय के रूप में एक देश के सामान्य निवासियों द्वारा (एक लेखा वर्ष के दौरान) प्राप्त कारक (साधन) आय, जो कि उनके द्वारा अर्पित कारक सेवाओं का पुरस्कार होता है, के कुल जोड़ को राष्ट्रीय आय कहा जाता है। तीसरी व्यय के रूप में एक लेखा वर्ष की अवधि में अंतिम वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के लिए किये गये व्यय का कुल जोड़ राष्ट्रीय कहलाता है। राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने की तीन विधियाँ हैं- प्रथम-उत्पादन विधि अथवा मूल्य वृद्धि विधि, दूसरा- आय विधि तथा तीसरा-व्यय विधि। राष्ट्रीय आय लेखांकन जिसे सामाजिक लेखांकन भी कहा जाता है को राष्ट्रीय आय माप की आधुनिक विधि कहते हैं। सामाजिक लेखांकन वह प्रणाली है जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को सांख्यिकीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें पांच तरह के लेखों का प्रयोग किया जाता है- (i) घरेलू क्षेत्र के लेखे (ii) उत्पादन क्षेत्र के लेखे, (iii) पूँजी क्षेत्र के लेखे (iv) सरकारी क्षेत्र के

लेखे औ (v) विदेशी क्षेत्र के लेखे। राष्ट्रीय आय एवं सामाजिक लेखांकन देश की आर्थिक नियोजन एवं नीतियों बनाने में मदद करती है।

3.9 शब्दावली

मूल्य वृद्धि:- मूल्य वृद्धि किसी उद्यम के उत्पाद के मूल्य तथा इसके मध्यवर्ती उपभोग के मूल्य का अन्तर है।

विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय:- विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय से अभिप्राय अपने निवासियों द्वारा शेष विश्व से अर्जित कारक आय (लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ) तथा गैर निवासियों द्वारा देश में अर्जित कारक आय के अन्तर से है।

आरोपित मूल्य:- उत्पादन का वह भाग जो स्वयं के प्रयोग/उपभोग के लिए रखा जाता है। इन वस्तुओं का आरोपित मूल्य को राष्ट्रीय आय में शामिल करते हैं। आरोपित मूल्य उन वस्तुओं का अनुमान मूल्य है जिसका उत्पादन होता है परन्तु बाजार में नहीं बेचा जाता है। दूसरे शब्दों में जहाँ बाजार मूल्य नहीं आंका जा सकता, वहाँ अनुमानित मूल्य ले लिया जाता है जैसे यदि मकान मालिक स्वयं अपने मकान में रहता है तो मकान का किराया मूल्य बाजार मूल्य पर ही आँक लिया जाता है।

हस्तान्तरण भुगतान:- हस्तान्तरण भुगतान के अन्तर्गत वे सब भुगतान आते हैं। जिनका उत्पादन क्रिया से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता और जिनको प्राप्त करने वाले बदले में कुछ नहीं देते हैं।

पूँजीगत लाभ:- बाजार की कीमतों में वृद्धि के परिणामस्वरूप परिसम्पत्तियों के मुद्रा मूल्य में हुई वृद्धि पूँजीगत लाभ कहलाती है।

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) कारक आय से अभिप्राय किसी व्यक्ति द्वारा अर्जित उस आय से है जो उसे कारक सेवा के बदले में प्राप्त होती है यह उसके श्रम के बदले मजदूरी, उसकी भूमि के लिए लगान, पूँजी के लिए ब्याज अथवा उद्यमिता के लिए लाभ के रूप में हो सकती है।

(ख) हस्तान्तरित आय जैसे; वृद्धावस्था पेंशन, बेरोजगारी भत्ता, छात्रवृत्तियाँ, जेब खर्च आदि को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता। क्योंकि हस्तान्तरण आय के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में कोई मूल्य वृद्धि नहीं होती। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सेवानिवृत्त कर्मचारियों को मिलने वाली पेंशन को राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है क्योंकि यह कर्मचारियों के पारिश्रमिक का भाग है।

(ग) सामाजिक लेखांकन वह प्रणाली है। जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को सांख्यिकीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है ताकि समस्त अर्थव्यवस्था की आर्थिक स्थितियों को पूरी तरह से समझा जा सके। यह आर्थिक ढांचे की अध्ययन की पद्धति है।

(घ) एक लेखा वर्ष की अवधि के दौरान अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के बाजार मूल्य को राष्ट्रीय आय कहते हैं।

अथवा

एक वर्ष की अवधि के दौरान एक अर्थव्यवस्था की सभी उत्पादक इकाइयों द्वारा की गई मूल्य वृद्धि के कुल जोड़ को राष्ट्रीय आय कहा जाता है।

(ड) अर्थव्यवस्था के निर्वाह क्षेत्र तथा सामान्य सरकारी क्षेत्र में प्रचालन अधिशेष नहीं होता है। इसके कारण निम्नलिखित है:

(i) निर्वाह क्षेत्र में उत्पादन केवल उत्पादक परिवारों के निर्वाह के लिए होता है। उत्पादन मंडी में बिक्री के लिए नहीं किया जाता है। कोई बिक्री योग्य अधिशेष नहीं होता। तदुसार कोई प्रचालन अधिशेष नहीं होता है।

(ii) सामान्य सरकारी क्षेत्र में उत्पादन केवल सामूहिक उपभोग के लिए (या सामान्य जनता द्वारा उपभोग के लिए) किया जाता है। वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बाजार में बिक्री के लिए नहीं अपितु जनता के सामान्य कल्याण के लिए किया जाता है। उदाहरण: कानून तथा व्यवस्था की सेवाएँ तथा सुरक्षा सेवाएँ लोगों को निःशुल्क प्रदान की जाती हैं। तदुसार 'सामान्य सरकारी' क्षेत्र में कोई प्रचालन अधिशेष नहीं होता है।

(च) अंतिम व्यय के वर्गीकरण को मोटे तौर पर चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है जो निम्नलिखित हैं-

(i) निजी अंतिम उपभोग व्यय; (ii) सरकारी अंतिम उपभोग व्यय;

(iii) निवेश व्यय; और (iv) शुद्ध निर्यात।

(छ) राष्ट्रीय आय मापने की विधियों के नाम निम्नलिखित हैं-

(i) उत्पादन विधि या मूल्य वृद्धि विधि; (ii) आय विधि;

(iii) व्यय विधि; और (iv) राष्ट्रीय आय लेखांकन अथवा सामाजिक लेखांकन

2 (क) असत्य, (ख) सत्य, (ग) सत्य, (घ) असत्य, (ङ) असत्य, (च) सत्य, (छ) सत्य

3 (क) स, (ख) स, (ग) अ, (घ) द, (ङ) द, (च) अ, (छ) ब

4. (क) स्व उपभोग सेवाओं का मूल्य वृद्धि राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है क्योंकि इनके मूल्य का अनुमान लगाना कठिन होता है। उदाहरण के लिए गृहणियों की सेवा का मूल्य।

(ख) देश की प्रत्येक उत्पादक इकाई के उत्पाद के मूल्य तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के मूल्य के अन्तर को मूल्य वृद्धि कहते हैं।

(ग) राष्ट्रीय आय लेखे के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से पांच प्रकार के लेखे बनाये जाते हैं: 1) परिवार क्षेत्र के लेखे 2) उत्पादन क्षेत्र के लेखे 3) पूँजी क्षेत्र के लेखे और 4) सरकारी क्षेत्र के लेखे 5) विदेशी क्षेत्र के लेखे।

(घ) निजी आय वह आय होती है जो निजी क्षेत्र को, उत्पादन तथा अन्य प्रकार से, सभी स्रोतों से प्राप्त होती है तथा इसमें निगमों के प्रतिधारित (Retained) आय भी शामिल होती है।

(ङ) वैयक्तिक आय परिवारों को प्राप्त सभी प्रकार की कारक आय तथा चालू हस्तान्तरण का कुल जोड़ है।

(च) बाजार कीमत पर शुद्ध घरेलू उत्पादन (NDP_{MP})

(छ) प्रचालन अधिशेष के अन्तर्गत सम्पत्ति तथा उद्यमशीलता से प्राप्त आय को सम्मिलित किया जाता है जैसे- लगान, ब्याज तथा लाभा

(ज) स्व-रोजगार व्यक्तियों की आय को मिश्रित आय कहते हैं।

(झ) सामाजिक लेखांकन विधि

5. (क) दोहरी लेखा प्रणाली, (ख) मूल्यहास, (ग) मध्यवर्ती उपभोग, (घ) स्टॉक में परिवर्तन

(ङ) विदेशों से प्राप्त शुद्ध कारक आय, (च) अप्रत्यक्ष कर

3.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लाल, एस.एन.; एस.के. (1910), “अर्थशास्त्र” शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
 2. सिंघई, जी.सी.; मित्रा, जे.पी. (1910), “अर्थशास्त्र” साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा ।
 3. सेठी, टी.टी. (1904-05) ‘समष्टि अर्थशास्त्र’, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा ।
 4. सिन्हा, वी.सी. (1910-11) “अर्थशास्त्र”, एस.बी.डी. पब्लिशिंग हाउस, आगरा ।
 5. जैन, के.पी. गुप्ता, के.एल. (1906), “अर्थशास्त्र” नवयुग साहित्य सदन, आगरा ।
-

3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- जैन, टी.आर (1912-13) “प्रारम्भिक समष्टि अर्थशास्त्र” के.के. ग्लोबल पब्लिकेशन्स लि. दिल्ली ।
 - सिन्हा, वी.सी. (1910-11) “अर्थशास्त्र”, एस.बी.डी. पब्लिशिंग हाउस, आगरा ।
-

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय आय के माप की क्या विधियाँ हैं? इसमें कौन सी कठिनाईयाँ होती हैं।
2. राष्ट्रीय आय की माप की विभिन्न विधियों की व्याख्या कीजिए।
3. राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित समुच्चय की व्याख्या कीजिए।

इकाई - 4 रोजगार का क्लासिकल सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 मुख्य भाग
 - 4.3.1 प्रतिष्ठित सिद्धान्त का इतिहास
 - 4.3.2 प्रतिष्ठित सिद्धान्त की मान्यतायें
 - 4.3.3 क्लासिकल सिद्धान्त की अवधारणा
- 4.4 प्रतिष्ठित सिद्धान्त का पूर्ण रोजगार सन्तुलन का सिद्धान्त
 - 4.4.1 श्रम की मांग एवं पूर्ति का विश्लेषण
 - 4.4.2 वस्तु बाजार में सन्तुलन या 'से' का बाजार सिद्धान्त
 - 4.4.3 ब्याज दर का निर्धारण का बचत की पूर्ति तथा विनियोजन मांग सिद्धान्त
- 4.5 क्लासिकल माडल की सीमायें
- 4.6 क्लासिकल सिद्धान्त का महत्व
- 4.7 सारांश
- 4.8 शब्दावली
- 4.9 अभ्यास प्रश्न उत्तर
- 4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 4.11 सहायक उपयोगी सामग्री
- 4.12 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना:

पिछले अध्याय में आपने समष्टि अर्थशास्त्र तथा राष्ट्रीय आय के विषय में अध्ययन किया। इस अध्याय (इकाई) में आप रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के विषय में अध्ययन करेंगे। आप जानते हैं कि समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत रोजगार के सैद्धान्तिक विश्लेषण का महत्व जॉन मेनार्ड कीन्स की 1936 में प्रकाशित पुस्तक “**General Theory of Employment, Interest and Money**” द्वारा प्रकट हुआ।

कीन्स के पूर्ववर्ती क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी की समस्या को विशेष महत्व नहीं दिया तथा इस सन्दर्भ में उन्होंने आशावादी दृष्टिकोण अपनाया और इस मान्यता को स्वीकार करते रहे कि दीर्घकालीन में अर्थव्यवस्था में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है।

उनके दृष्टिकोण से सामान्य अत्युत्पादन और इसी कारणवश सामान्य बेरोजगारी असम्भव होती है। क्लासिकल अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार को सामान्य दशा तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन असामान्य दशा का द्योतक समझते थे। उनके अनुसार, यदि अल्पकाल में बेरोजगारी उत्पन्न भी होती है तो तुरन्त उसका प्रतिकार करने के लिए अर्थव्यवस्था में शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूर्ण रोजगार की प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रहती है।

आप एडम स्मिथ की प्रसिद्ध पुस्तक ‘वेल्थ ऑफ नेशन्स’ के विषय में जानते हैं जो कि 1775 में प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशन के बाद धीरे-धीरे एक आर्थिक विचारधारा विकसित हुई, जिसके प्रतिपादक तथा समर्थक अर्थशास्त्रियों में डेविड रिकार्डो, जॉन स्टुअर्ट मिल, जे0बी0 से, अल्फ्रेड मार्शल तथा ए0सी0 पीगू थे। इन अर्थशास्त्रियों की विचारधारा को कीन्स ने चुनौती दी तथा इन्हें क्लासिकल अर्थशास्त्री कहा।

अतः प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अध्ययन से आप रोजगार का विश्लेषण ठीक प्रकार से समझ पायेंगे।

4.2 उद्देश्य:

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के फलस्वरूप आप क्लासिकल सिद्धान्त को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत ठीक प्रकार से समझ सकेंगे:-

- क्लासिकल सिद्धान्त की अवधारणा को बता सकेंगे।
- क्लासिकल सिद्धान्त के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की धारणा को समझ सकेंगे।
- प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न बाजारों में सन्तुलन को बता सकेंगे।
- प्रतिष्ठित सिद्धान्त का कीन्स के रोजगार सिद्धान्त से सम्बन्ध बता सकेंगे।
- प्रतिष्ठित सिद्धान्त के महत्व को ठीक प्रकार से बता सकेंगे।
- प्रतिष्ठित सिद्धान्त को गणितीय समीकरणों के माध्यम से समझा सकेंगे।
- प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कुछ कमियों को भी उजागर कर सकेंगे।

4.3 मुख्य भाग:

4.3.1 प्रतिष्ठित सिद्धान्त का इतिहास

लार्ड कीन्स ने एडम स्मिथ, रिकार्डो, जे०बी० से, मार्शल व पीगू आदि के रोजगार सम्बन्धी विचारों के लिए प्रतिष्ठित सिद्धान्त शब्द का उपयोग किया है।

अब तक आप यह जान गये हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्री 'पूर्ण रोजगार' की धारणा को मानते थे, उनके अनुसार, पूर्ण रोजगार की दशा एक सामान्य दशा है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने रोजगार तथा पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध में अलग से सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किया। उनका सिद्धान्त वस्तुतः उनके श्रम की मांग एवं पूर्ति दृष्टिकोण, 'से' के बाजार सिद्धान्त तथा ब्याज सिद्धान्त से सम्बन्धित विश्लेषणों का सम्मिलित रूप है।

कीन्स ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की विचारधारा को चुनौती दी।

4.3.2 प्रतिष्ठित सिद्धान्त की मान्यतायें

प्रतिष्ठित सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं का अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत कर सकते हैं:-

1. अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की दशा में रहती है क्योंकि अति-उत्पादन का भय नहीं रहने से पूर्ति सदैव मांग के बराबर रहती है।
2. अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों के मध्य पूर्ण प्रतियोगिता रहती है।
3. अर्थव्यवस्था में सरकारी नियंत्रण या हस्तक्षेप का अभाव रहता है।
4. अर्थव्यवस्था में ब्याज दर, मजदूरी दर और कीमतें पूर्णतया लचीली होती हैं और उनका यह लचीलापन ही रोजगार स्तर में वृद्धि करके पूर्ण रोजगार लाने के लिए उत्तरदायी होता है।
5. अर्थव्यवस्था के रोजगार स्तर पर ही राष्ट्रीय आय का स्तर निर्भर करता है।
6. अर्थव्यवस्था एक बन्द अर्थव्यवस्था है अर्थात् उस अर्थव्यवस्था का अन्य अर्थव्यवस्थाओं से लेन-देन के रूप में कोई सम्बन्ध नहीं है।
7. अर्थव्यवस्था में मुद्रा का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता।

इस प्रकार क्लासिकल सिद्धान्त इन सभी मान्यताओं पर निर्भर करता है। अब आप आगे क्लासिकल सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

4.3.3 क्लासिकल सिद्धान्त की अवधारणा:

अब तक आप क्लासिकल सिद्धान्त की सामान्य बातों से परिचित हो गये हैं तथा क्लासिकल सिद्धान्त की मान्यताओं को भी समझ चुके हैं।

अब हम रोजगार के सैद्धान्तिक विश्लेषण का अध्ययन करेंगे। आपको प्रतिष्ठित सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि रोजगार, पूर्ण रोजगार तथा बेरोजगारी से क्या अर्थ है।

रोजगार से अभिप्राय, राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि से है, इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति ऐसी क्रिया में लगा है, जिससे राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है, तो वह बेरोजगार कहा जायेगा।

क्लासिकल अथवा परम्परावादी अर्थशास्त्री इस धारणा के समर्थक थे कि पूर्ण रोजगार युक्त समाज में घर्षणात्मक सामयिक तथा ऐच्छिक बेरोजगारी विद्यमान रहती है अथवा रह सकती है। उनके अनुसार- अनैच्छिक बेरोजगारी की अनुपस्थिति ही पूर्ण रोजगार का द्योतक है।

‘से’ के बाजार नियम को स्वीकार करके प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण रोजगार को एक स्वयंसिद्ध या दी हुई स्थिति मान लिया था जिसमें अनैच्छिक बेरोजगारी के लिए कोई साधन नहीं था। उनके अनुसार-

अनैच्छिक बेरोजगारी अर्थव्यवस्था की स्वतंत्र क्रियाशील में हस्तक्षेप का परिणाम होती है। यदि इन हस्तक्षेपों को दूर कर दिया जाये तो आर्थिक प्रणाली स्वतः समायोजन की प्रवृत्ति के कारण इस बेरोजगारी को दूर कर देगी।

क्लासिकल अर्थशास्त्री मजदूरी कटौती को बेरोजगारी का उपचार मानते थे।

अतः अब आप इस बात से भली प्रकार परिचित हो गये हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्री अर्थव्यवस्था को हमेशा पूर्ण रोजगारीय सन्तुलन की स्थिति में मानते थे।

4.4 प्रतिष्ठित सिद्धान्त का पूर्ण रोजगार सन्तुलन का सिद्धान्त

इससे पूर्व आपने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की अवधारणा को समझ लिया है।

आप इस बात को भी समझ गये हैं कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त पूर्ण रोजगारीय संस्थिति की दशा को स्वीकार करता है।

अब हम प्रतिष्ठित सिद्धान्त के पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहने के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण तीन बातों पर आधारित है:-

(क) श्रम की मांग एवं पूर्ति का सिद्धान्त

(ख) वस्तु बाजार की निकासी या ‘से’ का बाजार सिद्धान्त

(ग) ब्याज दर निर्धारण का बचत की पूर्ति तथा विनियोग मांग सिद्धान्त

अतः जब तीनों बाजारों में एक साथ सन्तुलन की स्थिति होती है, तो अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार सन्तुलन में होगी अर्थात् अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण मांग तथा सम्पूर्ण पूर्ति बराबर होती है।

अब हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार विभिन्न बाजार स्वतः अपने से हमेशा पूर्ण निकासी की स्थिति में बने रहते हैं तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम रहती है।

4.4.1 श्रम की मांग एवं पूर्ति का विश्लेषण:

किसी अर्थव्यवस्था में रोजगार की मात्रा कितनी होगी, इसका निर्धारण श्रमिकों के लिए मांग तथा उसकी पूर्ति के द्वारा किया जा सकता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मतानुसार कुल उत्पादन एवं रोजगार के साम्य का निर्धारण श्रम की मांग एवं श्रम की पूर्ति की अनुसूचियों से होता है।

अतः हम, सबसे पहले श्रम की मांग का अध्ययन करेंगे।

1-श्रम की मांग $\frac{1}{4}$ The Demand for Labour $\frac{1}{2}$ %

श्रम के मांग वक्र की व्युत्पत्ति उत्पादन फलन से की जाती है। यह उत्पादन फलन के ढाल द्वारा प्रदर्शित किया जाता है क्योंकि इसमें श्रम की सीमान्त उत्पादिता समाहित होती है।

उत्पादन फलन (Production Function):-उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन की मात्रा में, उत्पादन फलन सम्बन्ध प्रकट करता है। अन्य शब्दों में उत्पादन (Q), श्रम (L), पूँजी (K), भूमि (N) तथा तकनीक (T) का फलन है अर्थात् $Q = F(L,K,N,T)$

अल्पकाल में पूँजी (K), भूमि (N) तथा तकनीक (T) स्थिर रहते हैं, इसलिए उत्पादन की मात्रा रोजगार के स्तर पर निर्भर करती है। अर्थात्

$$Q = F(L)$$

जैसे-जैसे रोजगार में वृद्धि होगी, उत्पादन के स्तर में भी वृद्धि होगी, लेकिन क्रमागत लागत वृद्धि नियम (उत्पादन हास नियम) के क्रियाशीलन के कारण श्रम का सीमान्त भौतिक उत्पादन (MPP_L) में कमी आयेगी। इस प्रकार, कुल उत्पादन फलन वक्र ऊपर उठता हुआ होगा, अर्थात् कुल उत्पादन फलन को प्रदर्शित करने वाला वक्र धनात्मक ढाल का होगा, जो यह प्रदर्शित करता है, कि जैसे-जैसे रोजगार स्तर बढ़ रहा है, उत्पादन भी बढ़ता है, परन्तु सीमान्त भौतिक उत्पादन (MPP_L) को दर्शाने वाला वक्र मांग वक्र की तरह ऋणात्मक ढाल या नीचे दाहिनी ओर गिरता हुआ होगा।

- इसे आप रेखाचित्र (4.1) से समझ सकते हैं। यही श्रमिक का मांग वक्र है।
- अब आपके सामने प्रश्न यह उठता है कि सेवायोजक कितने श्रमिकों को रोजगार देगा?

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में फर्म श्रमिकों को उस समय तक रोजगार में लगाती हैं जब कि कि मजदूरी स्तर (W) सामान्य कीमत स्तर (P) और श्रमिकों की सीमान्त उत्पादन (MPP_L) के बराबर नहीं हो जाता है। अर्थात्

$$W = P \times MPP_L$$

$$\text{या } MPP_L = \frac{W}{P} \quad \text{----- (i)}$$

यहाँ पर W एक अतिरिक्त श्रमिक को रोजगार देने की लागत को प्रकट करता है तथा $P \times MPP_L$ अतिरिक्त श्रमिक से प्राप्त आय को प्रकट करता है। जब तक एक अतिरिक्त श्रमिक से प्राप्त होने वाली आय उस श्रमिक से प्राप्त होने वाली लागत से अधिक होती है, फर्म अधिकाधिक श्रमिकों को रोजगार देंगी। जैसे-जैसे फर्म अतिरिक्त श्रमिकों को रोजगार देती हैं, उनकी सीमान्त उत्पादित घटती जाती है। इसके परिणामस्वरूप श्रमिकों को केवल उस समय तक रोजगार दिया जायेगा जब तक कि उनकी मजदूरी, सामान्य कीमत-स्तर एवं श्रमिकों को रोजगार देने के लिए इसलिए प्रेरित नहीं होती, क्योंकि अतिरिक्त श्रमिकों की लागत उनसे प्राप्त आय की तुलना में अधिक हो जाती है।

इस प्रकार, इस सम्बन्ध में हम वास्तविक मजदूरी के रूप में प्रकट कर सकते हैं।

इसके लिए, हमें समीकरण (1) के दोनों पक्षों को सामान्य कीमत स्तर (P) से भाग देना होगा।

सूत्र के रूप में :-

$$\frac{W}{P} = \frac{P \times MPP_L}{P} = MPP_L$$

ऊपर दिये गये समीकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि:-

- (i) यदि मौद्रिक मजदूरी को कीमत स्तर से विभाजित कर दिया जाये तो हमें श्रमिक के सीमान्त भौतिक उत्पादन (MPP_L) मालूम हो जाती हैं जो कि वास्तविक मजदूरी के बराबर होगी। अर्थात् मौद्रिक मजदूरी और कीमत अनुपात वास्तविक मजदूरी कहलाती है।
- (ii) चूँकि श्रमिकों की मांग उनकी सीमान्त उत्पादिता पर निर्भर करती है तथा सीमान्त उत्पादिता वास्तविक मजदूरी के बराबर होती है। इसलिए श्रमिकों की मांग वास्तविक मजदूरी का भी फलन होती है।

सूत्र के रूप में,

$$D = f\left(\frac{W}{P}\right)$$

यहाँ D_L श्रमिकों की मांग तथा W/P वास्तविक मजदूरी को प्रकट करते हैं।

श्रमिकों का मांग फलन वास्तविक मजदूरी से विपरीत दिशा में परिवर्तित होता है। दूसरे शब्दों में वास्तविक मजदूरी की दर में कमी करके ही अधिकाधिक श्रमिकों को रोजगार दिया जा सकता है।

इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे अधिकाधिक श्रमिकों को रोजगार दिया जाता है, कुल उत्पादन तो बढ़ता है, लेकिन श्रमिकों की सीमान्त उत्पादित घटती जाती है।

संक्षेप में, आप यह कह सकते हैं कि:-

“श्रम की मांग मजदूरी का घटता हुआ फलन है”

अर्थात् मजदूरी के बढ़ने पर श्रम की मांग कम होती है तथा मजदूरी के कम होने पर श्रम की मांग बढ़ती है।

अतः श्रम का मांग वक्र ऊपर से नीचे गिरता हुआ होता है। जिसे रेखाचित्र में ठीक प्रकार से समझाया गया है:-

मांग वक्र का नीचे की ओर झुकना यह प्रकट करता है कि वास्तविक मजदूरी की दर में कमी करके ही अधिकाधिक श्रमिकों को रोजगार दिया जाता है।

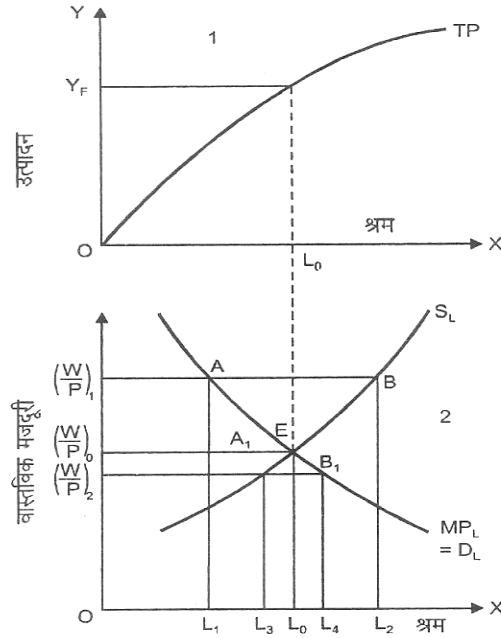
अतः आप श्रम की मांग को दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि वास्तविक मजदूरी अधिक होने पर श्रम की मांग कम तथा वास्तविक मजदूरी कम होने पर श्रम की मांग अधिक होगी।

रेखाचित्र में प्रदर्शित है :-

$$S_L = F(W/P), \quad D_L = f(W/P)$$

$$D_L = S_L = L_0 = (W/P)_0 = W_0 = \text{संस्थिति वास्तविक मजदूरी दर}$$

रेखाचित्र के भाग-1 में समग्र उत्पादन फलन इस मान्यता पर प्रदर्शित है कि पूँजी स्ट्राक (K) तथा टेक्नोलॉजी (T) स्थिर है। इसके आधार पर MPP_L या श्रम की मांग रेखा (भाग-2) में प्रदर्शित है। श्रम का पूर्ति फलन S_L ऊपर उठता हुआ प्रदर्शित है। दोनों फलन E बिन्दु पर एक-दूसरे को काटते हैं, इस प्रकार संस्थिति मजदूरी दर $(W/P)_0$ पर परस्पर बराबर है। OL_0 श्रमिक रोजगार प्राप्त कर लेंगे।



चित्र-4.1

यही पूर्ण रोजगार की संस्थिति स्थिति होगी ।

इस बिन्दु पर जो श्रमिक W_0 पर कार्य करने के लिए इच्छुक है, सभी को रोजगार मिल जायेगा और जो लोग $(W/P)_0$ से ऊँची वास्तविक मजदूरी चाहते हैं वे एच्छक रूप से बेरोजगार कहे जायेंगे।

इस प्रकार OL_0 पूर्ण रोजगार स्तर का प्रतीक है, इससे सम्बन्धित OY_f उत्पादन पूर्ण रोजगार उत्पादन है।

श्रम की पूर्ति:-श्रम की पूर्ति से आशय श्रम की उस संख्या से है, जो वास्तविक मजदूरी की निश्चित दर पर काम करने को तैयार होते हैं। श्रमिकों को आराम का त्याग करके काम करना होता है:

अर्थात् जब वह रोजगार में आता है तो उसे कुछ अनुपयोगिता मिलती है, जिसकी क्षतिपूर्ति उसे वास्तविक मजदूरी के द्वारा होती है। केवल वास्तविक मजदूरी अधिक होने पर ही श्रम की पूर्ति बढ़ती है।

आप जानते हैं कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि श्रमिकों की पूर्ति वास्तविक मजदूरी का फलन होती है अर्थात्

$$S_L = f \left(\frac{W}{P} \right) \quad \text{----- 5}$$

पूर्ति वक्र का ढाल नीचे से ऊपर दांयी ओर होगा। यह धनात्मक होता है, इसका ढाल दायीं और बहुत तीव्र है जिसका आशय यह है कि वास्तविक मजदूरी में वृद्धि की तुलना में पूर्ति में अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है।

श्रम की मांग और पूर्ति में समानता तथा पूर्ण रोजगार :- अब तक आपने श्रम की मांग तथा श्रम की पूर्ति के विषय में अध्ययन कर लिया है। अब आप इस बात का अध्ययन करेंगे कि श्रम बाजार में साम्य की स्थिति का निर्धारण कैसे होता है।

आप जानते हैं कि साम्य के लिए मांग तथा पूर्ति का बराबर होना आवश्यक है।

अतः श्रम बाजार में साम्य उस बिन्दु पर निर्धारित होगा, जहाँ श्रम की मांग श्रम की पूर्ति की बराबर होगा, अर्थात्

$$D_L = S_L \quad \text{----- 6}$$

समीकरणों की सहायता से साम्य की अवस्था का निर्धारण निम्न प्रकार किया जा सकता है।

$$Q = f(L) \quad \text{उत्पादन फलन} \quad (1)$$

$$W = P \times MPP_L \quad \text{मजदूरी स्तर} \quad (2)$$

$$\frac{W}{P} = \frac{P \times MPP_L}{P} \quad MPP_L \quad \text{वास्तविक मजदूरी(3)}$$

$$D_L = f\left(\frac{W}{P}\right) \quad \text{मांग फलन} \quad (4)$$

$$S_L = f\left(\frac{W}{P}\right) \quad \text{पूर्ति फलन} \quad (5)$$

$$\frac{D_L}{S_L} = \quad \text{श्रम बाजार में साम्य} \quad (6)$$

साम्य की अवस्था को चित्र में दिखाया गया है। साम्य का बिन्दु $(W/P)_0$ है, यह पूर्ण रोजगार का बिन्दु है।

यदि वास्तविक मजदूरी दर $(W/P)_1$ संस्थित मजदूरी दर से ऊँची हों $(W/P)_1 > (W/P)_0$ तो श्रम की पूर्ति उसकी मांग से अधिक होगी।

चित्र में, श्रम की मांग OL_1] तथा पूर्ति OL_2] है, तब श्रम की पूर्ति उसकी मांग से अधिक है।

$$OL_2 > OL_1$$

तो ऐसी स्थिति में बेरोजगारी की स्थिति होगी। **AB** या L_1L_2 श्रमिक अनैच्छिक बेरोजगार होंगे। पर बेरोजगारी में पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण, वास्तविक मजदूरी में कमी आयेगी, बेरोजगारी की मात्रा में कमी आयेगी और अन्ततः पूर्ण रोजगार की संस्थिति स्थापित हो जायेगी।

इसके विपरीत यदि वास्तविक मजदूरी दर $(W/P)_2$ हो जो संस्थित मजदूरी दर से कम है, तो $(W/P)_2 < (W/P)_0$ मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी क्योंकि श्रमिक इस मजदूरी पर अपनी इच्छा से बेरोजगार रहना पसन्द करेंगे। क्योंकि यह दर उनकी अनुपयोगिता को पूरा करने में पर्याप्त नहीं है।
अन्ततः मजदूरी दर ऊपर उठेगी और साम्य मजदूरी दर स्थापित हो जायेगी।

अभ्यास प्रश्न: I

(i) सही विकल्प चुनकर लिखिये:

(1) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थव्यवस्था में बाजार होते हैं:

- | | |
|-----------------|-------------------|
| (अ) श्रम बाजार | (ब) वस्तु बाजार |
| (स) पूँजी बाजार | (द) उपर्युक्त सभी |

(2) निम्नलिखित में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री नहीं हैं:

- | | |
|--------------|-----------|
| (अ) रिकार्डो | (ब) कीन्स |
| (स) मार्शल | (द) पीगू |

(ii) सत्य-असत्य बताइये:-

- (1) पूर्ति अपनी मांग स्वयं उत्पन्न करती है। यह कथन मार्शल का है (सत्य / असत्य)
(2) यह समीकरण वास्तविक मजदूरी को व्यक्त करता है: $W = P \times MPP_L$ (सत्य / असत्य)

(iii) रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:-

- (1) प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की एक महत्वपूर्ण शर्त है।
(2) जे बी से का बाजार नियम पर लागू होता है।

(iv) सही विकल्प चुनिये:-

(1) “मुद्रा स्तर मुद्रा के परिणाम द्वारा निर्धारित होता है” यह मत है:

- | | |
|------------|--------------|
| (अ) मार्शल | (ब) पीगू |
| (स) फिशर | (द) कोई नहीं |

(2) पीगू के अनुसार दीर्घकालीन बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है:

- | | |
|------------------------------|--------------------------------|
| (अ) मजदूरी दर स्थिर रखकर | (ब) मजदूरी दर बढ़ाकर |
| (स) मजदूरी दर में कटौती करके | (द) तीनों स्थितियाँ सम्भव हैं। |

मजदूरी दर में कटौती तथा बेरोजगारी का निवारण:-

अब तक के अध्ययन में आप यह समझ गये हैं कि मजदूरी में कटौती करके बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है। प्रो० पीगू का भी यही विचार था कि यदि बेरोजगारी की स्थिति में अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाये तो नगद मजदूरी में अपने आप इतनी कटौती हो जायेगी कि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो सके। प्रो० पीगू ने इस सन्तुलन को निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया है :-

$$N = \frac{QY}{W}$$

N = रोजगार की मात्रा

QY = राष्ट्रीय आय का वह भाग जो मजदूरी के रूप में दिया जाता है।

W = नगद मजदूरी की दर

समीकरण से आप समझ सकते हैं कि रोजगार की मात्रा (N) तथा नगद मजदूरी की दर (W) में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। यदि राष्ट्रीय आय में से मजदूरों को दिया जाने वाला भाग OY स्थिर रहता है तो मजदूरी की दर (W) के कम होने से रोजगार की मात्रा (N) में वृद्धि होगी।

इसके विपरीत यदि श्रम संगठन तथा सरकार के हस्तक्षेप के कारण मजदूरी की ऊँची दर निर्धारण होती है तो श्रम बाजार की अपूर्णताओं के कारण बेरोजगारी की स्थिति बनी रहेगी।

इस तथ्य को आपने रेखाचित्र में स्पष्ट रूप से जान लिया है कि मांग वक्र का नीचे की ओर झुकना यह व्यक्त करता है कि वास्तविक मजदूरी की दर में कमी करके ही अधिकाधिक श्रमिकों को रोजगार दिया जा सकता है।

4.4.2 वस्तु बाजार में सन्तुलन या 'से' का बाजार सिद्धान्त:

वस्तु बाजार को उस समय साम्य की अवस्था में कहा जाता है जब वस्तुओं की सामूहिक मांग (D_x) उसकी सामूहिक पूर्ति (S_x) के बराबर होती है।

यदि S_x > D_x तो अति उत्पादन की स्थिति होगी फलतः श्रम बाजार में भी बेरोजगारी उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार यदि वस्तु बाजार में असाम्यता है तो साधन बाजार में भी असाम्यता उत्पन्न हो जायेगी।

अर्थव्यवस्था में अधि-उत्पादन बेरोजगारी की स्थिति का सूचक है।

आप इस बात को अच्छी तरह समझ गये हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्री अधि-उत्पादन को मानते ही नहीं, उनके अनुसार, अर्थव्यवस्था में जो उत्पादित होगा वो पूरा का पूरा बिक जायेगा। अधि-उत्पादन होगा ही नहीं।

अपनी इस बात की पुष्टि के लिए वे दो सिद्धान्तों का सहारा लेते हैं :-

(i) 'से' का बाजार सिद्धान्त

(ii) वस्तु बाजार में मूल्य यंत्र का स्वतन्त्र क्रियाशीलन

'से' का बाजार सिद्धान्त

'से' के सिद्धान्त की अवधारणा:-

जे0बी0 से (1776-1832) एक फ्रेंच अर्थशास्त्री थे। 'से' का सिद्धान्त यह विवेचन प्रस्तुत करता है कि किसी भी अर्थव्यवस्था में अति उत्पादन तथा सामान्य बेरोजगारी असम्भव है।

'से' इस मत के थे कि उत्पादन की कोई क्रिया बेरोजगार श्रमिकों तथा अन्य साधनों को रोजगार देगी। इसके फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन के मूल्य के बराबर साधनों की आय का सृजन हो जायेगा। इस प्रकार उत्पादन की पूर्ति में वृद्धि साथ ही साथ मांग में वृद्धि लायेगी।

समग्र मांग सदैव समग्र पूर्ति के बराबर होगी।

‘से’ का बाजार सिद्धान्त:-

‘से’ ने यह प्रतिपादित किया कि पूर्ति अपनी मांग का सृजन स्वयं करती है। जिसका अर्थ यह है कि कोई भी उत्पादक जो बाजार में वस्तुओं को लाता है, वह केवल उन्हें अन्य वस्तुओं के बदले बदलने के लिए लाता है। ‘से’ ने यह माना कि लोग काम एवं उत्पादन उपभोग से मिलने वाली सन्तुष्टि का आनन्द उठाने के लिए ही करते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि कोई भी उत्पादक, उपभोग की आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए ही उत्पादन करता है। वह जो भी उत्पादन करता है, वह दो उद्देश्यों से करता है।

- उस वस्तु की अपनी उपभोग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, तथा
- अपनी व्यवहार्यता की अन्य वस्तुओं को इन वस्तुओं के बदले प्राप्त करने के लिए।
- ऐसी स्थिति में अधि-उत्पादन नहीं होगा। क्लासिकल अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि उत्पादन ही उपभोग के लिए होता है।

जेम्स मिल ने यह मत व्यक्त किया:- “उपभोग तथा उत्पादन दोनों अन्योन्याश्रित हैं तथा साथ-साथ चलते हैं।”

‘से’ के सिद्धान्त का सबसे अधिक समर्थन जॉन स्टुअर्ट मिल ने किया।

उनके अनुसार- “प्रत्येक विक्रेता आवश्यक रूप से क्रेता होता है।”

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा अर्थव्यवस्था को भी स्वीकार किया है।

मुद्रा के बीच में आने से अर्थव्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होगा, अन्तर केवल इतना ही होगा कि अर्थव्यवस्था में विनियम वस्तु के माध्यम से न होकर मुद्रा के माध्यम से होगा, लेकिन मुद्रा का संचय नहीं होगा, क्योंकि वह बेकार है।

- आपने क्लासिकल सिद्धान्त में ‘से’ के बाजार नियम को अच्छी तरह समझ लिया है।

इस प्रकार, ‘से’ के बाजार नियम में,

कुल उत्पादन = कुल आय (जो लगान, मजदूरी, ब्याज, लाभ के रूप में साधनों को प्राप्त हुई)

$$\sum O = \sum Y$$

क्लासिकल बचत के पक्ष में नहीं थे। इसलिए

कुल उत्पादन = कुल आय = कुल उपयोग व्यय

$$\sum O = \sum Y = \sum E = \sum C$$

$$\sum O = \sum C$$

इस प्रकार,

आप यह स्पष्ट रूप से जान लें कि जब कुल उत्पादन ही, कुल उपभोग के बराबर होगा अर्थात् कुल पूर्ति कुल मांग के सदैव बराबर होगी, न अल्प उत्पादन होगा, न अधि-उत्पादन।

(ii) मूल्य यंत्र का स्वतंत्र क्रियाशीलन:-

वस्तु बाजार सदैव पूर्ण सन्तुलन की स्थिति में होगा, इसके लिए नियो-क्लासिकल अर्थशास्त्री मूल्य यंत्र के स्वतन्त्र क्रियाशीलन पर बल देते हैं। उनका कहना कि यदि मांग एवं पूर्ति की शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से क्रियाशील हों तो मूल्य यंत्र मांग और पूर्ति के बराबर रखने में हमेशा सफल रहेगा। यदि किसी स्थिति में वस्तु उसकी मांग की पूर्ति से अधिक हो तो मूल्य तब तक ऊपर उठेगा, पूर्ति बढ़ेगी जब तक यह मांग के बराबर न हो जाये और इसके विपरीत यदि मांग पूर्ति से कम हो तो मूल्य तब तक नीचे गिरेगा जब तक कि मांग-पूर्ति के बराबर न हो जाये। इस प्रकार जब तक मूल्य यंत्र के स्वतंत्र क्रियाशीलन पर रोक नहीं हो, मांग तथा पूर्ति परस्पर बराबर बनी रहेगी और वस्तु बाजार पूर्ण निकासी की स्थिति में बना रहेगा।

मूल्य यंत्र के स्वतंत्र क्रियाशीलन का रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शन:

आप देख रहे हैं कि रेखाचित्र DD मांग वक्र है जो $D=f(P)$ है तथा पूर्ति वक्र $SS(s=f(P))$ के रूप में प्रदर्शित हैं, संस्थिति या पूर्ण निकासी की स्थिति P_0 पर हैं जबकि $D=S$ यदि $S>D$ हों तो मूल्य ऊँचा होगा।

आप यदि P_1 मान लें तो पूर्ति आधिक्य के कारण मूल्य तब तक नीचे आयेगा जब तक मांग पूर्ति के बराबर नहीं हो जाती, यही समायोजन उस समय भी होगा, जब $D>S$

इस स्थिति में मूल्य तब तक ऊपर उठेगा, जब तक कि $D=S$ नहीं होगा।

4.4.3 ब्याज दर का निर्धारण का बचत की पूर्ति तथा विनियोजन मांग सिद्धान्त:-

इससे पूर्व के अध्ययन से आप क्लासिकल सिद्धान्त की महत्वपूर्ण बातों को समझ गये हैं कि क्लासिकल मॉडल तीन बाजारों के सन्तुलन स्थिति को

बताता है, श्रम बाजार, वस्तु बाजार तथा पूँजी बाजार।

जिसमें से आपने श्रम बाजार में सन्तुलन और वस्तु बाजार में सन्तुलन को समझ लिया है। अब आप पूँजी बाजार में सन्तुलन की स्थिति को समझेंगे।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार बचत तथा विनियोग के समान होने

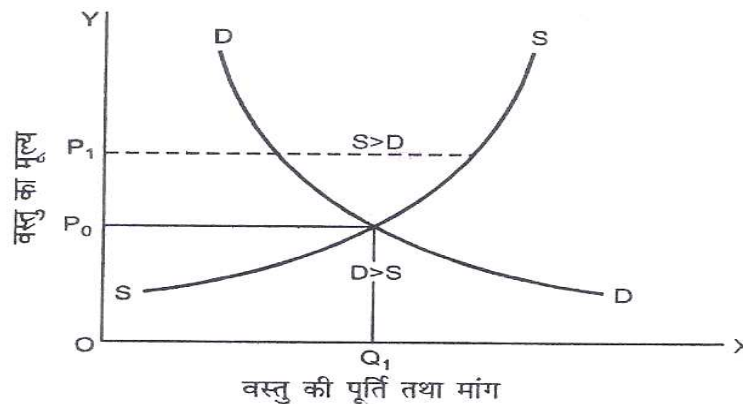
की स्थिति में सन्तुलन पाया जायेगा, यदि बचत और विनियोग बराबर नहीं है तो प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार, ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन बचत तथा विनियोग को बराबर कर देंगे तथा वस्तु बाजार में सन्तुलन स्थापित हो जायेगा और पूर्ण रोजगार की स्थिति को क्रायम रखा जा सकेगा।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार विनियोग तथा बचत दोनों ही ब्याज दर पर निर्भर करते हैं अर्थात्

$S = f(r)$ बचत फलन

$I = f(r)$ विनियोग फलन

$S = I$ पूँजी बाजार में साम्य ऊपर समीकरण में



(i) बचत का ब्याज की दर का प्रत्यक्ष फलन माना है अर्थात् ब्याज की दर बढ़ने पर विनियोग कम किया जाता है और ब्याज की दर कम होने पर बचत कम होती है।

(ii) इसके विपरीत विनियोग ब्याज की दर का विपरीत फलन है अर्थात् ब्याज की दर बढ़ने पर विनियोग कम किया जाता है और ब्याज की दर कम होने पर विनियोग अधिक किया जाता है।

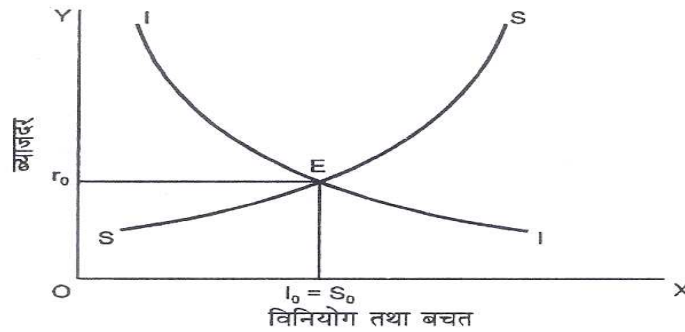
(iii) ब्याज की दर सन्तुलनकारी घटक है अर्थात् ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन विनियोग तथा बचत को सदैव बराबर रखते हैं।

यदि किसी अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी पायी जाती है तो इसका अर्थ होगा कि विनियोग आवश्यकता से कम किया जा रहा है, अर्थात् विनियोग बचत से कम है ($I > S$) अर्थात् कुल मांग, कुल पूर्ति से कम है। इसके फलस्वरूप ब्याज की दर कम होगी। ब्याज की दर कम होने पर बचत की प्रेरणा कम होगी तथा बचत कम की जायेगी परन्तु विनियोग अधिक किया जायेगा।

इस प्रकार विनियोग तथा बचत बराबर हो जायेंगे।

$$(I=S)$$

विनियोग के बढ़ने पर वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा और रोजगार में वृद्धि होगी। इस प्रकार बेरोजगारी को समाप्त करके पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। चित्र 4.3



पूँजी बाजार में सन्तुलन की स्थिति को चित्र में दिखाया गया है:-

1. चित्र में OX अक्ष पर बचत तथा विनियोग को प्रकट किया गया है तथा OY अक्ष पर ब्याज की दर को प्रकट किया गया है। DD वक्र पूँजी की मांग वक्र या विनियोग वक्र है तथा SS वक्र पूँजी की पूर्ति वक्र या बचत वक्र है।

2. ये दोनों वक्र बिन्दु E पर एक-दूसरे को काट रहे हैं, अर्थात् बिन्दु E सन्तुलन बिन्दु है। इस बिन्दु से ज्ञात होता है कि जब ब्याज की दर O_{r_0} हैं तो विनियोग तथा बचत ($I=S$) बराबर हैं, अर्थात् पूँजी बाजार में सन्तुलन है।

3. यदि ब्याज की दर बढ़ कर O_{r_1} हो जाती है तो पूँजी की पूर्ति अर्थात् बचत अधिक होगी और पूँजी की मांग अर्थात् विनियोग कम होगा ($I < S$)। पूँजी की मांग की पूर्ति की तुलना में कम होने के ब्याज की दर O_{r_1} से कम होकर O_{r_0} हो जायेगी। इसके विपरीत यदि ब्याज की दर कम होकर O_{r_2} हो जाती है तो पूँजी की मांग अर्थात् विनियोग अधिक होगा तथा पूँजी की मांग अर्थात् विनियोग अधिक होगा तथा पूँजी की पूर्ति अर्थात् बचत ($I > S$) कम होगी। इसके फलस्वरूप ब्याज की दर बढ़कर O_{r_0} हो जायेगी।

4. इससे सिद्ध होता है कि ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तन वस्तु बाजार को सन्तुलन में रखेंगे अर्थात् पूर्ण रोजगार की अवस्था को कायम रख सकेंगे।

(i) ब्याज की दर बचत व विनियोग में समानता उत्पन्न कर देती है।

(ii) बचत व विनियोग की समानता, समस्त मांग व पूर्ति की समानता को बताती है जो कि पूर्ण रोजगार उत्पादन का बताती है।

(iii) यदि बचत व विनियोग में असन्तुलन होता है तो मुद्रा अधिकारियों को ब्याज की दर को प्रभावित कर सन्तुलन की स्थिति को पुनर्स्थापित करना चाहिए।

इस प्रकार आप इस तथ्य से पूर्णतः परिचित हो गये हैं कि सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली के निरन्तर पूर्ण रोजगार सन्तुलन में बने रहने के लिए श्रम बाजार, वस्तु बाजार और पूँजी बाजार में समायोजन होते रहते हैं।

4.5 क्लासिकल माडल की सीमायें

आपने क्लासिकल सिद्धान्त का अध्ययन ठीक प्रकार से कर लिया है तथा क्लासिकल सिद्धान्त की मुख्य बातों को अच्छी तरह से समझ चुके हैं।

आप जानते हैं कि सम्पूर्ण क्लासिकल सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित हैं कि मूल्य यंत्र का स्वतंत्र क्रियाशील श्रम बाजार, वस्तु बाजार तथा वित्त बाजार को हमेशा पूर्ण सन्तुलन की स्थिति में रखेगा, जिसके कारण अर्थव्यवस्था में हमेशा सन्तुलन की स्थिति बनी रहेगी।

केन्स ने क्लासिकल दृष्टिकोण को चुनौती दी है। केन्स ने यह पाया कि यह सिद्धान्त 1930 की महान मंदी में तर्कसंगत नहीं है, उनके अनुसार क्लासिकल मॉडल केवल एक सिद्धान्त ही है, यह व्यावहारिक जीवन में खरा नहीं उतरता है।

केन्स की पुस्तक 'जनरल थियरी' 1936 में प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की जमकर आलोचना की। केन्स ने क्लासिकल सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की है:-

(1) विनियोग तथा बचत की समता सम्बन्धी क्लासिकल दृष्टिकोण ठीक नहीं - केन्स ने यह तर्क रखा कि उत्पादन के साधनों को जो आय प्राप्त होती है उसके दो-दो रूप हैं उपभोग पर व्यय (C) तथा बचत (S)

अर्थात् $(Y=C+S)$

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह माना कि बचत व्यय का ही रूप है, क्योंकि इन्होंने यह माना कि जो बचत होगी, स्वतः वस्तुओं में विनियोजित होगी। इस प्रकार समग्र बचत की मात्रा वही होगी, केवल उसके अंगों में परिवर्तन हो जायेगा।

केन्स ने कहा कि बचत स्वतः विनियोग का रूप प्राप्त कर ले यह आवश्यक नहीं क्योंकि बचतकर्ता और विनियोगकर्ता दो अलग-अलग व्यक्ति या समूह होते हैं। एक समूह बचत करता है और दूसरा विनियोग। दोनों का बराबर होना आवश्यक नहीं है।

(2) राष्ट्रीय उत्पादन के राष्ट्रीय उपभोग से अधिक होने की सम्भावना तथा 'से' के सिद्धान्त का लागू होगा:- केन्स ने यह तर्क रखा कि आधुनिक समाज मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त है, धनी वर्ग तथा गरीब वर्ग तथा इनके बीच आय तथा सम्पत्ति का समान वितरण नहीं है, जो धनी हैं उनके पास सम्पत्ति तथा आय की बहुत

अधिक मात्रा है, उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कम होने के कारण ये सबका उपभोग नहीं कर सकते। दूसरी ओर गरीबों के पास अपनी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त आय और सम्पत्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय उत्पादन राष्ट्रीय उपभोग से अधिक हो सकता है और फिर समग्र मांग समग्र पूर्ति से कम होगी और अधि उत्पादन की स्थिति होगी।

(3) पूर्ण रोजगार की संस्थिति की धारणा अव्यावहारिक:- कीन्स ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजगार की संस्थिति की आधारभूत मान्यता को अव्यावहारिक बताया तथा अपूर्ण रोजगार स्तर पर संस्थिति की अधिक सम्भावना की ओर संकेत किया।

क्लासिकल अर्थशास्त्री असन्तुलन की सम्भावना को स्वीकार ही नहीं करते। कीन्स ने कहा कि यह स्थिति एक सामान्य प्रतिभास है।

(4) दीर्घकालीन संस्थिति की धारणा अनुपयोगी:- कीन्स ने अल्पकाल को माना और दीर्घकाल की आलोचना करते हुए कहा कि दीर्घकाल में हम सभी मर जाते हैं।

(5) क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा के मूल्य संग्रह कार्य की उपेक्षा:- कीन्स ने मुद्रा के संग्रह पर बल दिया और कहा कि व्यक्ति अपनी आय को संचित करके मुद्रा में रख सकती है।

(6) अनावश्यक रूप से ब्याज दर यंत्र पर विशेष विश्वास:- कीन्स ने क्लासिकल के इस मत को चुनौती दी कि ब्याज दर में परिवर्तन का कोई भी प्रभाव बचत तथा ब्याज के ऊपर नहीं पड़ेगा।

उदाहरण के लिए - ब्याज के शून्य होने पर भी बचत धनी वर्ग करता है, और भविष्य में अनिश्चितता के कारण बिना ब्याज दर को ध्यान में रखे गरीब व्यक्ति भी बचत करेगा। जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, वह पूँजी की सीमान्त दक्षता पर निर्भर है, ब्याज पर नहीं।

(7) लचीली, मजदूरी दर तथा पूर्ण रोजगार:- कीन्स ने सबसे कटु आलोचना क्लासिकल अर्थशास्त्रियों, विशेष रूप से प्रो० पीगू के इस दृष्टिकोण की कि “लचीली मजदूरी दर बेरोजगार की सबसे सफल चिकित्सा है तथा यदि मजदूर मजदूरी में कटौती को स्वीकार करने के लिए तैयार रहे तो बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। पर कीन्स ने पीगू के इस दृष्टिकोण को दो आधारों पर गलत सिद्ध किया व्यवहारिक आधार पर तथा सैद्धान्तिक आधार पर। व्यवहारिक पक्ष पर आलोचना करते हुए कीन्स ने यह व्यक्त किया कि मजदूर संघ आधुनिक प्रणाली के एक महत्वपूर्ण तथा अभिन्न अंग हैं और इनके रहने पर नियोक्ता मनमाने ढंग से मजदूरी में कटौती नहीं ला सकता है। इनके द्वारा मजदूरों में कटौती का विरोध स्वाभाविक है। इतना ही नहीं एक कल्याणकारी राज्य में मजदूरी की न्यूनतम दर स्वाभाविक रहती है। जिसके नीचे मजदूरी को नहीं लाया जा सकता है। इस प्रकार मजदूरी में कटौती करना सरल नहीं है। सैद्धान्तिक पहलू पर कीन्स ने यह कहा कि पीगू ने इस तथ्य की आलोचना की कि मजदूरी की सामान्य कटौती प्रभावपूर्ण मांग में कमी लायेगी और आय में कमी लोगों की व्यय योग्य आय में कमी लायेगी। फलस्वरूप प्रभावपूर्ण मांग में कमी होगी, जिसके कारण उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में कमी होगी, वृद्धि नहीं (जैसा कि पीगू ने माना) उन्होंने यह माना कि मजदूरी की कटौती के बाद समग्र मांग अपरिवर्तित रहेगी। पीगू का यह दृष्टिकोण सर्वथा गलत है। यह कभी लागू नहीं हो सकता।

(8) क्लासिकल द्वैत:-क्लासिकल द्वैत से आशय एक ऐसी स्थिति से है, जिसमें अर्थव्यवस्था के वास्तविक चरों जैसे उत्पादन, रोजगार, विनियोग, बचत क्लासिकल प्रणाली में यहाँ तक की ब्याज दर का निर्धारण वास्तविक चरों द्वारा होता है, मौद्रिक चरों द्वारा नहीं होता है। इस प्रकार वास्तविक तथा मौद्रिक क्षेत्र स्वतंत्र रूप से बने रहते हैं। क्लासिकल प्रणाली में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि समग्र मांग में वृद्धि लायेगी तथा समग्र मांग में वृद्धि केवल मूल्य स्तर में वृद्धि लायेगी, वास्तविक चरों में परिवर्तन नहीं लायेगी। ब्याज दर जो दोनों क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की कड़ी का कार्य करता है, इससे अप्रभावित रहेगा। कीन्सियन अर्थशास्त्र इसे अस्वीकार करता है।

4.6 क्लासिकल सिद्धान्त का महत्व

आपने क्लासिकल सिद्धान्त का विवरण अच्छी तरह समझ लिया है। अब आप क्लासिकल सिद्धान्त के महत्वों का वर्णन कर सकते हैं:-

‘से’ का बाजार नियम प्रतिष्ठित सिद्धान्त का मर्म है। यह सिद्धान्त वस्तु बाजार में मांग-पूर्ति के सन्तुलन की व्याख्या करता है।

Bapiste ने अपने ग्रन्थ - "Traited Economic Politique" में इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि पूर्ति सदैव अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती है तथा उत्पादन ही वस्तुओं के बाजार का सृजन करता है।

इस कारण अति-उत्पादन या बेरोजगारी नहीं होगी। इन्होंने क्लासिकल सिद्धान्त को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना।

जे0एस0 मिल ने इसकी महत्ता को बताते हुए कहा कि “उपभोग, उत्पादन का सह-विस्तारी है तथा मांग का कारण तथा एकमात्र कारण उत्पादन ही होता है। वार्षिक उत्पादन की मात्रा कितनी भी क्यों न हो वह वार्षिक मांग से ज्यादा नहीं हो सकती।”

हैन्सन के अनुसार यह नियम मुद्रा अर्थव्यवस्था पर भी लागू होता है।

अभ्यास प्रश्न: 2

(I) सही विकल्प चुनिए

1. प्रतिष्ठित रोजगार का सिद्धान्त सम्बन्धित है?

- (i) एडम स्मिथ (ii) जे.बी. से
(iii) जे.एम. कीन्स (iv) इनमें से कोई नहीं

2. रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त किस मान्यता पर आधारित है?

- (i) पूर्ण रोजगार (ii) पूर्ण प्रतियोगिता
(iii) कोई सरकारी हस्तक्षेप (iv) उपर्युक्त सभी

(II) सत्य/असत्य

- (i) जे.बी. से का सिद्धान्त सरकारी हस्तक्षेप को स्वीकार करता है।
(ii) जे.बी. से के अनुसार अति उत्पादन एक असम्भव दशा है।
(iii) पीगू के अनुसार मजदूरी कटौती द्वारा पूर्ण रोजगार स्तर को बनाये रखा जा सकता है।

(iv) प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त दीर्घकालीन सन्तुलन की मान्यता लेता है।

(III) रिक्त स्थान भरिए-

(i) प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त रोजगार की मान्यता पर आधारित है।

(ii)..... के अनुसार सन्तुलित वास्तविक मजदूरी दर सन्तुलित रोजगार का निर्धारण करती है।

(iii) पूर्ति स्वतः अपनी उत्पन्न कर लेती है।

4.7 सारांश

क्लासिकल मॉडल का अध्ययन करने के पश्चात आपको क्लासिकल मॉडल की मुख्य बातों अर्थात् उसके सारांश को समझना आवश्यक है। अर्थात् सार रूप में सिद्धान्त क्या है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार अर्थव्यवस्था में मुख्यतः तीन बाजार हैं:-

1. श्रम बाजार
2. वस्तु बाजार तथा
3. पूँजी बाजार

उनके द्वारा यह तर्क दिया गया था कि मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा इन बाजारों में सन्तुलन स्थापित होकर अर्थव्यवस्था से पूर्ण रोजगार स्थापित हो जाता है।

प्रतिष्ठित मॉडल को निम्न समीकरणों की सहायता से वर्णित किया जा सकता है-

1)	$Q = f(L)$	उत्पादन फलन
2)	$W = P \times MPP_L$	मजदूरी स्तर
3)	$\frac{W}{P} = \frac{P \times MPP_L}{P}$	MPP_L वास्तविक मजदूर
4)	$D_L = f\left(\frac{W}{P}\right)$	मांग फलन
5)	$S_L = f\left(\frac{W}{P}\right)$	पूर्ति फलन
6)	$D_L = S_L$	श्रम बाजार में साम्य
7)	$MV = PT$	मुद्रा की पूर्ति=मांग
8)	$S = f(r)$	बचत फलन
9)	$I = f(r)$	विनियोग फलन
10)	$S = I$	पूँजी बाजार में साम्य

प्रतिष्ठित सिद्धान्त खुली अर्थव्यवस्था में भी लागू होता है। यदि अर्थव्यवस्था खुली है तो आयातों पर जो व्यय किया जायेगा, वह व्यय की भांति चक्रीय प्रवाह में एक और क्षरण होगा, परन्तु यदि विदेशी लोभ अर्थव्यवस्था के निर्यातों पर उतनी धनराशि व्यय कर दें तो इसे सुधारा जा सकता है। यही नहीं कीमत प्रणाली का यह कार्य आयातों और निर्यातों को बराबर कर देना है। यदि अर्थव्यवस्था में भुगतान सन्तुलन में कुछ घाटा हो तो आय का स्तर गिर जायेगा। फलतः बेरोजगारी बढ़ेगी और मजदूरी की दरों में कमी होगी। इस प्रकार निर्यात सस्ता हो जायेगा, जिसके परिणामस्वरूप उसकी मांग बढ़ जायेगी।

इसके विपरीत अन्य देशों में जहाँ भुगतान सन्तुलन में अतिरेक होगा, वहाँ मजदूरी की दरों और कीमतों में वृद्धि होगी। फलतः उनके निर्यात की मांग कम हो जायेगी। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक भुगतान सन्तुलन की विषमता समाप्त नहीं हो जाती।

4.8 शब्दावली

- **पूर्ण रोजगार**:-पूर्ण रोजगार से तात्पर्य क्लासिकल मॉडल में तीन बाजारों में साम्य से है तथा जब समस्त अर्थव्यवस्था में मांग तथा पूर्ति बराबर हो।
- **क्लासिकल अर्थशास्त्री**:-एडम स्मिथ की पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद एक आर्थिक विचारधारा विकसित हुई, जिसके प्रतिपादक और समर्थक अर्थशास्त्रियों में रिकार्डो, मिल, मार्शल, पीगू थे। कीन्स ने इन अर्थशास्त्रियों को क्लासिकल कहा।
- **बाजार सिद्धान्त**:-पूर्ति अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती है।
- **विनियोग**:-साधनों से प्राप्त आय का एक रूप विनियोग होता है, जिससे उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होती है।
- **बचत**:-बचत आय का प्रमुख रूप है। यदि आय अधिक है तो बचत भी उसी आधार पर होगी। व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग व्यय न करके भविष्य के लिए संचय करता है, वह बचत कहलाती है।

4.9 अभ्यास प्रश्न उत्तर

अभ्यास प्रश्न के उत्तर:1

- (i) 1. द 2. ब (ii) 1. असत्य 2. सत्य
- (iii) 1. स्वतंत्र नीति 2. वस्तु विनियम तथा मुद्रा विनियम
- (iv) 4. स (फिशर) 5. स (मजदूरी दर में कटौती करके)

अभ्यास प्रश्न के उत्तर:2

- (I) 1. II 2. Iv (II) (i) असत्य (ii) सत्य (iii) सत्य (iv) सत्य
- (III) (i) पूर्ण (ii) ए.सी. पीगू (iii) मांग

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लाल एस.एन. “समष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण”, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
 2. सेठी टी.टी., “समष्टि अर्थशास्त्र”, लक्ष्मीनारायण नारायण अग्रवाल, आगरा।
 3. आहूजा, एच.एल. “उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र” एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, दिल्ली।
 4. Jhingran M.I. "Macroeconomics Theory" Vrinda Publication.
 5. मिश्रा जे.पी. “समष्टि अर्थशास्त्र” साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
 6. सिन्हा वी.सी. एवं सिन्हा पुष्पा - “समष्टि अर्थशास्त्र” साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
-

4.11 सहायक उपयोगी सामग्री

- Ackely, G.(1978), Macro Economics. Theory and policy, Macmillian, New York.
 - Ahuja, H.L. ((2010) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
 - Shapiro, E (1996), Macroeconomic Analysis, Galgotin Publications, New Delhi.
 - Mishra, S. K. and Puri, V. K., (2003), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.
-

4.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। किन्स ने किन आधारों पर उनकी आलोचना की थी?
2. परम्परावादी रोजगार सिद्धान्त के मुख्य निष्कर्षों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. रोजगार के क्लासिकल सिद्धान्त और उसमें सन्तुलन की प्रक्रिया को समझाइए।
4. बाजार के नियम की स्वतः समायोजन प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए। किन्स इस नियम से क्यों सहमत नहीं थे?

इकाई - 5 केन्सीयन सिद्धान्त

इकाई संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 उद्देश्य
- 5.3 केन्स का रोजगार सिद्धान्त
 - 5.3.1 कुल मांग फलन
 - 5.3.2 कुल पूर्ति फलन
 - 5.3.3. रोजगार के सन्तुलन स्तर का निर्धारण
 - 5.3.4 अभ्यास प्रश्न
- 5.4 सामान्य रोजगार सिद्धान्त का सार
- 5.5 राष्ट्रीय आय का निर्धारण
- 5.6 केन्स के रोजगार सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
 - 5.6.1 केन्स के सिद्धान्त का महत्व
 - 5.6.1 (अ) सैद्धान्तिक महत्व
 - 5.6.1 (ब) व्यवहारिक महत्व
 - 5.6.2 केन्स के सिद्धान्त की आलोचना
- 5.7 क्लासिकल तथा केन्सियन मॉडल की तुलनात्मक स्थिति
- 5.8 सारांश
- 5.9 शब्दावली
- 5.10 अभ्यास प्रश्न
- 5.11 सहायक उपयोगी सामग्री
- 5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में आपने प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त का अध्ययन किया जिसमें पूर्ण रोजगार को एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थिति माना गया जिसके अन्तर्गत बेरोजगारी अस्थायी एवं असाधारण स्थिति होती है जो कुछ समय के उपरान्त स्वतः समाप्त हो जाती है। किन्तु केन्स ने रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि यह अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। केन्स का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं है इसलिए कुछ अर्थशास्त्री केन्स के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का ही एक विकसित एवं परिष्कृत रूप मानते हैं। केन्स ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त से अलग एक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे प्रतिष्ठित सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है। इस इकाई में हम केन्स के रोजगार सिद्धान्त का अवलोकन करेंगे क्योंकि यह आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। केन्स द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण एक अल्पकालीन विश्लेषण है। सबसे पहले हम देखेंगे कि किस प्रकार केन्स ने अर्थव्यवस्था में रोजगार एवं उत्पादन के स्तर का निर्धारण अर्थव्यवस्था में उत्पादन क्षमता के प्रयोग या समग्र पूर्ति तथा व्यय की मात्रा पर आधारित समग्र मांग के द्वारा किया है। आपको सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि कीन्सियन प्रणाली में समग्र पूर्ति तथा समग्र मांग वक्रों का क्या स्वरूप होगा तथा किस प्रकार इनके द्वारा अर्थव्यवस्था में रोजगार (उत्पादन) का निर्धारण होता है। आप प्रभावपूर्ण मांग की अवधारणा से अवगत होंगे तथा किस प्रकार प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण कुल माँग एवं कुल पूर्ति द्वारा होगा जानेंगे। रोजगार का निर्धारण करने के उपरान्त हम जानेंगे केन्स ने किस प्रकार राष्ट्रीय आय का निर्धारण किया। अल्पकाल में राष्ट्रीय आय के अधिक होने का अर्थ है रोजगार की अधिक मात्रा और राष्ट्रीय आय के कम होने का अर्थ है रोजगार की कम मात्रा अर्थात् केन्स का सिद्धान्त रोजगार निर्धारण के साथ-साथ राष्ट्रीय आय निर्धारण का सिद्धान्त भी है। अतः रोजगार तथा राष्ट्रीय आय दोनों को निर्धारित करने वाले तत्व समान हैं।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि-

- सर्वप्रथम हम इस इकाई में जानेंगे प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण किस प्रकार कुल मांग एवं कुल पूर्ति द्वारा होता है।
- इसमें हम सामान्य रोजगार सिद्धान्त के सार को तालिका के रूप में प्रस्तुत करेंगे।
- इसके उपरान्त हम केन्स द्वारा राष्ट्रीय आय का निर्धारण किस प्रकार हुआ जानेंगे।
- इसमें हम केन्स के सिद्धान्त का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे जिसके अन्तर्गत उसके महत्व एवं त्रुटियों की व्याख्या करेंगे।

5.3 केन्स का रोजगार सिद्धान्त

केन्स ने अपनी पुस्तक “रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त - **General Theory of Employment, Interest and Money** में प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण किया और नया रोजगार तथा आय सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रोजगार अथवा आय के निर्धारण के विषय में केन्स का आधार समर्थ मांग का नियम है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में रोजगार का निर्धारण समस्त पूर्ति और समस्त मांग द्वारा होगा। अल्पकाल में उत्पादन के अन्य साधन जैसे पूँजी, तकनीक आदि स्थिर रहते हैं। रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करता है। सामान्यतः प्रभावपूर्ण मांग से आशय वस्तुओं को खरीदने की सामर्थ्य से है। प्रभावपूर्ण मांग कुल मांग के उस स्तर को कहते हैं जिस पर वह कुल पूर्ति के बराबर होगी। दूसरे शब्दों में प्रभावपूर्ण मांग कुल मांग वक्र पर स्थित वह बिन्दु है जहाँ कुल पूर्ति वक्र इसे काटता है।

प्रभावपूर्ण मांग = राष्ट्रीय उत्पादन या कुल उत्पादन मूल्य

राष्ट्रीय उत्पादन का कुल मूल्य और उद्योगपतियों द्वारा माल की बिक्री से प्राप्त होने वाली आय में कोई अन्तर नहीं होता। अतः प्रभावपूर्ण मांग को राष्ट्रीय आय या उत्पादन के साधनों की कुल आय (मजदूरी + किराया + ब्याज + लाभ) के रूप में भी प्रदर्शित किया जा सकता है।

प्रभावपूर्ण मांग = राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य = राष्ट्रीय आय

उत्पादन के साधनों को जो आय प्राप्त होती है, उसे अर्थव्यवस्था में उत्पन्न वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने में व्यय करते हैं। अतः प्रभावपूर्ण मांग एक ओर तो उपभोग की वस्तुओं पर किये गये राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है, दूसरी ओर यह विनियोग की वस्तुओं पर किये गये राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है।

प्रभावपूर्ण मांग = राष्ट्रीय उत्पादन = राष्ट्रीय आय = राष्ट्रीय व्यय (C+I)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है:-

1. राष्ट्रीय आय (Y) रोजगार के स्तर (N) पर निर्भर करता है। $Y=f(N)$
2. रोजगार का स्तर (N) प्रभावपूर्ण मांग (ED) पर निर्भर करता है। $N=f(ED)$
3. प्रभावपूर्ण मांग (ED) कुल मांग कीमत (AD) तथा कुल पूर्ति का मत (AS) पर निर्भर करती है।

$ED=AD=AS$

4. प्रभावपूर्ण मांग बढ़ने एवं घटने के साथ रोजगार, उत्पादन व राष्ट्रीय आय में बढ़ोत्तरी एवं घटोत्तरी होगी।
 5. रोजगार उपभोग खर्च की मात्रा और विनियोग खर्च की मात्रा पर निर्भर करता है।
 6. प्रभावपूर्ण मांग उपभोग की वस्तुओं और विनियोग की वस्तुओं पर किये गये खर्च की मात्रा के बराबर होती है।
- केन्स के अनुसार प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण दो तत्वों से होता है:-

(i) कुल मांग फलन

(ii) कुल पूर्ति फलन

5.3.1 कुल मांग फलन

किसी अर्थव्यवस्था में रोजगार के विभिन्न स्तरों पर उत्पादित वस्तुओं के ऊपर सभी व्यय करने वाली इकाइयों के द्वारा किया जाने वाला प्रत्याशित समग्र व्यय ही समग्र मांग है तथा समग्र मांग फलन एक ओर अर्थव्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं के ऊपर प्रत्याशित समग्र व्यय तथा दूसरी ओर समग्र रोजगार अथवा उत्पादन या आय के बीच सम्बन्ध प्रदर्शित करता है क्योंकि केन्स कीमत-स्तर को स्थिर मान लेते हैं। इसलिए वस्तुओं तथा सेवाओं पर किया गया व्यय उनकी मात्राओं को व्यक्त करता है। जैसे देश में रोजगार की मात्रा में वृद्धि होगी वैसे जनता द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं पर व्यय अर्थात् मांग कीमत बढ़ेगी। अतः समस्त मांग वक्र रोजगार के बढ़ने से ऊपर की ओर चढ़ता है। यदि अधिक श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध करके उत्पादन बढ़ाया जाय तो समस्त मांग या कुल व्यय में वृद्धि तो होती है किन्तु कम दर से क्योंकि रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि के साथ कुल मांग अथवा व्यय में वृद्धि समान अनुपात से नहीं होगी। अतः अधिक रोजगार व उत्पादन की मात्राओं पर समस्त मांग वक्र की ढाल घट जाती है (रेखाचित्र 5.1 में वक्र।क)। यदि सरकार द्वारा व्यय एवं निर्यात द्वारा उत्पन्न मांग को न लें तो समस्त मांग दो बातों पर निर्भर होगा (1) उपभोग मांग अथवा उपभोग व्यय जो लोगों की उपभोग के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग को दर्शाता है। (2) उद्यमकर्ताओं द्वारा निवेश पर किया गया व्यय या निवेश मांग। उपभोग व्यय, आय तथा उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर करेगा। समाज की उपभोग प्रवृत्ति यदि दी हुई हो तो उपभोग मांग आय में वृद्धि के साथ बढ़ेगी। किन्तु इसकी वृद्धि, आय में वृद्धि की तुलना में कम होगी। इसलिए उपभोग मांग वक्र आय के बढ़ने के साथ ऊपर की ओर चढ़ेगा। अगर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (उंतहपदंस चतवचमदेपजल जव बवदेनउम) स्थिर रहे तो उपभोग सरल रेखा के रूप में देगा। किन्तु यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति घटेगी तो उपभोग मांग वक्र का ढाल आय में वृद्धि के साथ घटेगी। समस्त मांग का दूसरा घटक निवेश मांग को केन्स ने आय से स्वतन्त्र माना। निवेश की मांग ब्याज की दर और पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अर्थात् पूँजी निवेश की प्रत्याशित लाभ की दर पर करेगी।

5.3.2 कुल पूर्ति फलन:- अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की किसी एक संख्या को रोजगार में लगाने पर उन श्रमिकों द्वारा किये गये समस्त उत्पादन की कुल लागत को अर्थव्यवस्था की समस्त पूर्ति कीमत कहते हैं। अर्थात् किसी भी उद्यमी को अपने माल की कीमत कम से कम कितनी मिलनी चाहिए, यह उसकी उत्पादन लागत पर निर्भर करता है। रोजगार का कोई भी स्तर तभी तक बनाये रखना सम्भव होगा जब तक कि उस स्तर पर माल की बिक्री से प्राप्त होने वाली मुद्रा राशि उत्पादन लागत की राशि से कम नहीं होगी। रोजगार पर लगाए गये श्रमिकों की भिन्न संख्याओं पर अर्थव्यवस्था की कुल लागत या समस्त पूर्ति कीमत भिन्न-भिन्न होगी अर्थात् रोजगार पर लगाये गये श्रमिकों की भिन्न संख्याओं के अनुसार अर्थव्यवस्था की समस्त पूर्ति कीमत वक्र के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। समस्त पूर्ति वक्र दायीं ओर ऊपर चढ़ेगा और इसका ढाल अर्थव्यवस्था के उत्पादन की दी हुई भौतिक या तकनीकी दशाओं पर निर्भर करेगा। अगर उत्पादन की तकनीकी दशाएं ऐसी हो कि उत्पादन बढ़ने से सीमान्त लागत में वृद्धि न हो तो समस्त पूर्ति वक्र ऊपर की ओर चढ़ता हुआ सरल रेखा होगा। अगर तकनीकी दशाएं इस प्रकार हो कि अधिक श्रमिकों को काम पर लेने से हासमान प्रतिफल मिले तो समस्त पूर्ति वक्र की ढाल बढ़ेगी और ऐसा लगेगा कि रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि से सीमान्त तथा औसत लागतें बढ़ेंगी। (रेखाचित्र 5.1 में AS)

5.3.3 रोजगार के सन्तुलन स्तर का निर्धारण

अर्थव्यवस्था में कुल मांग क्रिया उद्यमियों की प्राप्तिओं और कुल पूर्ति क्रिया उनकी कुल लागतों का प्रतिनिधित्व करता है। इन्हीं दोनों तत्वों से अर्थव्यवस्था में रोजगार स्तर निर्धारित होगा। रोजगार में विस्तार उस हद तक होगा जब तक कि लागतें प्राप्तिओं से कम होगी और इनके एक दूसरे के बराबर होने तक यह क्रम चलता है। यदि लागतें प्राप्तिओं से अधिक होने पर उद्यमकर्ता रोजगार देने के लिए तैयार नहीं होंगे।

यदि कुल मांग क्रिया (**Aggregate Demand Function**) तथा कुल पूर्ति क्रिया (**Aggregate Supply Function**) की वक्र रेखाएं तैयार की जायें तो जिस बिन्दु पर यह दोनों रेखाएं एक दूसरे को काटती हैं वह प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु होगा अर्थात् प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु वह है जो रोजगार के एक विशेष स्तर पर कुल मांग कीमत (प्राप्तियाँ) तथा कुल पूर्ति कीमत (लागतें) एक दूसरे के बराबर होंगी। इसको अल्पकालीन सन्तुलन बिन्दु कहते हैं और यह रोजगार के स्तर को निर्धारित करेगा।

रेखाचित्र 5.1 में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में जितने व्यक्ति काम पर लगाये गये हैं, उनकी संख्या को **X** अक्ष पर दिखाया गया है और उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं को बेचने से सभी उद्यमियों को कुल प्राप्त होने वाली रकम को, अर्थात् जितनी कुल रकम सारा समाज उद्यमियों द्वारा प्रस्तुत उत्पादन पर व्यय करता है, उसे **Y** अक्ष पर दिखाया गया है।

AS वक्र के अनुसार यदि उद्यमियों को निश्चित हो कि उन्हें N_1C रूपये अवश्य प्राप्त होंगे तो वे श्रमिकों को ON_1 संख्या को रोजगार पर लगायेंगे। **AD** वक्र के अनुसार जब उद्यमी ON_1 व्यक्तियों को रोजगार पर लगाते हैं तो वे आशा करते हैं कि उन्हें N_1H रूपये ON_1 व्यक्तियों द्वारा किये गये उत्पादन को बेचने से प्राप्त होंगे।

AS वक्र पहले धीमी गति से ऊँचा उठता है अर्थात् जैसे-जैसे रोजगार पर लगाये गये व्यक्तियों की संख्या बढ़ेगी वैसे उत्पादन पर लागत शीघ्र नहीं बढ़ेगी अर्थात् शुरू में उत्पादन लागत शीघ्र नहीं बढ़ेगी। यदि उद्यमियों की प्राप्ति राशि बढ़ती जायेगी तो रोजगार का स्तर बढ़ता जायेगा। जब तक जितने भी व्यक्ति रोजगार, चाहते हैं उन्हें लगा लिया जायेगा। रेखाचित्र 5.1 में ON_F लोग रोजगार चाहते हैं, जैसे ही उद्यमियों को $N_F R$ राशि प्राप्त होगी वे सभी व्यक्तियों को लगा लेंगे। इसके बाद यदि उद्यमियों की प्राप्ति राशि $N_F R$ से बढ़ जाये या **OT** से बढ़ जाये कुल रोजगार ON_F से आगे नहीं बढ़ेगा और यह पूर्ण रोजगार का स्तर होगा। ON_F स्तर पर समस्त पूर्ति वक्र **AS** लम्बरूप हो जायेगा।

AD आरम्भ से ही बड़ी तीव्रता से ऊँचा चढ़ने लगेगा क्योंकि शुरू में रोजगार बढ़ने के साथ उद्यमियों को उत्पादन से प्राप्त राशि की आशा तेजी से बढ़ेगी। परन्तु रोजगार के पर्याप्त बढ़ जाने पर प्राप्त राशि इतनी तेजी से नहीं बढ़ेगी। अर्थव्यवस्था में समस्त मांग एवं समस्त पूर्ति द्वारा यह निर्धारित होता है कि उद्यमियों द्वारा कितने लोग रोजगार पर लगाए जायेंगे। जब तक समस्त मांग कीमत समस्त पूर्ति कीमत से अधिक होगी तब तक लाभ अर्जित करने के अवसर मौजूद होंगे और यह उद्यमियों को रोजगार बढ़ाने के लिए प्रेरित करेगा। रेखाचित्र 5.1 में **E** से बायें जब तक रोजगार का स्तर ON_2 नहीं हो जाता, समस्त मांग समस्त पूर्ति से अधिक होगी। फलस्वरूप उद्यमी और श्रमिक रोजगार पर लगायेंगे।

यदि रोजगार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या ON_2 से बढ़ जाये तो **AD** वक्र **AS** वक्र के दायें ओर चला जायेगा अर्थात् समस्त पूर्ति कीमत समस्त मांग कीमत से अधिक हो जायेगी। रोजगार ON_2 स्तर से बढ़ जाने पर उद्यमियों को

लाभ के स्थान पर हानि होगी, अतः वे कम व्यक्ति काम पर लगायेंगे। श्रमिकों की छंटनी तब तक होगी जब तक कि कुल रोजगार ON_2 तक नहीं पहुंच जाता। ON_2 रोजगार का वह स्तर है जहाँ समस्त मांग वक्र और समस्त पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में रोजगार तब सन्तुलन की अवस्था में होगा जब उद्यमियों को अपना उत्पादन बेचने से उतनी राशि मिलने की आशा होती है जितनी राशि उन्हें अवश्य मिलनी चाहिए जिससे वे रोजगार के उस स्तर को प्रस्तुत करने पर उद्यत हों। सन्तुलन में पूर्ण रोजगार होना आवश्यक नहीं क्योंकि जब समस्त मांग और समस्त पूर्ति एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं तब अर्थव्यवस्था सन्तुलन में तो है परन्तु अभी भी पर्याप्त बेकारी है (N_2F श्रमिक रोजगार चाहते हैं किन्तु बेरोजगार हैं)। यह तभी बढ़ेगी तब किन्हीं अनुकूल कारणों से समस्त मांग इतनी बढ़ जाय (OM से बढ़कर OT) कि उद्यमी अब ON_F श्रमिक काम पर लगाने को तैयार हो जाते हैं और जितने लोग काम करना चाहते हैं, बेकार नहीं बचते। **रेखाचित्र**

5.1

अभ्यास प्रश्न: 1

(i) सही विकल्प चुनिए:

1. निम्न में से कौन सा कथन केन्स के रोजगार सिद्धान्त के विरुद्ध है?

(अ) रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भिक बिन्दु प्रभावपूर्ण मांग का सिद्धान्त है।

(ब) प्रभावपूर्ण मांग का उपभोग व्यय तथा निवेश के बराबर होती है।

(स) प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु वह है जहाँ कुल मांग कीमत कुल पूर्ति कीमत से अधिक होती है।

(द) यह आवश्यक नहीं है कि रोजगार सन्तुलन पूर्ण रोजगार के स्तर पर ही हो।

2. केन्स के रोजगार सिद्धान्त के सम्बन्ध में सही क्या है?

(अ) दीर्घकालीन विश्लेषण

(ब) कुल पूर्ति क्रिया की अल्पकाल में स्थिरता

(स) निवेश क्रिया की स्थिरता

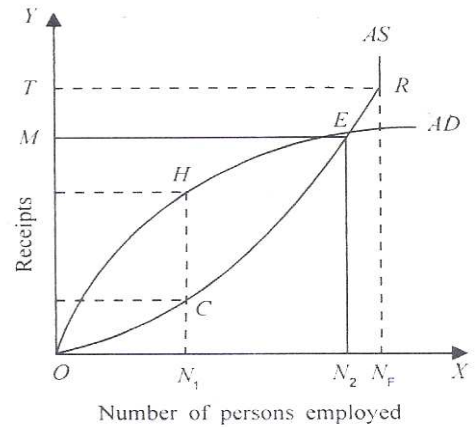
(द) रोजगार का सन्तुलन पूर्ण रोजगार स्तर पर ही सम्भव।

3. केन्स का रोजगार सिद्धान्त “मन्दी का अर्थशास्त्र” है क्योंकि :-

(अ) यह सामान्य सिद्धान्त है।

(ब) अल्पकाल में पूर्ति क्रिया स्थिर है।

(स) रोजगार स्तर प्रभावपूर्ण मांग पर आधारित है। (द) तुलनात्मक स्थैतिकी विश्लेषण



(ii) रिक्त स्थान भरिए:

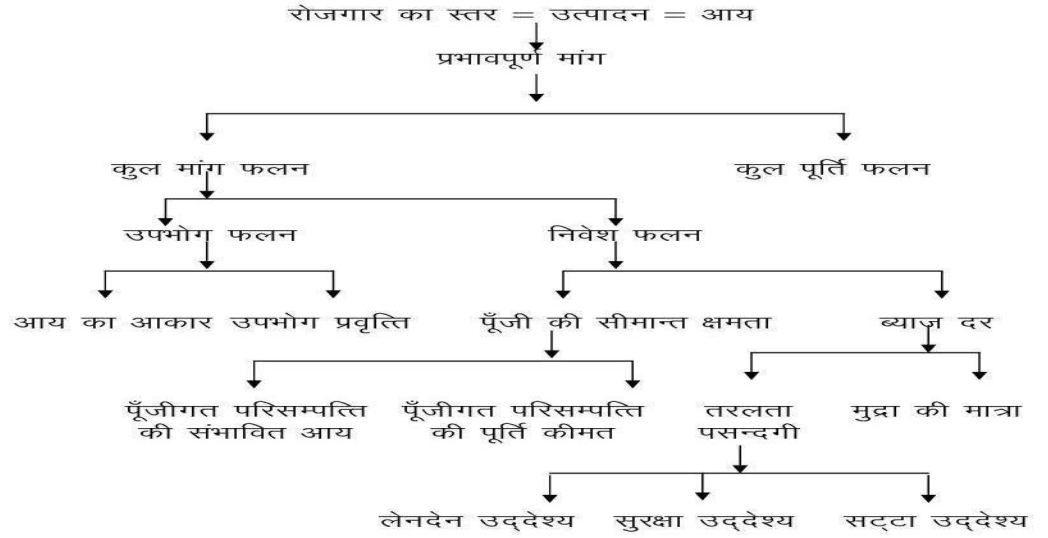
1. केन्स के अनुसार, निवेश की मांग एक ओर और दूसरी ओर पर निर्भर करती है।
2. केन्स ने अपनी पुस्तक में प्रतिष्ठित रोजगार की आलोचना के साथ रोजगार तथा आय का नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया।
3. केन्स का सिद्धान्त निर्धारण एवं निर्धारण का सिद्धान्त है।
4. सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में रोजगार का निर्धारण समस्त और समस्त द्वारा होगा।
5. समस्त पूर्ति वक्र का ढाल कितना होगा यह अर्थव्यवस्था के उत्पादन की दी हुई दशाओं पर निर्भर करेगा।
6. अगर उत्पादन की तकनीकी दशाएं ऐसी हो कि उत्पादन बढ़ाने से सीमान्त लागत में वृद्धि न हो रही हो तो समस्त पूर्ति वक्र ऊपर की ओर चढ़ता हुई की आकृति का होगा।

5.4 सामान्य रोजगार सिद्धान्त का सार:

1. किसी देश की कुल आय उसके कुल रोजगार पर निर्भर करेगा क्योंकि कुल आय कुल उत्पादन के बराबर होती है और उत्पादन की मात्रा रोजगार स्तर पर निर्भर करेगी।
2. कुल रोजगार अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण मांग के आकार पर निर्भर करेगा जो सन्तुलन स्तर पर उपभोग मांग तथा निवेश की जोड़ होती है और सन्तुलन की अवस्था में समस्त मांग समस्त पूर्ति के बराबर होगी।
3. केन्स ने कुल पूर्ति क्रिया को अल्पकाल में स्थिर माना अतः कुल मांग क्रिया को अपने सिद्धान्त में महत्वपूर्ण स्थान दिया।
4. प्रभावपूर्ण मांग दो प्रकार की मांगों का जोड़ होती है, उपभोग के लिए मांग एवं निवेश के लिए मांग
5. उपभोग मांग उपभोग प्रवृत्ति और आय पर निर्भर करती है और अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहती है।
6. निवेश मांग दो बातों पर निर्भर करती है:- (i) पूँजी की सीमान्त क्षमता (ii) ब्याज दर/निवेश मांग को अस्थिर तत्व माना गया है जिसका कुल मांग पर काफी प्रभाव पड़ता है।
7. पूँजी की सीमान्त उत्पादकता दो बातों पर निर्भर करती है- (क) लाभ की आशासाएँ (ख) पूँजीगत पदार्थों को नए सिरे से बनाने की लागत। लाभ की आशासाओं में लगातार परिवर्तन होता है। अतः पूँजी की सीमान्त क्षमता में भी काफी उतार-चढ़ाव होता है। नये पूँजीगत पदार्थों की लागत अथवा पूर्ति कीमत अल्पकाल में स्थिर रहती है।
8. ब्याज दर दो तत्वों से निर्धारित होती है- (1) मुद्रा की मात्रा (2) तरलता अधिमान/तरलता अधिमान के तीन उद्देश्य होते हैं:- लेनदेन, सुरक्षा तथा सट्टा। मुद्रा की मात्रा सरकार की मौद्रिक नीति द्वारा नियंत्रित होती है। केन्स ने ब्याज दर को भी अल्पकाल में स्थिर तत्व माना है।
9. विनियोग प्रेरणा जिससे रोजगार का स्तर प्रभावित होता है, निर्भर करेगा कि पूँजी की सीमान्त क्षमता तथा ब्याज दर में अन्तर कितना है। ब्याज दर पूँजी की सीमान्त क्षमता से कम होने पर विनियोग प्रेरणा अधिक होगी। क्योंकि ब्याज दर स्थिर मानी गई है अतः मुख्य निर्धारक पूँजी की सीमान्त क्षमता है।

10. रोजगार बढ़ाने के लिए प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि की जानी चाहिए और यह विनियोग व्यय में वृद्धि की जानी चाहिए और यह विनियोग व्यय में वृद्धि से सम्भव है क्योंकि अल्पकाल उपभोग क्रिया स्थिर रहती है।

11. गुणक के प्रभाव से विनियोग में वृद्धि आय व रोजगार में कई गुना अधिक वृद्धि करती है, क्योंकि विनियोग की एक इकाई कई गुना विनियोग उत्पन्न कर देती है।



5.5 राष्ट्रीय आय का निर्धारण:

किसी भी अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय या उत्पाद (Y) समग्र व्यय के बराबर होगी।

राष्ट्रीय उत्पाद (Y) = समग्र व्यय = पारिवारिक क्षेत्र का उपभोग व्यय (C) + व्यापारिक क्षेत्र का विनियोग व्यय (I) + सरकार का व्यय (G)

इस प्रकार संस्थिति की स्थिति में $Y=C+I+G$ समीकरण से यह स्पष्ट होता है कि अर्थव्यवस्था में Y का निर्धारण समग्र मांग या समग्र व्यय द्वारा होगा। कीन्सियन प्रणाली की व्याख्या के पूर्व कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:-

(i) यदि हम सुविधा के लिए मान लें सरकारी व्यय नहीं हो रहा तो राष्ट्रीय आय का वह स्तर संस्थिति आय हो जो अर्थव्यवस्था में समग्र व्यय के बराबर हो लब्ध आय = उपभोग व्यय + विनियोग व्यय। इन तीनों चरों के दो रूप होते हैं:- वास्तविक तथा प्रत्याशित अथवा नियोजित वास्तविक आय हमेशा ही वास्तविक उपभोग तथा वास्तविक विनियोग के योग के बराबर होगी पर जब यही नियोजित उपभोग तथा नियोजित विनियोग के योग के बराबर हो तो संस्थिति आय का निर्धारण होगा। अगर वास्तविक उपभोग (C), वास्तविक विनियोग (I), नियोजित उपभोग (C) तथा नियोजित विनियोग (I) से व्यक्त करें तो संस्थिति आय निर्धारण की दशा में

$$Y=C^*+I^* = C+I$$

$Y-C=S$ आय तथा उपभोग का अन्तर बचत प्रदर्शित करता है। अगर हम मान लें वास्तविक उपभोग हमेशा नियोजित उपभोग के बराबर हो तो संस्थिति आय वहाँ निर्धारित होगी जहाँ नियोजित बचत = नियोजित विनियोग

$$I=S$$

(ii) कीन्सियन प्रणाली की व्याख्या व्यय करने वाली इकाइयों से सम्बन्धित होगी। इसको ध्यान में रखते हुए तीन स्थितियाँ होंगी:-

- (1) जब व्यय करने वाली दो इकाइयाँ हो - पारिवारिक क्षेत्र तथा व्यापारिक क्षेत्र, इसे हम द्विक्षेत्रीय कीन्सियन मॉडल कहते हैं। समग्र मांग के तत्व के रूप में केवल $C+I$ को लेते हैं।
- (2) जब व्यय करने वाली इकाइयाँ तीन हों - पारिवारिक क्षेत्र, व्यापारिक क्षेत्र तथा सरकारी व्यय, इसे हम त्रिक्षेत्रीय मॉडल कहते हैं। समग्र मांग के तत्व के रूप में $C+I+G$ को लेते हैं। अर्थव्यवस्था को मन्दी से बाहर निकालने के लिए सरकारी व्यय को लेना केन्स की विलक्षणता है। कीन्स यह मानकर चलते हैं कि सभी सरकारी व्यय सरकार के उपभोग को प्रदर्शित करते हैं।
- (3) कीन्सियन मॉडल बन्द अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित है इसलिए मूलतः त्रिक्षेत्रीय व्यवस्था से सम्बन्धित है किन्तु इसे चार क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था यानि खुली हुई अर्थव्यवस्था पर भी लागू किया जा सकता है यदि व्याख्या में हम निर्यात तथा आयात को लें तो संस्थित की दशा होगी।

$$Y=C+I+G+(X-M)$$

$X-M=$ निबल निर्यात प्रदर्शित करता है।

(iii) कीन्सियन प्रणाली में समग्र पूर्ति दी हुयी है, आय तथा रोजगार निर्धारण में उसकी सक्रिय भूमिका नहीं है किन्तु संस्थिति आय मालूम करने के लिए इसे लेना जरूरी है। इसे हम समता रेखा के रूप में लेते हैं। समता रेखा $Y=C+I$

(iv) मॉडल में लिये गये सभी चर वास्तविक चर हैं, सरलता के लिए मूल्य को इकाई मान लें तो मौद्रिक चर का मूल्य वास्तविक चर के मूल्य के बराबर होगा। व्याख्या में हम ब्याज दर नहीं सम्मिलित कर रहे हैं।

(v) पूरी व्याख्या अल्पकाल से सम्बन्धित है अतः राष्ट्रीय उत्पाद तथा रोजगार को एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग में लिया जा सकता है।

$C+I+G$ अथवा सरकारी क्षेत्र को लेते हुए रोजगार, राष्ट्रीय आय का निर्धारण वास्तव में कीन्सियन मॉडल को प्रदर्शित करता है क्योंकि कीन्सियन मॉडल में I की वृद्धि नहीं ला सकती है, इससे G की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है, अर्थव्यवस्था को मन्दी से उबारने के लिए।

कीन्सियन प्रणाली में रोजगार का निर्धारण समग्र मांग तथा समग्र पूर्ति के द्वारा होता है। कीन्सियन अर्थव्यवस्था मूलतः अवसादग्रस्त अर्थव्यवस्था है। अतः बेरोजगारी मूलतः समग्र मांग की कमी के कारण उत्पन्न होती है। समग्र मांग जो समग्र व्यय का दूसरा नाम है, की वृद्धि अथवा समग्र रेखा का ऊपर की ओर विवर्तन के माध्यम से उत्पादन के स्तर में वृद्धि लायी जा सकती है। कीन्स के अनुसार उपभोग व्यय (C) में वृद्धि के द्वारा समग्र मांग में वृद्धि नहीं लायी जा सकती क्योंकि C आय का गिरता हुआ फलन है। जैसे-जैसे आय बढ़ेगी Y तथा C के बीच का अन्तराल बढ़ता जायेगा। कीन्स ने यह भी पाया कि इन दोनों के बीच का अन्तराल आवश्यक रूप से विनियोग में वृद्धि के द्वारा नहीं पूरा किया जा सकता, जैसा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने माना था। कीन्स के अनुसार अवसादग्रस्त अर्थव्यवस्था में ब्याज दर में कमी विनियोग में वृद्धि नहीं लायेगी, ऐसी अर्थव्यवस्था तरलता जाल में

होगी तथा इसमें पूँजी की सीमान्त दक्षता अत्यन्त कम होगी, अतः निजी विनियोग में वृद्धि के माध्यम से समग्र मांग में वृद्धि नहीं लायी जा सकती। Y तथा C के अन्तराल को पूरा करने में मौद्रिक नीति भी असफल होगी।

कीन्स ने इस अन्तराल को पूरा करने के लिए राजकोषीय नीति अथवा सार्वजनिक क्षेत्र पर बल दिया। सार्वजनिक क्षेत्र पर बल दिया। सार्वजनिक व्यय लाभदेयता या ब्याज दर से प्रभावित नहीं होगा, यदि यह अनुत्पादक हो तो भी समग्र पूर्ति में बिना वृद्धि लाये केवल समग्र मांग में वृद्धि लायेगा। उनके अनुसार जिस प्रकार पानी के पम्प में थोड़ा सा पानी डालकर उससे कई गुना पानी प्राप्त किया जाता है, जिसे पम्प प्राइमिंग क्रिया कहते हैं, उसी प्रकार सरकार द्वारा अल्प मात्रा में किये गये सार्वजनिक व्यय के द्वारा आय तथा रोजगार के स्तर में कई गुना वृद्धि लायी जा सकती है। इन अर्थव्यवस्थाओं में निष्क्रिय उत्पादन क्षमता के कारण पूर्ति अनुक्रिया पूर्ण है। (**Supply response is perfect**) इसलिए मांग में वृद्धि मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं लायेगी वरन् उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि लायेगी। केन्स ने अपने रोजगार सिद्धान्त में माना कि G में वृद्धि हो रही है किन्तु करारोपण शून्य है अर्थात् G की वित्तीय व्यवस्था घाटे की वित्त व्यवस्था से हो रही है।

संस्थिति राष्ट्रीय आय निर्धारण की स्थिति प्रदर्शित होगी :-

समग्र पूर्ति = समग्र मांग

$$Y_1 = C+I+G$$

$$Y = C_0 + cY + I + G$$

$$Y - cY = C_0 + I + G$$

$$Y (1-c) = C_0 + I + G$$

$$Y_1 = (1/1-C) (C_0 + I + G)$$

यदि बेरोजगारी दूर करने के लिए सरकार G में वृद्धि करें तो नयी आय Y_2

$$Y_2 = C+I+G+ \Delta G$$

$$Y_2 = C_0 + cY_2 + I + G + \Delta G$$

$$Y_2 - cY_2 = C_0 + I + G + \Delta G$$

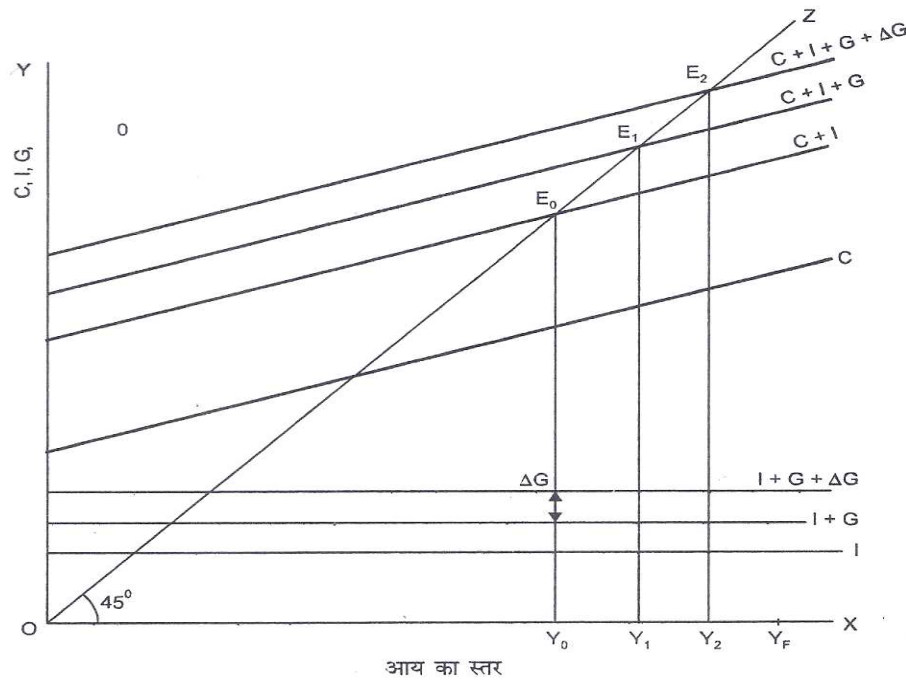
$$Y_2 (1-C) = C_0 + I + G + \Delta G$$

$$Y_2 (1/1-C) (C_0 + I + G + \Delta G)$$

यदि में Y_2 से Y_1 घटाये तो ΔY के कारण आय में वृद्धि पता चल जायेगी।

$$Y_2 - Y_1 = [(1/1-C) (C_0 + I + G + \Delta G)] - [(1/1-C) (C_0 + I + G)]$$

अर्थात् $\Delta Y (1/1-C) \Delta G$ जिसमें $1/1-C$ सरकारी व्यय गुणक है जो $\Delta Y/\Delta G$ के बराबर होगा।



रेखाचित्र 5.2

रेखाचित्र 5.2 में त्रिकोणीय मॉडल राष्ट्रीय आय निर्धारण की क्रिया को दर्शाया गया है और यह दिखाया गया है कि यदि सरकार व्यय (G) में वृद्धि कर दी जाय तो इसका प्रभाव संस्थिति आय तथा रोजगार के स्तर पर पड़ेगा शुरू में जब समग्र मांग (C+I) है तो आय का स्तर Y_0 है। G सम्मिलित करने के बाद समग्र मांग $C + I + G$ है तथा आय ल1 हो जाती है। G में और वृद्धि के बाद जब समग्र मांग $C + I + G + \Delta G$ है तो संस्थिति आय Y_2 है किन्तु यह Y_F से कम है।

5.6 केन्स के रोजगार सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन:

केन्स का सामान्य रोजगार का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के अध्ययन में कई प्रकार से महत्वपूर्ण है, किन्तु इसकी कुछ कमियाँ भी हैं।

5.6.1 केन्स के सिद्धान्त का महत्व:-

केन्स का सिद्धान्त सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पहलू से महत्वपूर्ण है।

5.6.1.1 (अ) सैद्धान्तिक महत्व:-

1. केन्स ने मैक्रो दृष्टिकोण अपनाकर अर्थशास्त्र को एक नया रूप दिया।
2. केन्स ने साबित किया कि आय तथा रोजगार का सन्तुलन पूर्ण रोजगार के स्तर से कम पर स्थापित होता है।
3. उन्होंने प्रावैगिक तत्व का उपयोग कर आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तों के विकास में सहायता प्रदान की।
4. केन्स ने नवीन आर्थिक सैद्धान्तिक अवधारणाओं को विकसित कर एक व्यवस्थित तथा समन्वित सिद्धान्त के रूप में संयोजित किया।

5. उन्होंने विनियोग को रोजगार स्तर के महत्वपूर्ण निर्धारक के रूप में लिया और उपभोग व्यय तथा आय के बीच के अन्तर को समाप्त करने में विनियोग की वृद्धि के महत्व को दर्शाया।

6. केन्स का सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्त है जो अर्थव्यवस्था की सभी स्थितियों पर लागू होता है।

5.6.1.2 (ब) व्यवहारिक महत्व:-

1. केन्स ने प्रभावपूर्ण मांग बढ़ाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के औचित्य को समझाया फलतः अबन्ध नीति को प्रभावहीन बताया।
2. केन्स ने परिस्थिति अनुसार घाटे के बजट को लाभप्रद बताया।
3. केन्स ने मौद्रिक नीति की सीमाओं को बताते हुए राजकोषीय नीति के महत्व को समझाया।
4. उन्होंने हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को दृष्टिपात किया।
5. केन्स ने मजदूरी दर घटाकर रोजगार बढ़ाने की प्रवृत्ति को खण्डित किया।
6. केन्स की अवधारणाओं राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय उपभोग, बचत तथा विनियोग के माध्यम से सभी देशों के सामाजिक लेखे तैयार करने में सहायता मिलती है।

5.6.2 केन्स के सिद्धान्त की आलोचना:-

1. बेरोजगारी की समस्या के व्यापक समाधान का अभाव - केन्स का सिद्धान्त स्फीतिक तथा अवस्फीतिक दशाओं पर लागू होगा किन्तु यह संरचनात्मक तथा तकनीकी जन्य बेरोजगारी को नहीं समझाता।
2. केन्स के रोजगार सिद्धान्त को सामान्य सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सभी अर्थव्यवस्थाओं पर लागू नहीं होगा जैसे कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था, अल्पविकसित और विकासशील अर्थव्यवस्था पर यह लागू नहीं होता क्योंकि इनकी परिस्थितियाँ अलग हैं।
3. यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।
4. उपभोग प्रवृत्ति की व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है।
5. रोजगार वृद्धि के लिए केवल विनियोग प्रेरणा पर पूर्णतः निर्भर रहना उचित नहीं है।
6. दीर्घकाल की अवहेलना की गई है।
7. अत्यधिक समग्रित सिद्धान्त है जो मैक्रो दृष्टिकोण से ही प्रतिपादित किया गया है।
8. विदेशी व्यापार के प्रभाव पर ध्यान नहीं दिया गया।
9. राजकोषीय नीति को मौद्रिक नीति की अपेक्षा अधिक महत्व देना उचित नहीं है। सरकार द्वारा अधिक विनियोग करने पर निजी विनियोग में कमी होती है। केन्स ने विनियोग के नियोजन की ओर ध्यान नहीं दिया है।
10. केन्स ने अपने सिद्धान्त में त्वरक की धारणा को सम्मिलित नहीं किया।

5.7 क्लासिकल तथा केन्सियन मॉडल की तुलनात्मक स्थिति

1. क्लासिकल मॉडल में मूल्य पूर्णतया परिवर्तन या लोचशील है जबकि कीन्सियन मॉडल में यह स्थिर या अलोचशील है। अगर परिवर्तनीय है तो ऊपर की ओर ही परिवर्तनीय है। अर्थात् मूल्य में वृद्धि तो हो सकती है किन्तु गिरावट नहीं।
2. सरल कीन्सियन मॉडल में आय तथा रोजगार का निर्धारण समग्र मांग के द्वारा ही होता है, मूल्य स्तर तथा समग्र पूर्ति विश्लेषण में नहीं आते इसके विपरीत क्लासिकल मॉडल में रोजगार तथा आय के स्तर का निर्धारण केवल समग्र पूर्ति के द्वारा होता है, क्लासिकल मॉडल में समग्र मांग केवल मूल्य स्तर निर्धारित करती है।
3. क्लासिकल मॉडल में हमेशा पूर्ण रोजगार की स्थिति पायी जाती है, कीन्सियन मॉडल में सामान्यता पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति पायी जाती है और यह स्थिति मुख्यतया समग्र मांग में कमी के कारण होगी।
4. क्लासिकल मॉडल में संस्थिति पूर्ण रोजगार स्तर पर होगी अतः अनैच्छिक बेरोजगारी का सवाल नहीं उठता। कीन्सियन मॉडल में सामान्यतया संस्थिति की स्थिति पूर्ण रोजगार स्तर से नीचे या कम स्तर पर होगी। अतः संस्थिति के साथ अनैच्छिक बेरोजगारी की स्थिति होगी।

5.9 शब्दावली:

1. राजकोषीय नीति - सरकार की आय-व्यय नीति जिससे वह अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करती है।
2. बन्द अर्थव्यवस्था - ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें विदेशी व्यापार न हो रहा हो आयात निर्यात का सर्वथा अभाव हो।
3. अबन्धकारी नीति - ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें कोई सरकारी हस्तक्षेप न हो।
4. अवसादग्रस्त - मन्दी की अर्थव्यवस्था जिसमें उत्पादन, मूल्य, आय, निजी निवेश जैसी क्रियाएं शिथिल पड़ गयी हों।
5. प्रभावपूर्ण मांग - जिस बिन्दु पर समग्र मांग समग्र पूर्ति के बराबर हो।
6. ब्याज - उधार के बदले जो मूल्य चुकाना पड़ता है।
7. प्रत्याशित - भविष्य में प्राप्त होने की आशा।
8. उद्यमकर्ता - साहसी जो उद्योग स्थापित करते हैं।
9. संस्थित - सन्तुलन की दशा।
10. घाटे की वित्त व्यवस्था - सरकारी आय व्यय में सन्तुलन के अभाव के कारण उत्पन्न घाटे को पूरा करने के लिए जो सरकारी व्यय बढ़ाया जाये चाहे वह नये नोटों के निर्गमन के द्वारा हो।

अभ्यास प्रश्न: 2

(i) सही विकल्प चुनो:-

1. दो क्षेत्र वाली अर्थव्यवस्था में सम्मिलित होते हैं :-

- | | |
|-----------------------|--------------------|
| (1) पारिवारिक क्षेत्र | (2) सरकारी क्षेत्र |
| (3) व्यापारिक क्षेत्र | (4) 1 एवं 3 |

2. तीन क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था के लिए संस्थिति में किस समीकरण का प्रयोग होता है।

- | | |
|---------------|-----------------------|
| (1) $C=Y$ | (2) $C+I=Y$ |
| (3) $C+I+G=Y$ | (4) $C+I+G + (X-M)=Y$ |

3. जे.एम. केन्स ने किस विचारधारा का विकास किया-

- | | |
|---------------------|-----------------------|
| (1) व्यष्टि | (2) समष्टि |
| (3) उपर्युक्त दोनों | (4) इनमें से कोई नहीं |

4. प्रभावपूर्ण मांग किस तत्व द्वारा निर्धारित होता है-

- | | |
|---------------------|-----------------------|
| (1) कुल मांग फलन | (2) कुल पूर्ति फलन |
| (3) उपर्युक्त दोनों | (4) इनमें से कोई नहीं |

5. केन्स का रोजगार सिद्धान्त सम्बन्धित है-

- | | |
|---------------------|---------------------|
| (1) पूर्ण रोजगार से | (2) अल्प रोजगार से |
| (3) दीर्घकाल से | (4) उपर्युक्त तीनों |

(ii) सत्य/असत्य:-

- जे.एम. केन्स पूर्ण रोजगार की मान्यता के विरोधी थे।
- केन्स के अनुसार कुल रोजगार कुल मांग पर निर्भर नहीं करता।
- विनियोग फलन दो तत्वों द्वारा निर्धारित होता है - पूँजी की सीमान्त क्षमता एवं ब्याज दर
- केन्स अबन्धकारी अर्थव्यवस्था को अपने सिद्धान्त में मानते हैं।
- केन्स बन्द अर्थव्यवस्था के लिए अपना सिद्धान्त देते हैं।

(iii) रिक्त स्थान भरो:-

- केन्स के रोजगार सिद्धान्त की व्याख्या से सम्बन्धित है।
- अर्थव्यवस्था को मन्दी से उबारने के लिए केन्स के अनुसार को बढ़ाना होगा।

3. केन्स के अनुसार बेरोजगारी की कमी की वजह से होती है।
4. केन्स ने दृष्टिकोण अपना कर अर्थशास्त्र को नया रूप दिया।
5. केन्स ने मजदूरी दर रोजगार बढ़ाने की प्रवृत्ति को खण्डित किया।

5.10 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1:- (i) सही विकल्प चुनिए: -(1) स (2) ब (3) ब

(ii) रिक्त स्थान भरिए: 1. ब्याज की दर, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता 2. रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त 3. रोजगार, राष्ट्रीय आय 4. पूर्ति कीमत, मांग कीमत 5. तकनीकी 6. सरल रेखा

अभ्यास प्रश्न 2:- (i) (1) 4 (2) 3 (3) 2 (4) 3 (5) 2

(ii) (1) सत्य (2) असत्य (3) सत्य (4) असत्य (5) सत्य

(iii) (1) अल्पकाल (2) सरकारी व्यय (3) समग्र मांग (4) मैक्रो (5) घटाकर

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1. लाल एस.एन. (2010) समष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण, शिवम पब्लिशिंग, इलाहाबाद।
2. सेठी टी.टी. (2010) मैक्रो अर्थशास्त्र लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. अवस्थी जी.डी., अवस्थी एम.के. एवं एस.के. निगम (2007) भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

5.12 सहायक उपयोगी सामग्री:

1. वैश्य एम.सी. “समष्टि अर्थशास्त्र” विश्व प्रकाशन, आगरा।
2. सेठ एम.एल. “समष्टि अर्थशास्त्र” लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. Dwivedi, D.N. (1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
4. Ahuja, H. L. ((1910) Principles of Macro Economics, S&Chand Publishing House .
5. Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
6. Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

5.13 निबन्धात्मक प्रश्न:

1. केन्स के सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्व की व्याख्या कीजिए?
2. केन्स के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?
3. केन्स के रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भिक बिन्दु प्रभावपूर्ण मांग का सिद्धान्त है। विवेचना कीजिए?
4. केन्स ने किस प्रकार सिद्ध किया कि पूर्ण रोजगार के स्तर के नीचे भी सन्तुलन स्थापित हो सकता है?

इकाई – 6 उपभोग फलन का सिद्धान्त

इकाई संरचना

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 उद्देश्य
- 6.3 उपभोग फलन का अर्थ
- 6.4 उपभोग की प्रवृत्तियाँ
- 6.5 उपभोग प्रवृत्ति की मुख्य विशेषताएँ
- 6.6 उपभोग प्रवृत्ति के प्रकार
 - 6.6.1 उपभोग की औसत प्रवृत्ति
 - 6.6.2 उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति
 - 6.6.3 बचत फलन तथा बचत की प्रवृत्ति
 - 6.6.3(S) बचत की औसत प्रवृत्ति
 - 6.6.3(B) बचत की सीमान्त प्रवृत्ति
 - 6.6.4 रैखिक उपभोग फलन
 - 6.6.5 गैर रैखिक उपभोग फलन
 - 6.6.6 उपभोग की औसत प्रवृत्ति तथा सीमान्त प्रवृत्ति के बीच सम्बन्ध
- 6.7 उपभोग प्रवृत्ति के निर्धारक तत्व
 - 6.7.1 व्यक्तिगत तत्व
 - 6.7.2 वस्तुगत तत्व
- 6.8 उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम
- 6.9 उपभोग फलन की धारणा का महत्व
- 6.10 उपभोग फलन की आलोचनाएँ
- 6.11 सारांश
- 6.12 अभ्यास प्रश्न
- 6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.1 प्रस्तावना:

इससे पहले की इकाई में आपने कीन्स का रोजगार सिद्धान्त के बारे में विस्तृत रूप में जानकारी प्राप्त की। कीन्स के रोजगार-सिद्धान्त की रूपरेखा का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि किसी भी अर्थव्यवस्था में रोजगार और आय का निर्धारण प्रभावपूर्ण मांग के द्वारा होता है जो स्वयं कुल माँग-क्रिया के द्वारा निर्धारित होती है। कुल मांग अर्थात् कुल व्यय, कीन्स के अनुसार, कुल उपभोग-व्यय तथा कुल विनियोग-व्यय का जोड़ होता है। इसलिए इस इकाई में हम उपभोग फलन के बारे में अध्ययन करेंगे।

कीन्स ने उपभोग व्यय के सम्बन्ध में क्लासिकल धारणा को अस्वीकार किया तथा यह प्रतिपादित किया कि उपभोग व्यय प्रमुख रूप से व्यय योग्य आय के स्तर पर निर्भर करता है। आय प्राप्त करने वाला आय का कितना भाग उपभोग पर व्यय करेगा तथा इसका क्या स्वरूप होगा, इसे उपभोग प्रवृत्ति कहते हैं जिसके दो रूप हो सकते हैं - उपभोग की औसत प्रवृत्ति एवं उपभोग का सीमान्त प्रवृत्ति। कीन्स के अनुसार आय में परिवर्तन के साथ - साथ उपभोग में भी परिवर्तन होता है पर यह आय की अपेक्षा कम बढ़ता है जिसको कीन्स ने उपभोग के मनोवैज्ञानिक नियम में बताया है।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि :-

- कीन्स के उपभोग-फलन सिद्धान्त के बारे में जानेंगे।
- उपभोग की दो प्रवृत्तियाँ - उपभोग की औसत प्रवृत्ति और उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति को समझेंगे।
- उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम का अध्ययन करेंगे।
- उपभोग प्रवृत्ति के निर्धारक तत्वों की चर्चा करेंगे।
- अन्त में उपभोग-फलन सिद्धान्त के महत्व और इसकी कमियों की व्याख्या करेंगे।

6.3 उपभोग फलन का अर्थ

यहाँ पर हम कीन्सियन उपभोग-फलन की व्याख्या करेंगे। उपभोग-फलन कीन्सियन समष्टिभावी विश्लेषण की सबसे महत्वपूर्ण धारणा है।

राष्ट्रीय आय का वह भाग जिसे वस्तु व सेवाओं पर व्यय किया जाता है, उसे उपभोग व्यय या उपभोग कहते हैं। उपभोग व्यय कई तत्वों पर निर्भर करता है। उपभोग को प्रभावित करने वाले विभिन्न चरों जैसे- व्यय योग्य आय (Yd), मूल्य स्तर (P), जीवन-निर्वाह का स्तर (S), ब्याज की दर (r), सम्पत्तियों के वास्तविक मूल्य (W) तथा आय-वितरण (d) आदि के बीच पाये जाने वाले फलनात्मक सम्बन्ध को उपभोग-फलन कहते हैं अर्थात्-

$$C = f(Yd, P, S, r, W, d)$$

कीन्स का मत है कि किसी अर्थव्यवस्था का कुल उपभोग व्यय मुख्य रूप से आय पर निर्भर करता है। इसलिए उपभोग, आय का फलन है अर्थात्

$$C = f(Y)$$

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं पर किया गया व्यय उपभोक्ता की समग्र आय या समग्र व्यय योग्य आय का एक स्थिर फलन है। व्यय योग्य आय में परिवर्तन के साथ-साथ उपभोग व्यय में कितना परिवर्तन होगा। इसको कीन्स ने अपने उपभोग के आधारभूत मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार जैसे-जैसे लोगों की आय में वृद्धि होती है वैसे-वैसे वे सिद्धान्ततः औसतन रूप से अपने उपभोग में वृद्धि लाते हैं पर यह वृद्धि उतनी नहीं होती जितनी कि आय में वृद्धि होती है। इस प्रकार कीन्स ने उपभोग-फलन की जो व्यवस्था की है, उससे निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं-

1. उपभोग व्यय व्यययोग्य आय का फलन होगा, जैसे-जैसे आय में वृद्धि होगी समग्र उपभोग व्यय में वृद्धि होगी।
2. आय की वृद्धि के साथ उपभोग व्यय में तो वृद्धि होगी, पर यह वृद्धि आय की वृद्धि के बराबर नहीं होगी, बल्कि कम होगी। इस प्रकार से आय की वृद्धि का कुछ भाग तो उपभोग व्यय के रूप में होगा तथा शेष बचत के रूप में होगा। इस प्रकार यदि $Y =$ व्यय योग्य आय, $C =$ उपभोग तथा $S =$ बचत हो तो,

$$\Delta Y = \Delta C + \Delta S \quad \dots\dots\dots (i)$$

$$\Delta C < \Delta Y \quad \dots\dots\dots (ii)$$

$$\text{चूँकि } \frac{\Delta C}{\Delta Y} + \frac{\Delta S}{\Delta Y} = 1 \quad \dots\dots\dots (iii)$$

इसलिए $\Delta C / \Delta Y \leq 1$ (अर्थात् C/Y इकाई से कम होगा या बराबर होगा)

3. आय की वृद्धि के साथ उपभोग में वृद्धि तो होगी पर उपभोग की ये वृद्धि घटती हुई दर से होगी अर्थात् बढ़ी आय का कम हिस्सा उपभोग व्यय पर होगा, अधिक भाग बचत के रूप में होगा।

6.4 उपभोग की प्रवृत्तियाँ

आय में वृद्धि होने पर उपभोग में कितनी वृद्धि होगी, यह कीन्स के अनुसार उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। उपभोग प्रवृत्ति का अर्थ है कि आय प्राप्त करने वाला आय का कितना भाग उपभोग पर व्यय करेगा तथा इसका स्वरूप क्या होगा।

उपभोग प्रवृत्ति अनुसूची

आय के भिन्न-भिन्न स्तरों पर कुल आय तथा उपभोग व्यय के बीच फलनीय सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला वितरण 'उपभोग प्रवृत्ति अनुसूची कहलाता है। सारिणी-1 में उपभोग प्रवृत्ति अनुसूची का उदाहरण दिया गया है। ऊपर दी गयी सारिणी से स्पष्ट है कि:-

1. आय में होने वाली प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ उपभोग भी बढ़ रहा है।

सारिणी-1 उपभोग प्रवृत्ति सारिणी (आय उपभोग सम्भव)

आय (Y) (करोड़ ₹0 में)	उपभोग (C) (करोड़ ₹0 में)
0	200
100	250
200	300
300	350
400	400
500	450
600	500
700	550
800	600

- जब आय शून्य होती है तो भी लोग 20 करोड़ रुपये का व्यय उपभोग पर कर रहे हैं। यह उपभोग पर व्यय लोग अपनी पिछली बचत से कर रहे हैं। इसे 'विसंचय' (Dis-saving) कहते हैं।
- जब आय 400 करोड़ रुपये हो जाती है तो उपभोग पर व्यय भी 400 रुपये हो जाता है। जिस आय स्तर पर उपभोग व्यय आय के बराबर होता है, उसे 'अन्तराल शून्य बिन्दु' कहते हैं।
- जब आय 400 करोड़ रुपये से अधिक बढ़ती है तो उपभोग भी बढ़ रहा है परन्तु उपभोग में होने वाली वृद्धि आय में होने वाली वृद्धि की तुलना में कम है।

6.5 उपभोग प्रवृत्ति की मुख्य विशेषताएँ

उपभोग प्रवृत्ति की निम्न मुख्य विशेषताएँ हैं:-

- मनोवैज्ञानिक धारणा-** उपभोग प्रवृत्ति एक मनोवैज्ञानिक धारणा है जो अनेक व्यक्तिगत तत्वों से प्रभावित होता है जैसे फैशन, रुचि, आदत आदि। अल्पकाल में ये तत्व स्थिर रहते हैं इसलिए अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहती है।
- असमान उपभोग प्रवृत्ति-** निम्न आय वर्ग की उपभोग प्रवृत्ति उच्च आय वर्ग से अधिक होती है। इसका कारण यह है कि गरीब वर्ग की आय कम होती है इसलिए वे अपनी आय का उपभोग कर लेते हैं, जबकि अमीर वर्ग अपनी आय का थोड़ा हिस्सा ही उपभोग करता है।
- आय और रोजगार उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करते हैं-** यदि उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती है तो अधिक उत्पादन करना होगा जिससे रोजगार व आय में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, उपभोग प्रवृत्ति में कमी होने पर आय व रोजगार में कमी होती है।
- अल्पकालीन उपभोग व्यय-** अल्पकाल में उपभोग व्यय, स्वतंत्र उपभोग (autonomous consumption) तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) पर निर्भर करता है। स्वतंत्र उपभोग से आशय ऐसे उपभोग से है जो व्यक्ति

को प्रत्येक दशा में करना ही पड़ता है चाहे आय शून्य ही क्यों न हो। अल्पकाल में आये बढ़ने पर उपभोग व्यय आय की तुलना में कम बढ़ता है। अर्थात् $C = C_0 + bY$

(यहाँ $C =$ उपभोग व्यय, $C_0 =$ स्वतंत्र उपभोग, $b =$ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति, $Y =$ आय)

5. दीर्घकालीन उपभोग व्यय- दीर्घकालीन समय में उपभोग व्यय पूर्ण रूप से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) पर निर्भर करता है। यह इस कारण से क्योंकि दीर्घकालीन समय में व्यक्ति बिना आय के व्यय नहीं कर सकता। इस कारण से दीर्घकालीन समय में स्वतंत्र उपभोग नहीं होता है। अर्थात् $C = bY$

दीर्घकालीन समय में उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती हुई आय के साथ गिरती नहीं है। यह स्थिर रहती है।

6.6 उपभोग प्रवृत्ति के प्रकार:

उपभोग की प्रवृत्ति के दो रूप हो सकते हैं-

(1) उपभोग की औसत प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume) एवं (2) उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume)

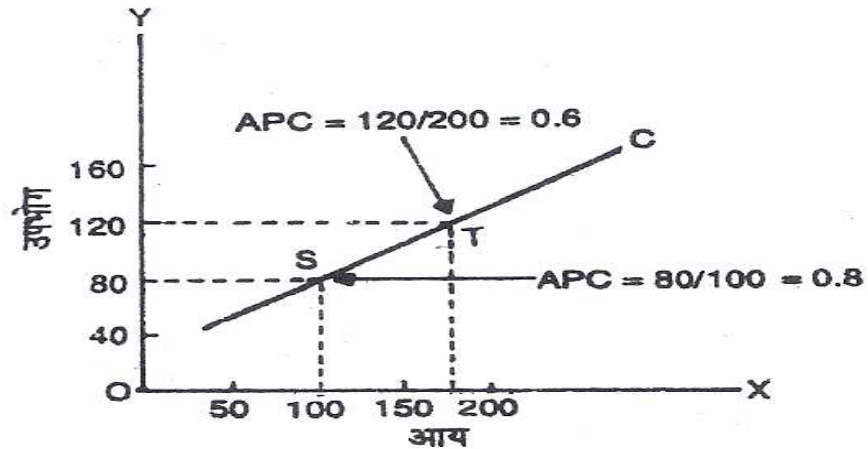
6.6.1 उपभोग की औसत प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume APC)

आय का वह भाग जो उपभोग पर खर्च किया जाता है, उसे उपभोग की औसत प्रवृत्ति कहते हैं। सूत्र के रूप में उपभोग की औसत प्रवृत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

$$\text{औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC)} = \frac{\text{उपभोग की मात्रा (C)}}{\text{आय की मात्रा (Y)}}$$

उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की वार्षिक आय 2000 रूपया है, तो इनमें से वह 1500 रूपया उपभोग पर व्यय करता है तो उपभोग की औसत प्रवृत्ति होगी:- $APC = 1500/2000 = 3/4$ अथवा 0.75 होगी।

चित्र 6.1



रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण:-

रेखाचित्र में **OX** अक्ष पर आय तथा **OY** अक्ष पर उपभोग व्यय प्रकट किया गया है। **C** उपभोग वक्र है। इस वक्र से प्रकट होता है कि बिन्दु **S** पर $APC = C/Y = 80/100 = 0.8$ तथा बिन्दु **T** पर $APC = 120/200 = 0.6$ है। जैसे-जैसे यह वक्र ऊपर की ओर उठ रहा है, उपभोग की औसत प्रवृत्ति कम होती जा रही है।

6.6.2 उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume MPC):-

उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कुल उपभोग के स्तर में होने वाले परिवर्तन तथा कुल आय के स्तर में होने वाले परिवर्तन के बीच का अनुपात है अर्थात् इससे यह ज्ञात होता है कि यदि आय में वृद्धि हो तो इसे परिणामस्वरूप उपभोग में कितनी वृद्धि होगी। सूत्र के रूप में उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:

$$\text{उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (MPC)} = \frac{\text{उपभोग में होने वाला परिवर्तन } \Delta C}{\text{आय में परिवर्तन } \Delta Y}$$

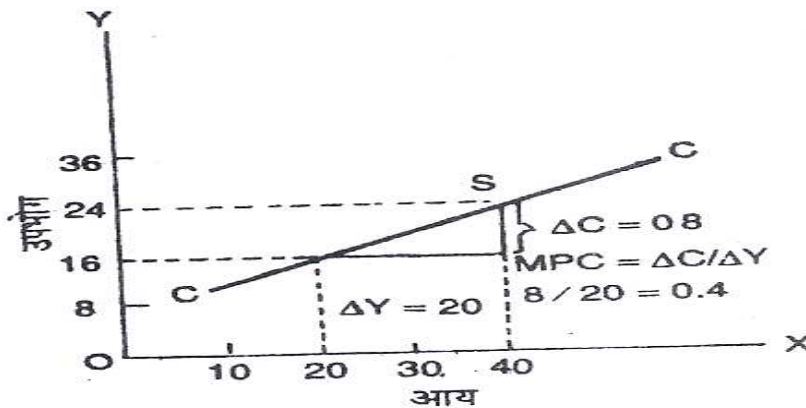
उदाहरण के लिए यदि आय का स्तर 2000 रूपया से बढ़कर 2200 रूपया हो जाय तथा इसके फलस्वरूप उपभोग व्यय बढ़कर 1500 रूपया से 1600 रूपया हो जाये तो $\Delta Y = 200$, $\Delta C = 100$

$$MPC = \Delta C / \Delta Y = 100 / 200 = 1/2 \text{ या } 0.5$$

इसका अर्थ यह हुआ कि बढ़ी आय का आधा भाग उपभोग पर व्यय होगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण:- रेखाचित्र में **OX** अक्ष पर आय तथा **OY** अक्ष पर उपभोग प्रकट किया गया है। **C** उपभोग वक्र है। इस वक्र पर बिन्दु **S** पर उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति है:- $\Delta C / \Delta Y = 8/20 = 0.4$

चित्र 6.2



उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (MPC) धनात्मक होगी पर 1 से कम होगी अर्थात् MPC का मूल्य शून्य से अधिक पर 1 से कम होगा। ($1 > MPC > 0$)

यदि MPC का मूल्य आय के प्रत्येक स्तर पर एक ही है तो ऐसी स्थिति में उपभोग-फलन सीधी रेखा के रूप में होगा पर यदि आय के स्तर की वृद्धि के साथ MPC गिर रहा है (पर अब भी शून्य से अधिक तथा 1 से कम हो) तो उपभोग-फलन गैर रैखिक (Nonlinear) होगा।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है, यदि उपभोग-फलन एक सीधी रेखा के रूप में हो पर यदि हम यह भी मान लें कि उपभोग की मात्रा आय के प्रत्येक स्तर पर धनात्मक रहेगी, चाहे आय में कितनी भी गिरावट क्यों न हो तो आय के शून्य स्तर पर उपभोग की औसत प्रवृत्ति (APC) का मूल्य अपरमित (Infinite) होगा, तथा जैसे-जैसे आय के स्तर में वृद्धि होगी, इसमें धीरे-धीरे गिरावट होगी पर इसका मूल्य हमेशा उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (MPC) से अधिक होगा। यदि उपभोग-फलन $C=C_0 + cY$ के रूप में दिया हो तो इसमें dC/dY या c उपभोग-फलन का ढाल तो उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति होगी पर यदि हम उपभोग-फलन को Y से भाग दें तो हमें APC का समीकरणात्मक रूप ज्ञात हो जायेगा।

$$C/Y=APC = (C_0 + cY) 1/Y \text{ या } C_0/Y + c$$

इसके पहले कि हम उपभोग की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ और विश्लेषण प्रस्तुत करें यह उचित होगा कि हम पहले 'बचत फलन तथा बचत की प्रवृत्ति' पर विचार करें क्योंकि यह व्याख्या उपभोग-फलन तथा उपभोग की प्रवृत्ति से सम्बन्धित ही नहीं बल्कि उसी पर आधारित है।

6.6.3 बचत फलन तथा बचत की प्रवृत्ति (Saving Function and Propensity to Save):

उपभोग तथा बचत परस्पर सम्बन्धित है क्योंकि आय का जो भाग उपभोग पर नहीं व्यय होगा वह बचत होगी अर्थात् $S=Y-C$, ऐसी स्थिति में उपभोग-फलन तथा बचत फलन परस्पर सम्बन्धित होंगे। उपभोग की तरह बचत आय के स्तर पर निर्भर करेगी। बचत तथा आय के बीच फलनात्मक सम्बन्ध बचत फलन कहलाता है।

हम जानते हैं कि $S=Y-C$

यदि हम C के स्थान पर $C_0 + cY$ रखें तो

$$S = Y - (C_0 + cY)$$

$$= Y - C_0 - cY$$

$$= -C_0 + Y - cY$$

$$S = -C_0 + (1-c)Y \text{ जिसमें } (1-c) \text{ बचत फलन का ढाल या बचत की सीमान्त प्रवृत्ति है।}$$

यदि हम $1 - c = s$ या बचत की सीमान्त प्रवृत्ति से प्रदर्शित करें तो हम बचत फलन को इस रूप में लिख सकते हैं, $S = -C_0 + sY$, $-C_0$ का अर्थ यह हुआ कि यदि आय शून्य हो तो भी न्यूनतम उपभोग C_0 होगा इसका मतलब यह हुआ कि आय के शून्य स्तर पर बचत की मात्रा ऋणात्मक होगी।

उपभोग की प्रवृत्ति की ही तरह बचत की प्रवृत्ति भी दो प्रकार की हो सकती है।

6.6.3(a) बचत की औसत प्रवृत्ति (Average Propensity to Save APS):-

बचत की औसत प्रवृत्ति बचत तथा आय के बीच का अनुपात है जिसे S/Y के रूप में व्यक्त किया जाता है। ऊपर दिये गये उदाहरण के अनुसार बचत 500 रूपया है। अतएव

$APS = 500/2000 = 1/4$ अथवा 0.25 होगी।

चूँकि $Y=C+S$ इसलिए इस समीकरण को Y से भाग देने पर

$$Y/Y = C/Y + S/Y$$

$$\text{अर्थात् } 1 = C/Y + S/Y$$

इस प्रकार $APC + APS = 1$ दिये गये उदाहरण में $MPC = 3/4$ है, $APC = 1/4$

6.6.3(b) बचत की सीमान्त प्रवृत्ति (MPS):-

उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति की ही तरह बचत की सीमान्त प्रवृत्ति (MPS) को भी ज्ञात किया जा सकता है -

$MPS = \Delta S/\Delta Y$ या $1 - \Delta C/\Delta Y$ देख चुके हैं $APC + APS = 1$ ठीक इसी प्रकार $MPC + MPS = 1$ इस तथ्य को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

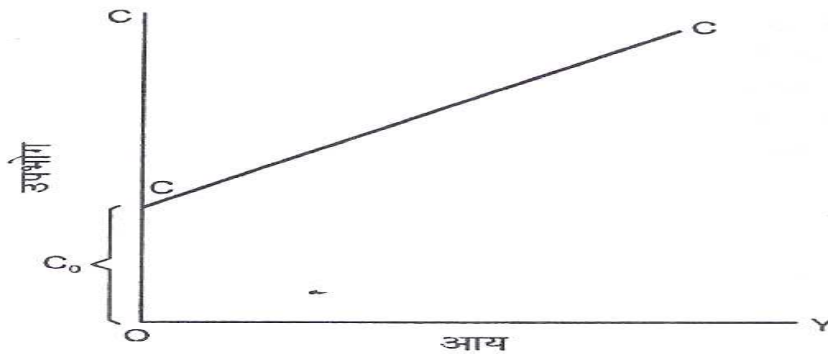
$Y = \Delta C + \Delta S$ समीकरण को ΔY से भाग देने पर

$$\Delta C/\Delta Y + \Delta S/\Delta Y = \Delta Y/\Delta Y = 1 \quad \text{उपभोग-फलन के दो रूप हो सकते हैं-}$$

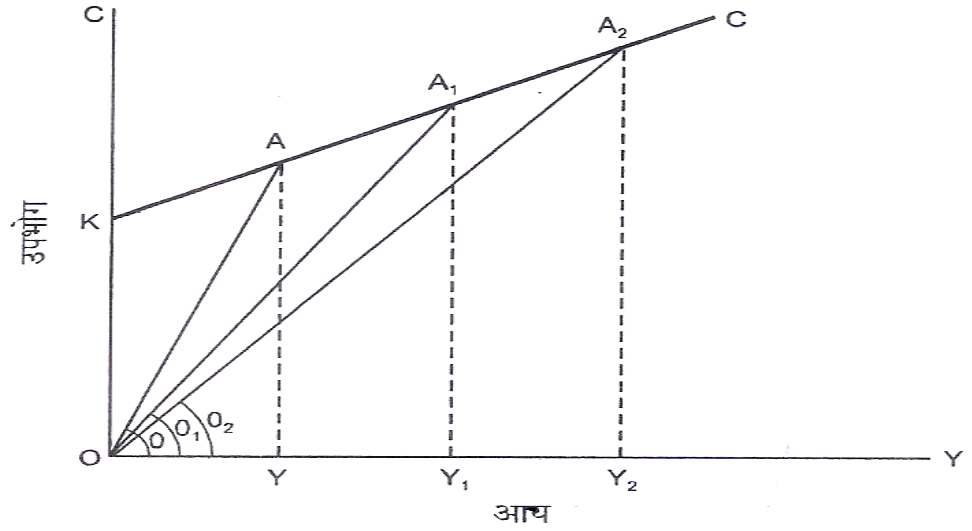
6.6.4 रैखिक उपभोग फलन (Linear Consumption Function)

यदि आय के प्रत्येक स्तर पर डब्ल्यू स्थिर हो अर्थात् आय के सापेक्ष उपयोग व्यय में होने वाले परिवर्तन की दर स्थिर रहे तो उपभोग-फलन रैखिक होगा और उसे प्रदर्शित करने वाला उपभोग वक्र एक सीधी रेखा के रूप में होगा। रैखिक उपभोग-फलन निम्नांकित समीकरण द्वारा व्यक्त होगा- $C = C_0 + cY$

जिसमें C_0 स्वायत्त उपभोग या न्यूनतम उपभोग प्रदर्शित करता है। इसका सम्बन्ध आय के स्तर से नहीं है। आय के शून्य होने पर भी C_0 की मात्रा धनात्मक होगी। c उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति है। रैखिक उपभोग-फलन CC चित्र 6.3 में प्रदर्शित है। चित्र 6.3



चित्र 6.4 में रैखिक उपभोग-फलन के आधार पर उपभोग की औसत तथा सीमान्त प्रवृत्ति की गणना की गई है।



चित्र 6.4 में CK रैखिक उपभोग फलन है। यह इस मान्यता पर खींचा गया है कि आय के शून्य होने पर भी उपभोग व्यय शून्य से अधिक होता है अर्थात् $C > 0$ जब $Y = 0$] OK स्वायत्त उपभोग है। अर्थात् आय का स्तर शून्य होने पर भी उपभोग व्यय धनात्मक होगा ; $(OK > 0)$ रहेगा। दिये हुए रैखिक उपभोग-फलन के आधार पर हम देखेंगे कि उपभोग की औसत प्रवृत्ति आय के स्तर में वृद्धि के साथ घटेगी पर उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति स्थिर रहेगी। हम जानते हैं कि उपभोग की औसत प्रवृत्ति C/Y होती है उपभोग-फलन के विभिन्न बिन्दुओं A, A_1, A_2 पर उपभोग की मात्रा क्रमशः YA, Y_1A_1, Y_2A_2 है तथा सम्बन्धित आय के स्तर OY, OY_1 तथा OY_2 हैं इन बिन्दुओं पर उपभोग की औसत प्रवृत्ति $AY/OY, A_1Y_1/OY_1, A_2Y_2/OY_2$ ज्ञात की जा सकती है। यह क्रमशः घटती हुई है। जिन्हें गणित का थोड़ा भी ज्ञान है, वे कहे सकते हैं कि C रेखा के विभिन्न बिन्दुओं को O से जोड़ने वाली रेखाओं के ढाल ही औसत उपभोग प्रवृत्ति को प्रदर्शित करेंगे। अर्थात् A, A_1 एवं A_2 बिन्दुओं पर उपभोग की औसत प्रवृत्ति क्रमशः OA, OA_1 एवं OA_2 रेखाओं के ढाल के बराबर होगी- जो कि क्रमशः $\tan\theta, \tan\theta_1, \tan\theta_2$ के बराबर होंगे अर्थात् जैसे-जैसे हम उपभोग वक्र पर दाहिनी ओर अग्रसर होंगे वैसे-वैसे उपभोग की औसत प्रवृत्ति घटती जायेगी।

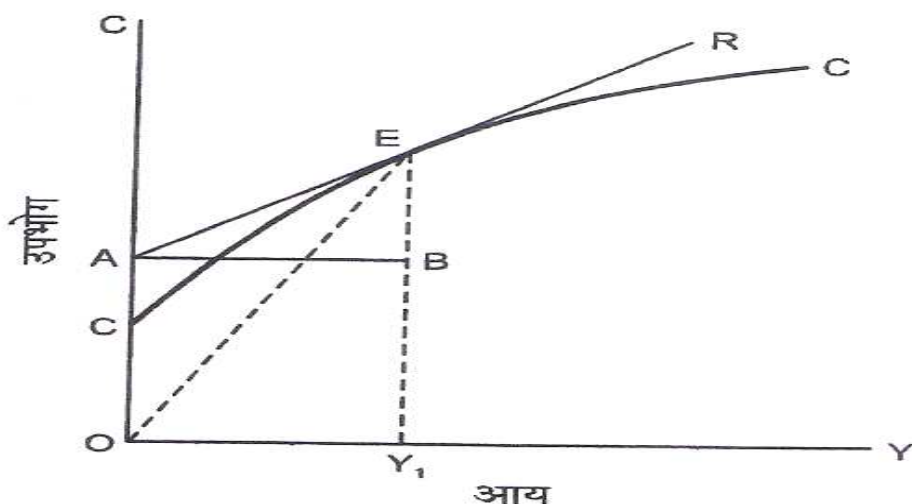
चूँकि उपभोग-फलन का ढाल ही उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है इसलिए CC रेखा का ढाल MPC प्रदर्शित करेगा। इस रेखा के प्रत्येक बिन्दु पर ढाल एक ही है, इसलिए इस स्थिति में MPC आय के प्रत्येक स्तर पर स्थिर है।

6.6.5 गैर रैखिक उपभोग फलन (Non Linear Consumption Function)

कीन्स ने गैर रैखिक उपभोग-फलन की बात की क्योंकि उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि आय की उत्तरोत्तर वृद्धि की अपेक्षा उपभोग में गिरती हुई दर से वृद्धि होगी। अर्थात् उपयोग की सीमान्त प्रवृत्ति आय की वृद्धि के साथ घटेगी। अन्य शब्दों में आय की वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग फलन का ढाल घटेगा तथा उपभोग-फलन गैर रैखिक होगा।

गैर रैखिक उपभोग-फलन CC के विभिन्न बिन्दुओं पर औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कैसे हो इसे चित्र 6.5 में प्रदर्शित किया गया है।

चित्र-6.5



मान लीजिए हम E बिन्दु पर उपभोग की औसत तथा सीमान्त प्रवृत्ति को ज्ञात करना चाहते हैं। E बिन्दु को मूल बिन्दु (O) से मिलाया गया है औसत प्रवृत्ति (APC) EO रेखा के ढाल के बराबर अर्थात् EY_1/OY_1 होगी जो आय स्तर की वृद्धि के साथ घटती जायेगी। इसी बिन्दु पर सीमान्त प्रवृत्ति ज्ञात करने के लिए E बिन्दु पर CC की स्पर्श रेखा AR खींची गयी है। E बिन्दु पर उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति स्पर्श रेखा AR के ढाल अर्थात् $\tan < EAB$ के बराबर होगी। अन्य शब्दों में E बिन्दु पर उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति का निर्धारण सम्बन्धित स्पर्श रेखा AR द्वारा लम्ब अक्ष के साथ बनाए गए कोण $<EAB$ के टैनेजेंट $\tan <EAB$ के द्वारा होगा। चित्र से स्पष्ट है कि आय वृद्धि के साथ स्पर्श रेखाओं द्वारा लम्ब अक्ष के साथ बनाए गये कोण लगातार घटते जायेंगे, जनके फलस्वरूप कोणों के Tangent भी लगातार घटते जायेंगे, अर्थात् उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति निरन्तर घटती जायेगी।

6.6.6 उपभोग की औसत प्रवृत्ति तथा सीमान्त प्रवृत्ति के बीच सम्बन्ध

1. जब MPC स्थिर हो तो उपभोग-फलन रैखिक होगा अर्थात् एक सीधी रेखा के रूप में होगा, जब MPC गिरती हुई हो तो उपभोग-फलन गैर-रैखिक अथवा वक्र के रूप में होगा।
2. रैखिक उपभोग-फलन में MPC स्थिर होगा, पर APC तभी स्थिर होगा जबकि रैखिक उपभोग-फलन मूल बिन्दु (O) से प्रारम्भ हो अर्थात् न्यूनतम उपभोग शून्य के बराबर हो। सामान्यतया APC आय की वृद्धि के साथ निरन्तर घटती है।
3. गैर रैखिक उपभोग-फलन में आय की वृद्धि के साथ MPC तथा APC दोनों में ही हास होता है पर MPC के हास की गति APC की तुलना में अधिक तीव्र होती है।

4. यदि उपभोग-फलन एक सीधी रेखा के रूप में हो तथा यदि उपभोग की मात्रा आय के प्रत्येक स्तर पर धनात्मक हो तो आय के शून्य स्तर पर APC का मूल्य अपरमित होगा तथा जैसे-जैसे आय के स्तर में वृद्धि होगी, इसमें धीरे-धीरे गिरावट होगी पर इसका मूल्य हमेशा डब्लू से अधिक होगा।

5. यदि उपभोग-फलन $C = C_0 + cY$ से व्यक्त हो तो dC/dY या c उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति होगी जबकि $APC = (C_0 + cY) / Y$ या $C_0/Y + c$

समय पश्चता की दृष्टि से उपभोग-फलन के दो रूप हो सकते हैं- समयपश्चता विहीन उपभोग फलन (Consumption function without time lag) तथा समय पश्चता युक्त उपभोग-फलन (Consumption function with time lag) उपभोग-फलन समयपश्चता विहीन तब कहा जायेगा जबकि किसी समयावधि में होने वाला उपभोग उसी समयावधि की आय पर निर्भर हो। इसे हम इस रूप में व्यक्त करते हैं- $C_t = f(Y_t)$ t अवधि में उपभोग t अवधि की आय से सम्बन्धित है। यदि किसी अवधि में उपभोग उससे पहली अवधि की आय से सम्बन्धित हो तो उपभोग-फलन 'समय पश्चतायुक्त उपभोग-फलन' कहलायेगा। इसे हम इस रूप में व्यक्त करते हैं- $C_t = f(Y_{t-1})$ । कीन्स ने समयपश्चता विहीन उपभोग-फलन का प्रयोग किया है इसलिए उनके सिद्धान्त में स्थैतिक होने का दोष लगाया जाता है। कीन्स के परवर्ती अर्थशास्त्रियों ने समयपश्चता युक्त उपभोग-फलन का प्रयोग किया है।

अभ्यास प्रश्न: 1

(I) रिक्त स्थान भरिए-

1. उपभोग फलन उपभोग तथा के बीच सम्बन्ध व्यक्त करता है।
2. औसत उपभोग प्रवृत्ति को के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।
3. सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।
4. $1 - C/Y$ का अर्थ है।

(II) सही जोड़े बनाइए-

- | | |
|-------------------------|------------------------------|
| (अ) C/Y | (i) सीमान्त बचत प्रवृत्ति |
| (ब) $\Delta C/\Delta Y$ | (ii) सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति |
| (स) S/Y | (iii) औसत बचत प्रवृत्ति |
| (द) $\Delta S/\Delta Y$ | (iv) औसत उपभोग प्रवृत्ति |

6.7 उपभोग प्रवृत्ति के निर्धारक तत्व:

समाज के किसी व्यक्ति की उपभोग की इच्छा अनेक तत्वों पर निर्भर करती है। कीन्स ने इन तत्वों को मुख्यतया दो वर्गों में विभाजित किया है- व्यक्तिगत तत्व (Subjective Factors) तथा वस्तुगत तत्व (Objective Factors)। ये इस प्रकार हैं :-

6.7.1 व्यक्तिकृत तत्व: इन कारणों के अन्तर्गत कीन्स ने उन मनोवैज्ञानिक तत्वों की चर्चा की है जिसके कारण मनुष्य की उपभोग की इच्छा प्रभावित होती है। ये इस प्रकार हैं:-

1. सावधानी- लोग आकस्मिकताओं जैसे- बीमारी व दुर्घटना आदि के लिए अपनी आय का कुछ भाग नियमित रूप से बचाते हैं।
 2. दूरदर्शिता- विवाह, शिक्षा व अन्य सामाजिक कार्य के लिए व्यक्ति कुछ अंश आय का बचा कर चलता है।
 3. लाभ- कुछ व्यक्ति लाभ कमाने के लिए कम खर्च करके अधिक बचत करते हैं।
 4. सुधार- कुछ व्यक्ति जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए अधिक खर्च करते हैं।
 5. आर्थिक स्वतंत्रता- कुछ व्यक्ति धनराशि जमा करके आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होना चाहते हैं।
 6. व्यावसायिक उद्देश्य- कुछ व्यक्ति व्यवसाय शुरू करने के लिए धन बचा कर चलते हैं।
- इसके अलावा कुछ ऐसे तत्व हैं जो कम्पनियों, निगमों व सरकारी संस्थाओं को बचत करने के लिए प्रेरित करते हैं जैसे-

1. उद्यम- अर्थात् बड़े कार्य करने की इच्छा अथवा व्यापार को बढ़ाने की इच्छा।
2. तरलता पसन्दगी- अर्थात् आर्थिक संकट का सामना करने के लिए नगदी अपने पास रखना।
3. सुधार- कम्पनियाँ नयी मशीनों और उपकरणों को लगाने के लिए बचत करती हैं।

अल्पकाल में इन मनोवैज्ञानिक तत्वों में परिवर्तन सम्भव नहीं होता है। इसलिए उपभोग फलन अल्पकाल में प्रायः समान या स्थिर रहता है। परन्तु कुछ कारणों से अल्पकाल में भी इन तत्वों में परिवर्तन हो सकता है। जैसे- सरकार की राजकोषीय नीति में परिवर्तन, ब्याज की दर में महत्वपूर्ण परिवर्तन, पूँजी के मूल्यों में परिवर्तन।

6.7.2 वस्तुगत तत्व:- वस्तुगत तत्व ऐसे बाहरी तत्व हैं जिनमें कभी-कभी तेजी से परिवर्तन होता है और उनका प्रभाव उपभोग प्रवृत्ति पर पड़ता है। इस प्रकार के तत्व निम्नलिखित हैं:-

1. आय- उपभोग-प्रवृत्ति विशेष रूप से आय पर निर्भर करती है। जैसे-जैसे आय में वृद्धि होती है वैसे-वैसे उपभोग में वृद्धि होती है और जैसे ही आय कम हो जाती है, उपभोग भी कम हो जाता है।
2. मूल्य स्तर- उपभोक्ता किसी वस्तु के ऊपर कितना व्यय करेगा, यह उस वस्तु के मूल्य पर बहुत अधिक निर्भर करता है। आय प्रभाव के कारण किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी लाती है। फलस्वरूप उपभोग में कमी आती है।
3. वित्तीय नीति में परिवर्तन- वित्तीय नीति में परिवर्तन, विशेष रूप से कर में परिवर्तनों का अधिक प्रभाव उपभोग की इच्छा पर पड़ता है। यदि आय पर कर की दर बढ़ा दी जाय तो उपभोक्ता की आय प्रत्यक्ष रूप से कम हो जायेगी, फलस्वरूप उपभोग पर व्यय भी कम हो जायेगा।
4. ब्याज की दर- ब्याज की दर में वृद्धि होने पर बचत अधिक होगी तथा उपभोग की इच्छा कम होगी।
5. ड्यूसेनबरी का दृष्टिकोण- ड्यूसेनबरी के अनुसार उपभोग केवल वर्तमान वर्ष की आय का फलन नहीं है बल्कि उपभोक्ता की वर्तमान आय और इसके पूर्व की उच्चतम आय के अनुपात का भी फलन है। इसके अलावा ड्यूसेनबरी ने “प्रदर्शन प्रभाव” की चर्चा की जिसके अनुसार लोगों में अपने से धनी व्यक्ति के उपभोग को अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है।

6. भविष्य में आय की सम्भावना- उपभोग प्रवृत्ति भविष्य में आय की सम्भावना पर भी निर्भर करती है। यदि भविष्य में लोगों को अधिक आय की सम्भावना हो तो वह वर्तमान आय में से बचत नहीं करेंगे और इसलिए उपभोग प्रवृत्ति अधिक होगी।

6.8 उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम:

प्रो० कीन्स ने उपभोग क्रिया के विश्लेषण के आधार पर अपना उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम प्रतिपादित किया है। यह नियम जनता की इस सामान्य प्रवृत्ति का प्रतीक है कि जब आय बढ़ती है तो उपभोग भी बढ़ जाता है, किन्तु यह आय की अपेक्षा कम बढ़ता है।

यह नियम तीन परस्पर सम्बन्धित बातों पर आधारित है:-

1. आय बढ़ने पर उपभोग-व्यय भी बढ़ता है, परन्तु आय-वृद्धि से कम
2. जब आय बढ़ती है तो इस वृद्धि को एक अनुपात में व्यय और बचत के बीच विभाजित कर दिया जाता है।
3. आय बढ़ने पर उपभोग-व्यय तथा बचत में कुछ वृद्धि ही होगी, कमी नहीं।

उपभोग के मनोवैज्ञानिक नियम की मान्यताएँ

यह नियम तीन मान्यताओं पर आधारित है जो इस प्रकार से हैं:

1. मनोवैज्ञानिक एवं संस्थागत कारण स्थिर रहते हैं- इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति का उपभोग केवल उसकी आय पर निर्भर करता है और अन्य मनोवैज्ञानिक अथवा संस्थागत कारण, जैसे- जनसंख्या, मनुष्य की आदतें, आय का वितरण, मूल्य स्तर आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता है।
2. सामान्य परिस्थितियाँ- उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम केवल सामान्य परिस्थितियों में ही लागू होता है।
3. स्वतन्त्र नीति अर्थव्यवस्था- कीन्स का उपभोग फलन सिद्धान्त केवल ऐसी अर्थव्यवस्था पर लागू होता है जो पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नीति पर आधारित होती है और जिसमें किसी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता।

6.9 उपभोग फलन की धारणा का महत्व

1. अपने उपभोग-फलन सम्बन्धी विश्लेषण के द्वारा कीन्स ने क्लासिकल, अर्थशास्त्रियों के आधारभूत 'से' के सिद्धान्त को चुनौती दी। कीन्स के अनुसार आय की वृद्धि के अनुपात में उपभोग में चूँकि कम वृद्धि होती है इसलिए 'से' का यह कहना गलत हो जाता है कि पूर्ति हमेशा मांग के बराबर होगी।

2. उपभोग-फलन के ही विश्लेषण के आधार पर कीन्स ने सर्वप्रथम व्यापार चक्रों के ऊपरी तथा निचले मोड़ बिन्दुओं की सन्तोषजनक व्यवस्था की।

3. उपभोग की औसत प्रवृत्ति तथा बचत की औसत प्रवृत्ति की गणना से यह ज्ञात किया जा सकता है कि एक नियोजित रोजगार से प्राप्त निश्चित उत्पादन में से कितना भाग उपभोग वस्तुओं के बेचने से प्राप्त होगा तथा कितना भाग विनियोग वस्तुओं के बेचने से। इससे यह भी जाना जा सकता है कि किसी भी अर्थव्यवस्था में उपभोग वस्तुओं के उद्योगों तथा पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों को किस अनुपात में विकसित किया जाना चाहिए क्योंकि APC का सम्बन्ध उपभोग वस्तुओं से है जबकि बचत की औसत प्रवृत्ति का सम्बन्ध पूँजीगत वस्तुओं से है।

4. कीन्स का यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार और आर्थिक स्थिरता के लिए आर्थिक नियम बनाने में सहायक होगा। बेरोजगारी की स्थिति में सरकार को प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करने के लिए ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे धनी वर्गों से आय निर्धन वर्गों की ओर अन्तरित हो सके, जिसके कारण प्रभावपूर्ण मांग आय में वृद्धि होगी क्योंकि निर्धनों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति धनवानों की अपेक्षा अधिक होती है।
5. कीन्स का उपभोग का सिद्धान्त दीर्घकालीन स्थिर मन्दी को स्पष्ट करता है। उपभोग प्रवृत्ति के स्थिर होने के कारण विनियोग के अवसर सीमित होते हैं और बचत बढ़ती जाती है इसलिए विकसित अर्थव्यवस्था में एक ऐसा समय आ जाता है जब वह अर्थव्यवस्था अपनी अति बचतों को विनियोग करने में असमर्थ हो जाती है। इसी स्थिति को मन्दी कहते हैं।
6. यह सिद्धान्त पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के गिरने की प्रवृत्ति की व्याख्या करने में सहायक है। जब उपयोग में वृद्धि, आय में वृद्धि की तुलना में धीमी गति से होता है तो कुल आय में कमी होती है जिसके कारण बाजार में वस्तुओं का आधिक्य हो जाता है। इस कारण से उत्पादक उत्पादन घटाने लगते हैं जिसे भविष्य में पूँजीगत वस्तुओं की मांग कम हो जाती है और पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कम हो जाती है।
7. कीन्स के सिद्धान्त के इस प्रतिपादन का, कि उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति धनात्मक होगी पर इकाई से कम होगी का विश्लेषणात्मक तथा व्यावहारिक महत्व है क्योंकि इससे हमें यह ज्ञात होता है कि उपभोग आय का एक वर्धमान फलन है पर यह आय की वृद्धि के सौ प्रतिशत से कम ही बढ़ता है। के.के. कुरिहारा का यह मत है कि दो तथ्यों की व्याख्या करने में इसका विशेष महत्व है- (i) अपूर्ण रोजगार स्तर पर संस्थिति की सैद्धान्तिक स्थिति पर विचार करने में तथा (ii) अत्यधिक विकसित अर्थव्यवस्थाओं में अपेक्षाकृत अधिक अस्थिरता पर विचार करने में।

6.10 उपभोग फलन की आलोचनाएँ

1. प्रो० हैजलिट ने कीन्स द्वारा प्रवृत्ति शब्द के अनुचित प्रयोग पर आपत्ति जताई है। प्रवृत्ति का अर्थ है झुकाव जबकि कीन्स ने प्रवृत्ति शब्द को आय के एक निश्चित भाग को व्यक्त करने के लिए उपयोग किया है। उसके साथ-साथ उपभोग प्रवृत्ति आय में से व्यय की जाने वाली राशि को प्रकट नहीं करती।
2. इस नियम की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह केवल अल्पकालीन नियम है क्योंकि दीर्घकाल में मनोवैज्ञानिक और संस्थागत तथ्यों में परिवर्तन हो जाने के कारण उपभोग प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हो जाता है।
3. उपभोग केवल चालू आय के द्वारा ही प्रभावित नहीं होता। इस पर भूतकाल की आय, भविष्य में आय प्राप्ति की सम्भावनाओं तथा सापेक्ष आय में अन्तरों का भी प्रभाव पड़ता है।
4. उपभोग व्यय का सम्बन्ध केवल आय से नहीं बल्कि धन के आकार अथवा आय और धन के बीच अनुपात से भी होता है।
5. केन्स की उपभोग प्रकृति की व्याख्या को व्यावहारिक अथवा सांख्यिकीय प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सका है।
6. उपभोग की व्याख्या परिमाणात्मक दृष्टिकोण से की गयी है, गुणात्मक पहलू पर विचार नहीं किया गया है।

7. प्रो० गार्डनर एक्ले के अनुसार कीन्स की व्याख्या न तो आगमन और न ही निगमन तर्क का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है।

अभ्यास प्रश्न 2

I) सत्य/असत्य

1. कीन्स के अनुसार आय के वृद्धि के अनुपात में उपभोग में कम वृद्धि होती है।
2. औसत बचत प्रवृत्ति का सम्बन्ध उपभोग वस्तुओं से है।
3. निर्धनों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति धनी वर्ग से अधिक होती है।

(II) रिक्त स्थान भरिए-

1. उपभोग आय का फलन है।
2. ड्यूसेनबरी ने प्रभाव की व्याख्या की।
3. $MPS + MPC =$
4. यदि MPC इकाई है तब MPS होगी।

6.11 सारांश:

इस इकाई में आपने जाना कि अर्थव्यवस्था का कुल उपयोग व्यय मुख्यतः आय पर निर्भर करता है, आय में वृद्धि होने पर उपभोग में कितनी वृद्धि होगी यह उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करेगा। उपभोग प्रवृत्ति को हम दो रूप में देख सकते हैं- औसत उपभोग प्रवृत्ति एवं सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति। अर्थव्यवस्था में उपभोग प्रवृत्ति के निर्धारक तत्वों को हमने व्यक्तिगत तत्व तथा वस्तुगत तत्व के रूप में समझा। फिर हमने कीन्स द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक नियम का विश्लेषण किया। इकाई के अन्त में हमने उपभोग फलन के महत्व एवं आलोचना का अध्ययन किया। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त कुल उपभोग मांग की विस्तृत जानकारी प्राप्त की।

6.12 शब्दावली:

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति- कुल उपभोग के स्तर में परिवर्तन का कुल आय स्तर में परिवर्तन से अनुपात

औसत उपभोग प्रवृत्ति- कुल उपभोग का कुल आय से अनुपात

धनात्मक- एक चर में वृद्धि से दूसरे चर में भी वृद्धि हो

राष्ट्रीय आय- किसी देश में एक वर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की विशुद्ध मात्रा।

6.13 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 (I) (1) आय (2) C/Y (3) $\Delta C/\Delta Y$

(II) (अ) (iv) (ब) (ii) (स) (iii) (द) (i)

अभ्यास प्रश्न 2

(I) (1) सत्य (2) असत्य (3) सत्य

(II) (1) वर्धमान (2) प्रदर्शन (3) 1 (एक) (4) 0 (शून्य)

6.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1. लाल एस.एन. “समष्टि भावी आर्थिक विश्लेषण” शिव पब्लिशिंग, इलाहाबाद ।
2. सिन्हा वी.सी. “समष्टिगत अर्थशास्त्र एवं मुद्रा बैंकिंग” साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा ।
3. सेठी टी.टी. “समष्टि अर्थशास्त्र” लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा ।

6.15 सहायक उपयोगी सामग्री:

1. सेठ एम.एल. “समष्टि अर्थशास्त्र” लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. Dwivedi, D.N.(1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
3. Ahuja ,H. L. ((1910) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
4. Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
5. Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

6.16 निबन्धात्मक प्रश्न:

1. उपभोग फलन से क्या अभिप्राय है? औसत उपभोग प्रवृत्ति तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. उपभोग प्रवृत्ति किन तत्वों से निर्धारित होती है?
3. केन्स का उपभोग सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त समझाइये।
4. उपभोग प्रवृत्ति के प्रकार एवं उसकी विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

इकाई – 7 विनियोग फलन एवं गुणक के सिद्धान्त

इकाई संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 निवेश फलन

7.3.1 निवेश के प्रकार

7.3.2 निवेश मांग वक्र

7.3.3 लाभ आशंसाएं तथा निवेश में परिवर्तन

7.3.4 पूँजी की सीमान्त क्षमता के निर्धारक तत्व

7.3.4(अ) अल्पकालीन तत्व

7.3.4(ब) दीर्घकालीन तत्व

7.3.5 अभ्यास प्रश्न/उत्तर

7.4 निवेश गुणक तथा गुणक के सिद्धान्त

7.4.1 निवेश गुणक सिद्धान्त का अर्थ

7.4.2 निवेश गुणक सिद्धान्त की परिभाषा

7.4.3 गुणक का आकार या मूल्य

7.4.4 गुणक का सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध

7.4.5 गुणक की क्रियाशीलता

7.4.6 प्रावैगिक अथवा सावधि गुणक

7.5 गुणक सिद्धान्त की सीमाएं

7.6 गुणक सिद्धान्त का महत्व

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 अभ्यास प्रश्न/उत्तर

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.11 उपयोगी सहायक पाठ्य सामग्री

7.12 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में आपने केन्स के उपभोग फलन, सीमान्त एवं औसत उपभोग प्रवृत्ति, उसकी विशेषताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में हम विनियोग की व्याख्या करेंगे। उपभोग की तुलना में विनियोग समग्र मांग का एक छोटा भाग है किन्तु वह अस्थिर है इसलिए केन्स ने अपनी अल्पकाल की व्याख्या में निवेश को महत्ता प्रदान की। स्वतंत्र निवेश आय में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता जबकि प्रेरित निवेश से आय बढ़ने पर उपभोग की वस्तुओं की मांग बढ़ती है, अतः निवेश बढ़ता है अर्थात् निवेश आय का फलन है। निवेश किन तत्वों से प्रभावित होता है इसको हम इस इकाई में समझेंगे। इसके उपरान्त केन्स द्वारा प्रतिपादित गुणक के सिद्धान्त की समीक्षा की जायेगी। आय निर्धारण के प्रसंग में गुणक सिद्धान्त का आर्थिक समस्या के समाधान में महत्वपूर्ण योगदान है। निवेश से उपभोग पदार्थों की मांग बढ़ने के फलस्वरूप आय बढ़ती है, वह कितने गुने बढ़ेगी यह गुणक के माध्यम से समझ सकते हैं। गुणक सिद्धान्त की सहायता से अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः विनियोगी वर्ग को विनियोग करने में सहायता होगी।

7.2 उद्देश्य:

इस इकाई में हम निवेश फलन के बारे में अध्ययन करेंगे।

- निवेश से जुड़ी औसत निवेश प्रवृत्ति और सीमान्त निवेश प्रवृत्ति की अवधारणाओं को समझेंगे।
- निवेश प्रेरणा को प्रभावित करने वाले तत्वों पूँजी की सीमान्त दक्षता और ब्याज दर की कार्यप्रणाली की जानकारी मिलेगी।
- निवेश मांग वक्र कैसे बनायें तथा आशांसाएं किस प्रकार निवेश को प्रभावित करेगी उसका विश्लेषण करेंगे।
- पूँजी की सीमान्त दक्षता को प्रभावित करने वाले तत्वों के बारे में जानेंगे।
- केन्स द्वारा प्रतिपादित गुणक सिद्धान्त की कार्य प्रणाली एवं उसके महत्व की व्याख्या करेंगे।

7.3 निवेश फलन:

मुख्य भाग- केन्स के मॉडल में राष्ट्रीय आय का निर्धारण समग्र मांग या समग्र व्यय द्वारा होता है विनियोग समग्र व्यय का एक भाग है अतः वह राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। उपभोग की तुलना में विनियोग समग्र मांग का एक छोटा भाग है किन्तु यह अत्यन्त अस्थिर है। अतः समग्र मांग में होने वाले अल्पकालीन परिवर्तनों के विश्लेषण में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। केन्स के अनुसार निवेश से अभिप्राय वास्तविक निवेश से है अर्थात् नये पूँजीगत पदार्थों का उत्पादन करना तथा उनको खरीदने के लिए व्यय करना। वास्तविक निवेश में मशीनें तथा साज सामान, औजार तथा उपकरण, निर्माण कार्य, पदार्थों के भण्डार तथा शुद्ध विदेशी निवेश सम्मिलित किये जाते हैं।

7.3.1 निवेश के प्रकार: निवेश दो प्रकार के होते हैं- स्वेच्छापूर्ण निवेश (autonomous investment) तथा प्रेरित निवेश (Induced investment)। स्वेच्छापूर्ण निवेश बिना लाभ हानि को ध्यान में रखकर किया जाता है। यह आय स्तर में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर नहीं करता। यह सरकार द्वारा सार्वजनिक कल्याण अथवा विकास के लिए किया जाता है। इसका सम्बन्ध जनसंख्या वृद्धि, तकनीकी प्रगति आदि से होता है। प्रेरित निवेश लाभ कमाने के उद्देश्य से किया जाता है। यह आय सापेक्ष है तथा आय बढ़ने के साथ बढ़ता है।

स्वायत्त निवेश आय के प्रति बेलोच होता है। यह मांग में परिवर्तन से प्रभावित होने के बजाय मांग को प्रभावित करता है। सार्वजनिक नीति के अन्तर्गत बिल्डिंग, बांध, सड़कों, नहरों, स्कूलों तथा अस्पतालों आदि पर किया गया व्यय स्वायत्त निवेश है। दीर्घकाल में सब प्रकार का निजी निवेश स्वायत्त बन जाता है क्योंकि उसे बहिर्जात घटक प्रभावित करते हैं।

प्रेरित निवेश लाभ अथवा आय से प्रेषित होता है। आय में वृद्धि होने पर उपभोग पदार्थों की मांग बढ़ती है जिसे पूरा करने के लिए निवेश बढ़ता है। प्रेरित निवेश आय का फलन है। $I = f(Y)$ आय सापेक्ष होने के कारण आय में वृद्धि अथवा कमी के साथ बढ़ता घटता है।

प्रेरित निवेश से जुड़ी अवधारणाएं हैं:-

(I) औसत निवेश प्रवृत्ति- निवेश का आय से अनुपात औसत निवेश प्रवृत्ति कहलाता है, अर्थात् I/Y

(II) सीमान्त निवेश प्रवृत्ति- निवेश में परिवर्तन का आय में परिवर्तन से अनुपात सीमान्त निवेश प्रवृत्ति कहलाता है अर्थात् $\Delta I/\Delta Y$ प्रेरित निवेश प्रायः निजी उद्यमियों द्वारा लाभ से प्रेरित होकर किया जाता है।

निवेश प्रेरणा मुख्य रूप से दो तत्वों पर निर्भर है: (1) निवेश से लाभ की प्रत्याशित दर अर्थात् पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (2) ब्याज दर। अगर किसी व्यक्ति के पास बचा हुआ रूपया है तो उसके दो वैकल्पिक उपयोग हैं, उसे वह किसी मशीनरी अथवा फैक्ट्री आदि में निवेश करे, या फिर उसे ब्याज पर उधार दे दे। अगर उसे मशीनरी अथवा फैक्ट्री आदि में निवेश करने से 15 प्रतिशत लाभ होने की आशा है जबकि उधार देने से 8 प्रतिशत तो वह मशीनरी और फैक्ट्री में निवेश करेगा।

निवेश को लाभकारी होने के लिए उस लाभ की प्रत्याशित दर कम से कम ब्याज की दर के बराबर होनी चाहिए। यदि लाभ की प्रत्याशित दर ब्याज दर से अधिक है तो नया निवेश किया जायेगा। अगर उद्यमी निवेश के लिए अपनी मुद्रा का प्रयोग नहीं करता बल्कि इसके लिए वह दूसरों से उधार प्राप्त करता है, तो निवेश से प्रत्याशित लाभ की दर अवश्य ही ब्याज दर से ऊँची होनी चाहिए, नहीं तो उद्यमी के लिए निवेश करना हानिकारक होगा। अगर उद्यमी 8 प्रतिशत ब्याज दर पर दूसरों से रूपया उधार लेता है, तो उसे निवेश लाभप्रद तभी होगा, जब उसे 8 प्रतिशत से अधिक प्रत्याशित लाभ की दर अर्जित करने की आशा हो। केन्स ने पूँजी की एक अतिरिक्त इकाई से प्रत्याशित लाभ की दर को पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कहते हैं। निवेश प्रेरणा में ब्याज दर की तुलना में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता या प्रत्याशित लाभ की दर का निवेश निर्धारित करने में अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि ब्याज दर लगभग स्थिर ही रहती है। लाभ सम्बन्धी आशाओं में वृद्धि या कमी के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता चंचल और अस्थिर होती है। फलतः निवेश मांग घटती बढ़ती रहती है जिसकी वजह से अर्थव्यवस्था की समस्त मांग को घटा बढ़ा देती है। इसी कारण आर्थिक उतार चढ़ाव अथवा व्यापार चक्र उत्पन्न होता है यदि लाभ की

आशंसाएं अधिक होंगी तो निवेश भी अधिक होगा समस्त मांग बढ़ेगी और अर्थव्यवस्था में तेजी की स्थिति उत्पन्न होगी। यदि उद्यमियों की लाभ की आशंसाएं कम हो जायेगी तो निवेश घट जायेगा और समस्त मांग घट जायेगी और मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः निवेश से लाभ की प्रत्याशित दर अथवा केन्स की पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (MEC) कहा है निवेश के निर्धारण में अधिक महत्वपूर्ण है।

केन्स के अनुसार ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति तथा नकदी अधिमान द्वारा निर्धारित होती है। नकदी अधिमान जितना अधिक होगा ब्याज दर उतनी ऊँची होगी। नकदी अधिमान तथा आय दी हुई होने पर मुद्रा की पूर्ति जितनी अधिक होगी ब्याज दर उतनी कम होगी। मुद्रा की पूर्ति देश के सेन्ट्रल बैंक भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा निर्धारित होती है जो अल्पकाल में स्थिर रहती है इसलिए हम आगे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की ही व्याख्या करेंगे। किन्तु पूँजीगत परिसम्पत्तियों की वार्षिक लागत का निर्धारण करने में ऋणों पर दी जाने वाली ब्याज दर का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।

MEC = ब्याज दर , निवेश पर निष्क्रिय प्रभाव

MEC > ब्याज दर , निवेश पर अनुकूल प्रभाव

MEC < ब्याज दर , निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव

पूँजी की सीमान्त क्षमता तथा ब्याज दर एक दूसरे से अलग अथवा स्वाधीन है परन्तु दोनों ही का प्रभाव निवेश की मात्रा पर पड़ता है। केन्स ने पूँजी की सीमान्त क्षमता को परिवर्तनशील तत्व माना इसलिए इसे निवेश का अधिक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व माना।

निवेश की नयी इकाई से लाभ की आशंसित या सम्भावित दर को केन्स ने पूँजी की सीमान्त क्षमता कहा। पूँजी की सीमान्त क्षमता (e) सीमान्त पूँजीगत परिसम्पत्ति की सम्भावित आय (Q) तथा उसकी लागत अथवा पूर्ति कीमत के अनुपात व्यक्त करती है।

सम्भावित आय अथवा भावी प्राप्ति (prospective yield) वार्षिक आय की वह राशि है जिसे निवेशक अपने द्वारा किये गये निवेश से जीवनकाल में शुद्ध प्रतिफल (अर्थात् लागत निकालकर) के रूप में प्राप्त करने की आशा रखता है। यह निवेश नयी परिसम्पत्ति के रूप में है और सम्पूर्ण जीवनकाल में मिल सकने वाली कुल शुद्ध प्राप्ति उसकी सम्भावित आय है।

निवेश करते समय सम्भावित आय के साथ नयी पूँजी परिसम्पत्ति प्राप्त करने की लागत अथवा पूर्ति कीमत को भी ध्यान में रखा जाता है। पूर्ति कीमत अथवा लागत का अर्थ उस कीमत से नहीं है जिस पर पहले मशीन खरीदी गयी थी, बल्कि उस कीमत अथवा लागत से है जिस पर अब नयी मशीन खरीदी जा सकती है। इसलिए इसे पुनः स्थापना लागत कहते हैं।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए केन्स द्वारा परिभाषित पूँजी की सीमान्त क्षमता है। “पूँजी की सीमान्त क्षमता बढ़े की उस दर के बराबर होती है जो पूँजी परिसम्पत्तियों के जीवन काल में प्राप्त होने वाले कुल वार्षिक प्रतिफलों की मात्रा के वर्तमान मूल्य को उसकी पूर्ति कीमत के बराबर कर दे। अतः किसी विशेष प्रकार की पूँजी परिसम्पत्ति की सीमान्त क्षमता वह दर है जिस पर उस परिसम्पत्ति की सीमान्त इकाई में प्रत्याशित भावी प्राप्ति में बड़ा काटा जाये ताकि यह उस परिसम्पत्ति की लागत अथवा पूर्ति कीमत के बराबर हो जाये।

पूर्ति कीमत = कटौती की हुई प्रत्याशित भावी प्राप्तियाँ

Supply Price = Discounted Prospective Yields

$$Sp = \frac{Q_1}{(1+r)^1} + \frac{Q_2}{(1+r)^2} + \frac{Q_3}{(1+r)^3} + \dots + \frac{Q_n}{(1+r)^n}$$

Sp = नयी पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत

$Q_1, Q_2, Q_3, \dots, Q_n$ = प्रत्याशित वार्षिक प्राप्तियाँ

r = बट्टा दर (discount rate) जो वार्षिक प्राप्तिओं के वर्तमान मूल्य को पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत के बराबर बना देती है। अतः r ही पूँजी की सीमान्त क्षमता को व्यक्त करता है। गतिशील अर्थ व्यवस्था में Q का मूल्य एक जैसा नहीं रहता। समीकरण के दोनों पक्षों के बीच समानता लाने के लिए कोई न कोई बट्टा दर अथवा पूँजी की सीमान्त क्षमता अवश्य होती है।

$Q_1 / (1+r)^1$ = प्रथम वर्ष के अन्त में प्राप्त की गयी वार्षिकी अथवा उपज का वर्तमान मूल्य जिसे पूर्ति कीमत के बराबर करने वाली बट्टा दर t है। अगर बट्टा दर 10 प्रतिशत हो तो वर्ष के अन्त में जो 100 रुपये प्राप्त करने की आशा है उसका वर्तमान मूल्य 90 रुपये 91 पैसे है।

$$\frac{Q_1}{(1+r)^1} = \frac{100}{1.10} = 90.91$$

पूँजी को सीमान्त क्षमता त 10 प्रतिशत होने पर यदि 90.91 पैसे निवेश किया जाये तो वर्ष के अन्त तक यह 100 रुपये हो जायेगा। अगर दूसरे वर्ष के लिए भी 10 प्रतिशत हो तो दो वर्ष बाद जो 100 रुपये प्राप्त करने की आशा है उसका वर्तमान मूल्य 82 रुपये 65 पैसे है-

$$\frac{Q_2}{(1+r)^2} = \frac{100}{(1.10)^2} = 82.65$$

82 रुपये 65 पैसे वर्तमान में निवेश करने पर दो वर्ष बाद 100 रुपये के बराबर हो जायेगा। इस तरह अलग-अलग वार्षिक प्राप्तिओं के वर्तमान मूल्य में कटौती करके उनके जोड़ को पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत अथवा पुनः स्थापना लागत के बराबर ला सकते हैं।

यदि पूर्ति कीमत = 3000

जीवनकाल = दो वर्ष

पहले वर्ष में आय प्राप्ति की आशा = 1100 रुपये

दूसरे वर्ष में आय प्राप्ति की आशा = 2420 रुपये

$r = 10$ या 10 प्रतिशत यदि इस दर पे 1100 रुपये एक वर्ष के लिए बट्टा काटा जाय 2420 रुपये इसी दर पर दो वर्ष का बट्टा काटा जाय तो दोनों राशियों को जोड़ने से कुल 3000 रुपये होंगे और यह पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत के बराबर है।

$$3000 = \underline{1100} + \underline{2420}$$

$$1.10 \quad (1.10)^2 \quad = 1000 + 2000 = 3000$$

r का Q से प्रत्यक्ष सम्बन्ध और S_p से विपरीत सम्बन्ध है। r का निश्चित अनुमान लगाना कठिन है किन्तु उद्यमी द्वारा निवेश तभी किया जा सकता है, जब प्रत्याशित शुद्ध भावी प्राप्ति (**net prospective yield**) पूर्ति कीमत से अधिक होगी। पूर्ति कीमत शुद्ध भावी प्राप्ति से अधिक होने पर निवेश की इच्छा नहीं होगी।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से जिस पूँजी परिसम्पत्ति की सीमान्त क्षमता सबसे अधिक होगी यदि अतिरिक्त निवेश उस पर किया जाय तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से वही निवेश सबसे अधिक लाभप्रद होगा। वही सबसे अधिक सीमान्त क्षमता अर्थव्यवस्था की सामान्य रूप में सीमान्त क्षमता होगी। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में अगर निवेश को बढ़ाना हो तो ऐसी पूँजी परिसम्पत्तियाँ बढ़ानी चाहिए जो अधिकतम क्षमता दें।

7.3.2 निवेश मांग वक्र

यदि किसी पूँजी में अधिक निवेश किया जाता है परिणामतः उसके पूँजी स्ट्राक में बढ़ोत्तरी होती है तो उस पूँजी में प्रत्येक वृद्धि करने से जो उससे अतिरिक्त लाभ की दर अर्थात् सीमान्त उत्पादकता प्राप्त होगी व प्रत्येक निवेश के साथ घटती जाएगी इसके दो कारण हैं- प्रथम उस पूँजी परिसम्पत्ति में अधिक निवेश करने से उसकी मांग बढ़ जाएगी जिससे वह महंगी हो जायेगी और उसकी पूर्ति कीमत बढ़ जाएगी और दूसरा उस पूँजी पदार्थ में अधिक निवेश करने से उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की पूर्ति बढ़ जाएगी जिससे उस वस्तु की कीमत घट जाएगी उस वस्तु की कीमत घट जाने से उससे प्राप्त होने वाली भावी सम्भावित आय कम हो जाएगी। अतः पूँजी की पूर्ति कीमत बढ़ने और उसकी वार्षिक सम्भावित आयों के घटने के कारण उस पूँजी से प्राप्त लाभ की प्रत्याशित दर घट जाएगी और निवेश के बढ़ने पर घटती ही चली जाएगी। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अधिक निवेश होने से घटती है। किसी अर्थव्यवस्था में सबसे पहले उन पूँजी पदार्थों में निवेश होता है जिनसे सर्वाधिक प्रत्याशित लाभ की दर प्राप्त होने की आशा होती है। जब निवेश बढ़ने पर लाभ की प्रत्याशित दर घट जाती है, तब अन्य पूँजीगत पदार्थों में निवेश किया जाता है जिनमें प्रथम प्रकार के पूँजीगत पदार्थों से कम लाभ की प्रत्याशित दर प्राप्त होती है। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था में निवेश बढ़ता है वैसे-वैसे कम लाभकारी पूँजीगत पदार्थों में निवेश करना पड़ता है।

पूँजी की हासमान सीमान्त क्षमता

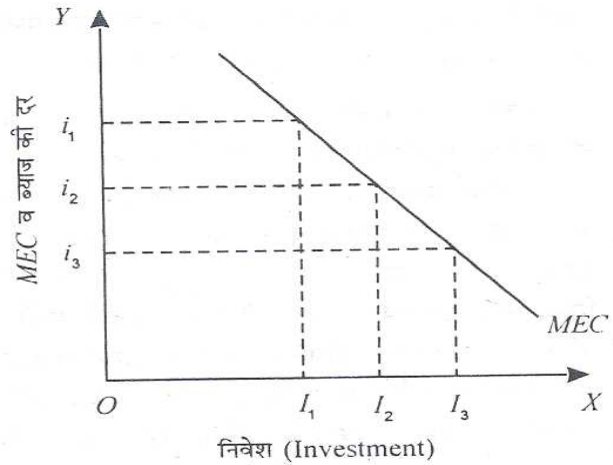
निवेश (करोड़ रुपये में)	पूँजी की सीमान्त क्षमता वार्षिक प्रतिशत
10	10
20	9
30	8
40	7
50	6
60	5

अनुसूची से हमें ज्ञात होता है कि निवेश की राशि बढ़ने के साथ-साथ पूँजी की सीमान्त क्षमता कम होती जाती है। निवेश मांग अनुसूची तैयार करते समय प्रचलित ब्याज दर को भी ध्यान में रखना पड़ता है। ब्याज दर में कमी के साथ निवेश मांग बढ़ती है। निवेश की मात्रा अधिक होने पर MEC तथा ब्याज दर दोनों कम होते हैं और एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं। किन्तु केन्स ने ब्याज दर को निवेश की मात्रा से स्वाधीन माना है जबकि MEC निवेश की मात्रा का फलन है। रेखाचित्र 7.1 में Xअक्ष पर निवेश तथा Yअक्ष पर MEC तथा ब्याज दर दिखाये गये हैं। ID वक्र निवेश मांग की रेखा है जो MEC की घटती हुई प्रवृत्ति को दिखाती है और ब्याज दर में कमी निवेश मांग को बढ़ाती है।

रेखाचित्र 7.1

यदि बाजार में प्रचलित ब्याज की दर i_1 के बराबर है और सन्तुलन में होने के लिए इतना निवेश होना चाहिए कि पूँजी की सीमान्त क्षमता ब्याज दर के बराबर हो जाये। ब्याज दर i_1 पर I_1 निवेश किया जायेगा क्योंकि इतने निवेश से ही MEC ब्याज दर i_1 के बराबर

है। अगर ब्याज दर घटकर i_2 हो जाए तो निवेश की मात्रा बढ़कर OI_2 हो जायेगी क्योंकि अब इतना निवेश करने पर ही MEC ब्याज दर i_2 के बराबर होगी। अर्थात् पूँजी की सीमान्त उत्पादकता वक्र ही ब्याज की विभिन्न दरों पर निवेश की मांग अथवा निवेश प्रेरणा को दर्शाता है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता वक्र ही निवेश मांग अथवा निवेश प्रेरणा वक्र होता है। अगर यह वक्र कम लोचदार हो तो ब्याज दर बहुत गिर जाने पर भी निवेश की मांग अधिक

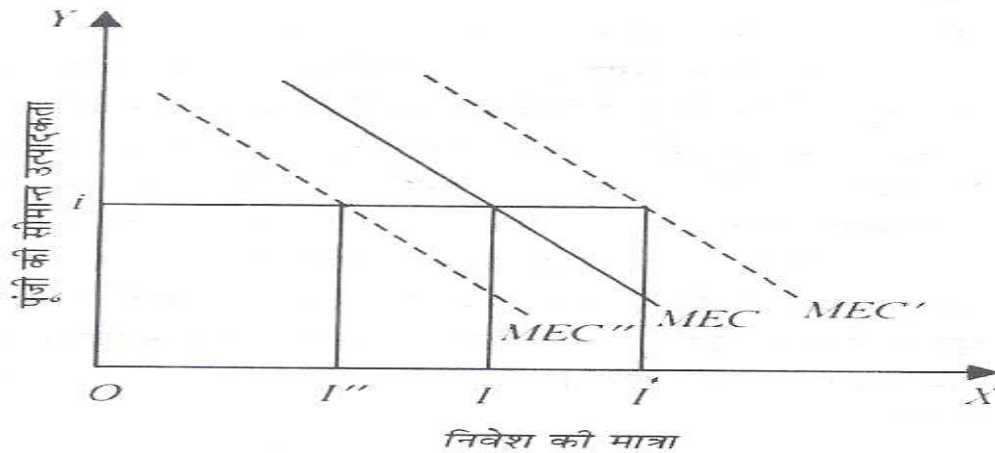


नहीं बढ़ेगी। अगर यह वक्र अधिक लोचदार हो तो ब्याज दर के थोड़ा सा घटने बढ़ने पर निवेश की मांग में बहुत परिवर्तन होगा।

7.3.3 लाभ आशंसाएं तथा निवेश में परिवर्तन:- पूँजी की सीमान्त उत्पादकता एक ओर तो पूँजी की लागत अथवा पूर्ति कीमत दूसरी ओर भावी सम्भावित आयों पर निर्भर करती है। किन्तु भावी सम्भावित आयें व्यवसायियों की आशंसाओं पर आधारित हैं और यह बदलती रहती है। ये आशंसाआयें वर्तमान निवेश को प्रभावित करती हैं। यदि आशंसाआयें कम हो जाती हैं तो उनकी सीमान्त उत्पादकता घट जाती है फलतः उनके द्वारा निवेश की मांग घट जाती है। इसके विपरीत जब लाभ आशंसाआयें बढ़ जाती हैं तो निवेश बढ़ जाता है। समस्त मांग बढ़ जाती है जिससे देश में आय और रोजगार की मात्रा में वृद्धि होती है और समृद्धि आती है।

अर्थात् आशंसाआयें निवेश निर्धारण परिणामतः देश की राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा निश्चित करने में बड़ा महत्व है।

रेखाचित्र 7.2



यदि लाभ की आशंसाएं परिवर्तित होंगी तो समस्त निवेश मांग वक्र **MEC** ऊपर अथवा नीचे सरक जायेगा। एक दी हुई ब्याज दर पर पहले से अधिक निवेश होगा अगर निवेश मांग वक्र ऊपर को सरक जाये। रेखाचित्र 7.2 के अनुसार जब निवेश मांग वक्र **MEC** है तो i ब्याज की दर पर निवेश **OI** के बराबर है। निवेश मांग वक्र के ऊपर को सरक कर **MEC'** हो जाने पर उसी ब्याज दर i पर अब निवेश बढ़कर **OI'** हो गया है।

यदि आशंसाआयें कम हो जाय तो निवेश मांग वक्र नीचे सरक जाएगा जैसा रेखाचित्र 7.2 में **MEC''** द्वारा दिखाया गया है। अब उसी ब्याज दर i पर कम निवेश **OI''** होगा। केन्स ने दीर्घकाल में आशंसाआओं को प्रभावित करने वाले तत्व जैसे तकनालाजी, श्रम पूर्ति, प्राकृतिक संसाधन आदि को स्थिर माना अतः इनकी व्याख्या नहीं की और केवल अल्पकालीन आशंसआओं की व्याख्या की जैसे भावी उपभोग मांग, सरकार की कर तथा मौद्रिक नीति।

7.3.4 पूँजी की सीमान्त क्षमता के निर्धारक तत्व:

7.3.4(अ) अल्पकालीन तत्व:

1. अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की मांग के अनुमान ऊँचे होने पर **MEC** भी ऊँची होती है और निवेश बढ़ता है।
2. लागतों और कीमतों से सम्बन्धित भविष्य के अनुमान भी **MEC** को प्रभावित करते हैं। भविष्य में लागतें कम होने और कीमते बढ़ने के अनुमान निवेश से प्राप्त होने वाली आय की आशा में वृद्धि करते हैं अतः **MEC** में वृद्धि होगी।
3. उपभोग प्रवृत्ति- प्रायः स्थिर किन्तु बढ़ने की प्रवृत्ति या सम्भावना **MEC** पर अनुकूल प्रभाव डालती है।
4. आय में परिवर्तन- अचानक लाभ अथवा हानि, करों में अचानक परिवर्तन की वजह से अचानक आय में परिवर्तन आय में बढ़ोत्तरी का **MEC** तथा निवेश पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

5.वर्तमान आशंसाएं भविष्य की व्यावसायिक आशंसाओं को प्रभावित करती हैं अगर वर्तमान में निवेश से प्राप्त आय की दर ऊँची है तो MEC ऊँची होगी।

6.आशावाद और निराशावाद की लहरें व्यावसायिक विश्वास तथा विस्तार का निर्धारण करती है। आशावाद से डम्ब बढ़ती है और निराशावाद से उसमें कमी आती है।

7.3.4(ब) दीर्घकालीन तत्व:

1.बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ज्यादा उत्पादन और निवेश की जरूरत होगी। जनसंख्या की वृद्धि दर ऊँची होने पर डम्ब अधिक होगी।

2.तकनीकी प्रगति से MEC बढ़ेगी क्योंकि उससे उत्पादन में कुशलता बढ़ेगी तथा उत्पादन लागत कम होगी।

3.वर्तमान प्रतिस्थापित क्षमता का पूरा उपयोग हो जाने से उत्पादन बढ़ाने के लिए नये निवेश की जरूरत होगी।

4.नये क्षेत्रों के विकास से निवेश में विस्तार होगा।

5.विदेशी व्यापार के अन्तर्गत निर्यात बढ़ने से निवेश का विस्तार होगा। आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने से भी देश में निवेश का विस्तार होता है।

केन्स ने अपनी अल्पकालीन व्याख्या के अन्तर्गत वस्तुनिष्ठ तत्वों को स्थिर मान लिया था। अतः आय अथवा लाभ पाने की सम्भावनाएं प्रायः व्यक्तिनिष्ठ होती हैं अतः MEC का मुख्य निर्धारक तत्व आशंसाआयें हैं।

अभ्यास प्रश्न 1

I रिक्त स्थान भरिए

1. कुल निवेश में से प्रतिस्थापन निवेश की राशि घटा देने पर की राशि ज्ञात की जा सकती है।
2. निवेश एक है।
3. ऐसा निवेश जो आय के परिवर्तन पर निर्भर नहीं करता निवेश कहलाता है।
4. कुल निवेश प्रतिस्थापन निवेश से अधिक होने पर शुद्ध निवेश होगा।
5. केन्स ने अपनी अल्पकालीन व्याख्या के अन्तर्गत वस्तुनिष्ठ तत्वों को मान लिया।
6. तकनीकी प्रगति से पूँजी की सीमान्त क्षमता ।
7. यदि परिवर्तित होगी तो समस्त मांग वक्र नीचे अथवा ऊपर सरक जायेगा।
8. यदि निवेश मांग वक्र अधिक लोचदार हो तो के थोड़ा भी घटने बढ़ने पर निवेश की मांग में बहुत परिवर्तन होगा।
9. पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अधिक निवेश होने से है।
10. यदि ब्याज दर के बराबर हो तो निवेश पर प्रभाव होगा।

7.4 निवेश गुणक तथा गुणक के सिद्धान्तः

7.4.1 निवेश गुणक सिद्धान्त का अर्थः

विनियोजन अथवा निवेश आय का प्रमुख निर्धारक है। अतः जब किसी अर्थव्यवस्था में निवेश किया जाता है तो कुल आय में वृद्धि हो जाती है परन्तु आय में वृद्धि केवल निवेश के बराबर न होकर प्रारम्भिक निवेश की तुलना में कुछ अधिक ही बढ़ जाती है। अन्य शब्दों में

गुणक निवेश परिवर्तन के कारण आय में होने वाले परिवर्तन के अनुपात को व्यक्त करता है।

कीन्स ने गुणक को 'K' अक्षर से व्यक्त किया है।

कीन्स के अनुसार:- "गुणक, उपभोग प्रवृत्ति के दिये हुए होने पर समस्त रोजगार एवं आय तथा विनियोजन के बीच ठीक-ठाक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह हमें बताता है कि जब विनियोग में कोई वृद्धि की जायेगी, तो आय में जो वृद्धि होगी वह विनियोग में की गयी वृद्धि के 'K' गुना होगी।" अर्थात्

$$K = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$$

या $K = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$

जहाँ $K =$ गुणक

$\Delta Y =$ आय में वृद्धि

$\Delta I =$ विनियोग में वृद्धि।

इस तरह, गुणक, विनियोजन में वृद्धि के कारण हुई आय में वृद्धि का अनुपात है।

कीन्स का कहना है कि विनियोग में प्रारम्भिक वृद्धि उपभोग में परिवर्तन कर देगी, जो कि कुल आय में वृद्धि का कारण बनेगी। इस प्रकार,

विनियोग में परिवर्तन (प्रारम्भिक कारण) (**Change in Investment**)

उपभोग में परिवर्तन (**Change in Consumption**)

कुल आय में परिवर्तन (अन्तिम परिणाम) (**Change in Aggregate Income**)

7.4.2 निवेश गुणक सिद्धान्त की परिभाषा:- गुणक की कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं-

1. कीन्स (Keynes)- "विनियोग गुणक हमें यह स्पष्ट कराता है कि जब कुल विनियोग में वृद्धि होती है तो आय उस राशि से बढ़ेगी जो विनियोग वृद्धि के K गुना हो।"

2. हैन्सन (Hansen)- "कीन्स का विनियोग गुणक वह गुणांक है, जिसका सम्बन्ध विनियोग वृद्धि और आय वृद्धि के मध्य से है।"

अर्थात् $K = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुणक विनियोग में हुई वृद्धि के कारण आय में वृद्धि का अनुपात है। इसलिए कीन्स का गुणक विनियोग या आय गुणक के नाम से जाना जाता है।

7.4.3 गुणक का आकार या मूल्य:- गुणक सिद्धान्त में, महत्वपूर्ण तत्व गुणक-गुणांक (Multiplier Coefficient) K है, जो उस शक्ति को निर्दिष्ट करता है जिससे प्रारम्भिक विनियोजन व्यय को गुणा कर आय में अन्तिम वृद्धि प्राप्त की जा सकती है। विनियोग में होने वाली प्रारम्भिक वृद्धि आय में कई गुना वृद्धि लाती है, विनियोग के कारण आय की प्रारम्भिक वृद्धि एक श्रृंखला प्रभाव (Chain effect) को जन्म देती है जिसके परिणामस्वरूप आय में कई गुना वृद्धि होती है।

उदाहरण के लिए- माना कि सरकार ने 1000 रूपया सड़क बनवाने पर विनियोजित किया। यह 1000 रूपया सड़क बनवाने में लगे हुए मजदूरों की आय होगी। यदि मजदूर इस आय को व्यय न करें तो कुल आय 1000 रूपये के बराबर ही होगी। ऐसा तब होगा जब आय अर्जित करने वाले वर्ग की MPC शून्य हो

माना कि, मजदूर की $MPC = 415$ है।

ऐसी स्थिति में वह 800 रूपया अपने उपभोग पर व्यय करेगा। माना गेहूँ का उत्पादक भी 415 उपभोग करता है, यदि वह 640 कपड़े पर व्यय करे तो 640 रूपये कपड़े वाले की आय होगी। यह श्रृंखला प्रभाव चलता जायेगा। इस प्रकार, विनियोग की प्रारम्भिक वृद्धि कुल आय में कई गुनी वृद्धि होगी।

विनियोग की प्रारम्भिक वृद्धि (ΔI) तथा आय में होने वाली वृद्धि (ΔY) के बीच का गुणात्मक सम्बन्ध ही गुणक है।

इस प्रकार यह हमें बतलाता है कि विनियोग की प्रारम्भिक वृद्धि के कारण आय में कितनी गुनी वृद्धि होगी।

यदि $K =$ गुणक, $\Delta I =$ विनियोग में होने वाली प्रारम्भिक वृद्धि हो तो यह कहा जा सकता है कि,

$$K = \Delta Y / \Delta I \quad \text{या} \quad \Delta Y = K \times \Delta I$$

यदि 10 करोड़ रूपये का प्रारम्भिक विनियोग आय में 50 करोड़ रूपये की वृद्धि लाये तो विनियोग गुणक

$$50/10 = 5 \text{ होगा।}$$

गुणक का सूत्र- $\Delta Y = K \times \Delta I$ यहाँ Δ वृद्धि को प्रकट करता है। Y आय को, K गुणक को तथा I विनियोग को प्रकट करता है।

$$\text{अतः } \Delta Y = K \times \Delta I \text{ Or } K = \Delta Y / \Delta I$$

अर्थात् K (गुणक) विनियोग में हुई वृद्धि के कारण आय में होने वाले परिवर्तन का अनुपात होता है।

इस प्रकार यदि किसी अर्थव्यवस्था में विनियोग में वृद्धि 10 करोड़ रूपये होती है और राष्ट्रीय आय में वृद्धि 40 करोड़ रूपये की होती है तो गुणक 4 होगा।

7.4.4 गुणक का सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध:

गुणक का आकार सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है, यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति अधिक है तो गुणक भी अधिक होगा, इसके विपरीत, यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कम है, तो गुणक भी कम होगा।

वास्तव में, हम गुणक के आकार को सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के माध्यम से ज्ञात करते हैं।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के माध्यम से गुणक निकालने का सूत्र इस प्रकार है:-

$$K = \frac{1}{1 - MPC}$$

या गुणक = $\frac{1}{1 - \text{सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति}}$
 माना, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $1/2$ हैं।

$$\text{तो गुणक} = \frac{1}{1 - 1/2} = \frac{1}{1/2} = \frac{2}{1} = 2$$

हम जानते हैं कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) और सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) इकाई के बराबर होती है इसलिए यदि हम सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को 1 में से घटा दें, तो हमें सीमान्त बचत प्रवृत्ति मालूम हो जायेगी।

अतः हम गुणक को इस सूत्र द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं:

$$\text{या गुणक} = \frac{1}{\text{सीमान्त बचत प्रवृत्ति}}$$

इस प्रकार यदि हमें सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति अथवा सीमान्त बचत प्रवृत्ति दोनों में से एक मालूम है तो आसानी से गुणक ज्ञात कर सकते हैं।

गुणक का अनुमान सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) द्वारा किया जा सकता है:

$$K = \frac{1}{MPS}$$

अर्थात् गुणक तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। ऊँची सीमान्त बचत प्रवृत्ति, गुणक की मात्रा को घटायेगी एवं विलोमशः

गुणक को सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी व्यक्त किया जा सकता है।

$$K = \frac{1}{MPS} \quad K = \frac{1}{1 - MPC}$$

$$\text{क्योंकि } K = \frac{1}{1 - MPC} = \frac{1}{1 - \Delta C / \Delta Y} = \frac{\Delta Y}{\Delta Y - \Delta C}$$

इस सूत्र की उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है:

कीन्स के मतानुसार,

आय में वृद्धि = उपभोग में वृद्धि + विनियोग में वृद्धि

$$\Delta Y = \Delta C + \Delta I$$

दोनों पक्षों को ΔY से भाग देने पर

$$\frac{\Delta Y}{\Delta Y} = \frac{\Delta C + \Delta I}{\Delta Y}$$

$$1 = \text{MPC} + \frac{\Delta I}{\Delta Y}$$

$$\text{या } 1 = \text{MPC} + \frac{\Delta I}{\Delta Y}$$

$$\text{या } \frac{\Delta I}{\Delta Y} = 1 - \text{MPC}$$

$$\text{या } \frac{\Delta Y}{\Delta I} = \frac{1}{1 - \text{MPC}} = \frac{1}{\text{MPS}} = K$$

$$\text{अर्थात् } K = \Delta Y / \Delta I$$

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुणक का आकार **MPS** के साथ विपरीत सम्बन्ध । **Inverse Relationship/MPC** के साथ सीधा सम्बन्ध (**Direct Relationship**) होता है।

तालिका द्वारा गुणक तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के बीच सम्बन्ध का स्पष्टीकरण: यह स्पष्ट है कि गुणक का **MPC** का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

निम्न तालिका में विभिन्न **MPC** के स्तरों पर गुणक के आकारों को दिखाया गया है:

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति एवं गुणक

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC)	सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS)	गुणक (K=1/MPS)
0	1	1
1/3	2/3	1½
1/2	1/2	2
2/3	1/3	3
3/4	1/4	4
4/5	1/5	5
8/9	1/9	9
9/10	1/10	10
1	0	अनन्त

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि गुणक का MPC के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है तथा MPS के साथ विपरीत सम्बन्ध होता है। चूँकि MPC सदैव शून्य से अधिक एवं एक से कम होती है, गुणक सदैव 1 तथा अनन्त के बीच होता है।

यदि गुणक 1 है तो इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण आय की वृद्धि बचत कर ली जाती है और उपभोग पर कुछ व्यय नहीं किया जाता क्योंकि MPC शून्य है किन्तु व्यवहार में MPC शून्य से अधिक होती है। यदि MPC 1 हो तो गुणक अनन्त होता है, किन्तु ऐसा भी व्यवहार में नहीं होता एवं MPC एक से कम होती है।

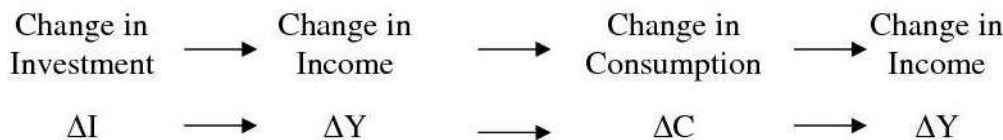
तालिका से यह भी स्पष्ट है कि जितनी सीमान्त बचत प्रवृत्ति कम होती है, गुणक उतना ही अधिक होता है इसका कारण यह है कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति कम होने पर उपभोग अधिक होता है जिससे गुणक के आकार में वृद्धि होती है।

7.4.5 गुणक की क्रियाशीलता:-गुणक सिद्धान्त विनियोग में परिवर्तन के उस संचयी प्रभाव की व्याख्या करता है जो उसके उपभोग व्यय पर प्रभाव के माध्यम से आय पर पड़ता है। विनियोग में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन होता है, इसके फलस्वरूप उपभोग में परिवर्तन होता है।

एक व्यक्ति का उपभोग व्यय व्यक्ति की आय होती है, इसलिए उपभोग में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन होता है, एक व्यक्ति का उपभोग व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होती है, इसलिए उपभोग में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन होता है। इस प्रकार, यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक उपभोग व्यय शून्य नहीं हो जाता।

गुणांक के आय प्रसारण की क्रिया को चित्र द्वारा दिखाया गया है:-

गुणक प्रक्रिया (Multiplier Process)



गुणक आगे एवं पीछे दोनों ही दिशाओं में क्रियाशील हो सकता है। जब गुणक आगे की दिशा में क्रियाशील होता है तो इससे विनियोग में वृद्धि होती है तथा आय में वृद्धि होती है। पीछे की दिशा में गुणक उस समय क्रियाशील होता है, जब विनियोग में कमी होने से आय में तथा उपभोग में कमी होती है। पहले हम उस स्थिति का अध्ययन करेंगे। जब गुणक आगे की दिशा में क्रियाशील होता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि गुणक सिद्धान्त यह बताता है कि विनियोग में परिवर्तन होने से उपभोग पर प्रभाव के माध्यम से क्या प्रभाव पड़ता है।

प्रो० कीन्स ने गुणक की व्याख्या बिना समय अन्तराल के तात्कालिक प्रक्रिया के रूप में की है। इसका अर्थ यह है कि विनियोग में होने वाले परिवर्तन का आय पर तत्काल प्रभाव पड़ता है। जैसे ही विनियोग में वृद्धि होती है एवं आय में वृद्धि होती है उससे उपभोग व्यय बढ़ता है।

यह आय एवं व्यय की वृद्धि हासमान श्रृंखला में (Dwindling Series) में उस सीमा तक बढ़ती है कि उसके आगे और वृद्धि सम्भव नहीं होती।

उदाहरण से स्पष्टीकरण:-

यह मान लें कि अर्थव्यवस्था में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) $\frac{1}{2}$ या 50% हैं। अब विनियोग में 100 करोड़ रुपये की वृद्धि की जाती है, तो इससे तत्काल उत्पादन आय में 100 करोड़ रुपये की वृद्धि हो जायेगी। चूँकि MPC $\frac{1}{2}$ है तो इस 100 करोड़ रुपये की आय वृद्धि में से 50 करोड़ रुपये तुरन्त उपभोग पर व्यय होंगे जिससे उतनी ही उत्पादन एवं आय में वृद्धि होगी। यह वृद्धि की श्रृंखला उस सीमा तक जारी रहेगी, जब तक कि प्रारम्भिक 100 करोड़ रुपये के विनियोग से कुल आय बढ़कर 200 करोड़ रुपये नहीं हो जाती।

कीन्स ने इस प्रकार जो समय अन्तराल के बिना व्याख्या की हैं, उसमें चूँकि गुणक एक निश्चित अनुक्रम में कार्यशील होता है, अतः इसे अनुक्रम गुणक (Sequence Multiplier) भी कहते हैं।

तालिका द्वारा स्पष्टीकरण:

अनुक्रम गुणक		(राशि करोड़ रुपये में)		
अनुक्रम	विनियोग में वृद्धि ΔI	आय में वृद्धि ΔY	सीमान्त आयोग प्रवृत्ति MPC=5	बचत में वृद्धि $\Delta S (\Delta Y - \Delta C)$
1	100	100	50	50
2		50	25	25
3		25	12.50	12.50
4		12.50	6.25	6.25
5		6.25	3.12	3.25
	
		0	0	0
अन्तिम स्थिति	100	200	100	100

तालिका से स्पष्ट है कि आय में जो वृद्धि होती है उसका $\frac{1}{2}$ भाग उपभोग पर व्यय किया जाता है तथा शेष बचा लिया जाता है। जो उपभोग पर व्यय किया जाता है, उससे उत्पादन व आय में उतनी ही वृद्धि होती है, पुनः उसका 50% उपभोग पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार आय सृजन की यह हासमान प्रक्रिया उस समय तक चलती रहती है, जब तक कि प्रारम्भिक 100 करोड़ रुपये से आय बढ़कर 200 करोड़ रुपये नहीं हो जाती।

गुणक सूत्र से भी यह स्पष्ट है।

$$K = \Delta Y / \Delta I$$

$$\text{अर्थात् } \Delta Y = K \Delta I$$

$$\text{अर्थात् } 200 = 2 \times 100$$

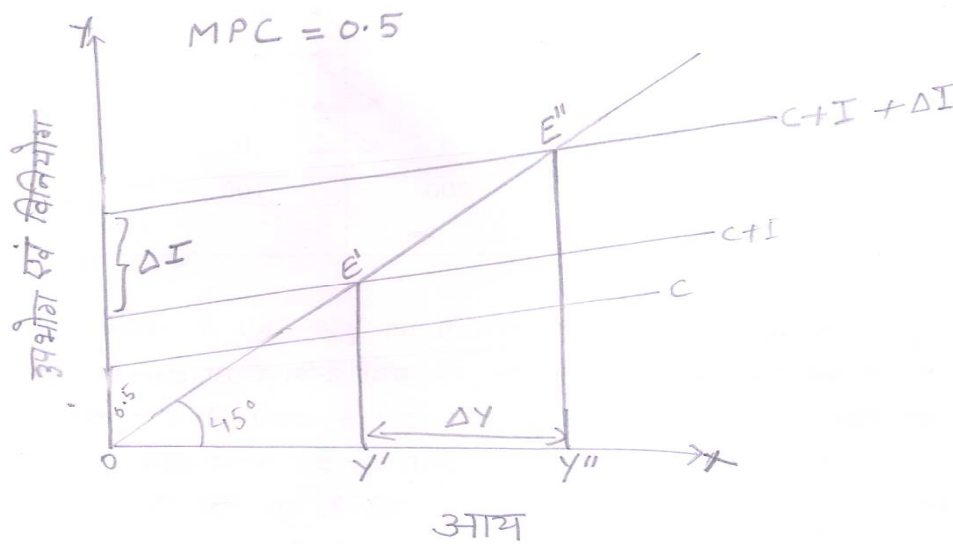
यहाँ पर ΔY = आय में वृद्धि, K = गुणक, ΔI = विनियोग में वृद्धि

चूँकि MPC 0.5 अथवा 1/2 है, अतः गुणक 2 होगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण:

कीन्स के विनियोग गुणक को रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र में OX अक्ष पर आय एवं OK पर उपभोग एवं विनियोग को दिखाया गया है। $C+I$ वक्र प्रारम्भिक विनियोग को दिखाता है जो 45° की रेखा को E बिन्दु पर काटता है।

इस बिन्दु पर आय का सन्तुलन- रेखाचित्र 7.3



OY' बिन्दु पर है। अब विनियोग में वृद्धि की जाती है जो $C+I+\Delta I$ वक्र द्वारा दिखाई गई है एवं $C+I$ तथा $C+I+\Delta I$ वक्र के अन्तर ΔI से भी स्पष्ट है। यह वक्र 45° रेखा को बिन्दु E'' पर काटता है तथा इस बिन्दु पर बढ़ी हुई आय OY'' है। रेखाचित्र से यह स्पष्ट है कि विनियोग में जो वृद्धि ΔI होती है, उसकी तुलना में आय में दुगुनी वृद्धि होती है जिसे चित्र में ΔY द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

उपर्युक्त प्रक्रिया को गुणक के पिछली दिशा में कार्यान्वित होने की स्थिति में भी स्पष्ट किया जा सकता है। यहाँ विनियोग की मात्रा घटने पर उत्पादन और आय घटती है तथा उपभोग भी कम होता है।

उदाहरण के लिए- यदि विनियोग में 100 रुपये की कमी की जाती है तो अन्त में जाकर आय में 200 रुपये की कमी हो जाती है। यहाँ $MPC=0$ ही है।

7.4.6 प्रावैगिक अथवा सावधि गुणक (Dynamic Or Periodic Multiplier)

केन्स का विनियोग गुणक बिना समय अन्तराल के एक तात्कालिक प्रक्रिया है जो बताता है कि विनियोग का आय पर तत्काल ही प्रभाव पड़ता है जिससे उपभोग वस्तुओं का तत्काल उत्पादन किया जा सकता है एवं उपभोग व्यय भी तत्काल होता है, किन्तु आलोचकों का कहना है कि ये क्रियाएं तात्कालिक नहीं होतीं, वरन् इनमें कुछ न कुछ समय अन्तराल लगता है। अतः केन्स का गुणक जो समय अन्तराल की अवहेलना कर नये सन्तुलन की व्याख्या करता है, अवास्तविक है।

केन्स के स्थैतिक गुणक के विपरीत, प्रावैगिक गुणक आय सृजन की प्रक्रिया में समय अन्तराल पर विचार करता है। इसके अन्तर्गत विनियोग के फलस्वरूप आय और उपभोग पर व्यय आदि की प्रक्रिया में वर्षों तक की अवधि लग जाती है।

इसे निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है:-

प्रावैगिक गुणक

अवधि (माह में)	विनियोग में वृद्धि ΔI	उपभोग में वृद्धि ΔC MPC=0.5	राशि करोड़ रुपये में आय में वृद्धि ΔY
0	0	0	0
0+1	100	0	100
0+2	100	50	100+50
0+3	100	25	150+25
---	---	---	-----
0+n	100	100	200

तालिका में यदि हम यह मानें कि प्रत्येक अवधि एक माह की हैं तथा प्रारम्भिक 100 करोड़ रुपये के विनियोग को, 200 करोड़ रुपये की आय सृजन करने में 17 माह की अवधि लगती हैं तथा है MPC 0.5 हैं तो गुणक प्रक्रिया को पूरी करने में 17 माह की अवधि का समय अन्तराल लगेगा।

तालिका से स्पष्ट है कि 100 करोड़ के विनियोग से पहले माह में आय में 100 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। चूँकि MPC 0.5 है, अतः इसमें 50 करोड़ रुपये उपभोग पर व्यय किये जायेंगे। अतः दूसरे माह में आय में 50 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी, जिसमें से 25 करोड़ रुपये उपभोग पर व्यय किये जायेंगे। अतः तीसरे माह में आय में 25 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी।

यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक 17 माह की अवधि में आय बढ़कर 200 करोड़ रुपये हो जायेगी।

तालिका में $1+n$ 17 माह की अवधि का सूचक है। इसे बीजगणितीय रूप में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

$$\Delta Y_n = \Delta I + \Delta Ic + \Delta Ic^2 + \Delta Ic^3 \dots + \Delta Ic^{n-1} = 100 + 100(0.5) + 100(0.5)^2 + 100(0.5)^3 + 100(0.5)^{n-1} = 200 \text{ करोड़ रुपये}$$

उपर्युक्त सूत्र में C सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) का सूचक होगा।

प्रावैगिक गुणक की यह मान्यता है कि उपभोग में समय अन्तराल लगता है, किन्तु विनियोग तत्काल कर लिया जाता है।

इसका तात्पर्य है कि उपभोग, पिछली अवधि की आय का फलन है तथा विनियोग समय एवं स्थिर स्वायत्त विनियोग का फलन है।

7.5 गुणक सिद्धान्त की सीमाएं

इस सिद्धान्त की अनेक सीमार्यें हैं जिसके भीतर ही यह सिद्धान्त कार्यशील होगा। ये सीमार्यें निम्नांकित हैं:-

1. गुणक सिद्धान्त के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था में उपभोग की वस्तुयें उपलब्ध हो न हो तो उपभोग बढ़ेगा ही नहीं और गुणक कार्यशील नहीं होगा।
2. इसकी दूसरी सीमा यह है कि उपभोक्ता को जब आय प्राप्त होती है तथा जब उसे वह व्यय करता है, इन दोनों के बीच पर्याप्त समय होना चाहिए, यह अवधि जितनी ही लम्बी होगी, गुणक उतना ही अधिक क्रियाशील होगा।
3. गुणक के प्रभाव के लिए यह भी आवश्यक है कि किसी एक क्षेत्र में विनियोग का अन्य क्षेत्रों के विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े।
4. गुणक प्रभाव उसी समय कार्यशील होगा जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार स्तर से नीचे हो तथा अनेक साधन बेकार पड़े हों।
5. गुणक के प्रभाव के कारण जो आय में वृद्धि होती है, उस आय प्रभाव में से रिसाव नहीं होने चाहिए। यह रिसाव जितना ही होगा, गुणक प्रभाव उतना ही कम होगा।

प्रायः निम्नांकित रिसाव हो सकते हैं:-

(क) ऋण का भुगतान:-अगर कोई व्यक्ति ऋणी है तो बढ़ी आय का कुछ भाग वह ऋण के भुगतान में प्रयोग कर सकता है, यदि ऋण का भुगतान प्राप्तकर्ता व्यय नहीं करे तो आय प्रवाह में कमी आयेगी और विनियोग गुणक की शक्ति में कमी आयेगी।

(ख) निष्क्रिय जमा:-सरकार की साख नियंत्रण नीति अथवा उचित विनियोग के वातावरण के अभाव में बैंकिंग संस्थायें अपने पास निष्क्रिय जमा रखने लगे तो आय प्रवाह में कमी आयेगी।

(ग) तरलता पसन्दगी:-यदि दोनों की तरलता पसन्दगी बहुत अधिक हो और अधिक से अधिक नगद अपने पास रखना चाहते हैं तो आय सृजन प्रभाव कम होगा, तथा गुणक कम क्रियाशील होगा।

(घ) वित्तीय विनियोग:-बढ़ी हुयी आय का कुछ भाग यदि पुरानी प्रतिभूतियों के खरीदने पर व्यय होता है तथा जिनके पास आय जाती है वह व्यय नहीं करता है तो गुणक प्रभाव कम होगा।

(ड.) आयात की मात्रा:-यदि बढ़ी आय का कुछ भाग विदेशों से वस्तुओं के आयात पर व्यय होता है तो आय का वह भाग अपनी अर्थव्यवस्था में व्यय नहीं होगा। दूसरे देश में प्रवाहित हो जायेगा, गुणक प्रभाव कम होगा।

(च) रिसाव के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि $K = 1/S$ अर्थात् गुणक का मूल्य S (बचत की प्रवृत्ति) के ऊपर निर्भर करेगा जितना S अधिक होगा, सृजित आय से रिसाव उतना ही अधिक होगा, K का मूल्य उतना ही कम होगा।

7.6 गुणक सिद्धान्त का महत्व

गुणक सिद्धान्त का आय और रोजगार के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण स्थान है। इसे निम्न शीर्षकों से व्यक्त किया जा सकता है:-

1. **पूर्ण रोजगार के लिए:-** यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रारम्भिक विनियोग से आय और रोजगार में वृद्धि होती है यदि इस वृद्धि में पूर्ण रोजगार प्राप्त नहीं होता, तो सरकार विनियोग में वृद्धि करके, गुणक को कार्यशील बनाकर, पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त कर सकती है।

2. **हीनार्थ प्रबन्धन के क्षेत्र में:-** गुणक सिद्धान्त, हीनार्थ प्रबन्धन के महत्व को भी स्पष्ट करता है, यदि अर्थव्यवस्था में मन्दी की स्थिति है तो ब्याज की दर में कमी करके इसमें सुधार नहीं किया जा सकता, क्योंकि डम्बू काफी नीची रहती है। ऐसी स्थिति में सरकार, सार्वजनिक विनियोग में वृद्धि करके, गुणक के बराबर आय व रोजगार में वृद्धि करती है एवं मन्दी की स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

3. **व्यापार चक्र को नियंत्रित करने के लिए:-** गुणक का सिद्धान्त व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में कमी होने से, गुणक पिछली दिशा में कार्यशील होता है तथा मन्दी की स्थिति आ सकती है। विनियोग में वृद्धि से तेजी की स्थिति आती है।

यदि अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार की स्थिति है तो विनियोग घटाकर, गुणक के माध्यम से, आय में कमी करके उसे नियंत्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार अवसाद की स्थिति को भी नियंत्रित किया जा सकता है।

4. **विनियोग के क्षेत्र में:-** गुणक का सिद्धान्त आय और रोजगार के क्षेत्र में विनियोग के महत्व को प्रतिपादित करता है।

कीन्स के अनुसार:- अल्पकाल में उपभोग क्रिया लगभग स्थिर रहती है, आय तथा रोजगार में होने वाले उच्चावचनों को, विनियोग की मात्रा में परिवर्तन करके ठीक किया जा सकता है।

5. **बचत तथा विनियोग में समानता:-** गुणक के माध्यम से बचत और विनियोग में समानता स्थापित की जा सकती है, यदि इन दोनों में असमानता है, तो विनियोग में वृद्धि से गुणक प्रक्रिया से आय में वृद्धि होती है तथा आय में वृद्धि से बचत में भी वृद्धि होती है, जिससे दोनों में समानता हो जाती है।

इस प्रकार प्रो⁰ कीन्स ने आय सृजन के लिए गुणक का महत्व प्रतिपादित किया।

अभ्यास प्रश्न 2

1. विनियोग गुणक की धारणा को किसने विकसित किया?

2. गुणक का सूत्र क्या है?

3. गुणक का MPC में क्या सम्बन्ध है?

4. MPS का गुणक के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है?

5. यदि 10 करोड़ रुपये का प्रारम्भिक विनियोग आय में 50 करोड़ रुपये की वृद्धि लाये तो विनियोग गुणक क्या होगा?

6. गुणक का मान बताइये।

7.7 सारांश

इस इकाई में आपने निवेश, फलन एवं गुणक सिद्धान्त की विस्तृत जानकारी प्राप्त की निवेश फलन समग्र व्यय को प्रभावित करता है। अतः वह राष्ट्रीय आय निर्धारण का महत्वपूर्ण तत्व है। इसका अध्ययन इसलिए भी जरूरी हो जाता है क्योंकि यह अत्यन्त अस्थिर है। प्रेरित निवेश लाभ से प्रेरित होता है, इसके मुख्य तत्व हैं पूँजी की सीमान्त उत्पादकता और ब्याज दर। - निवेश तभी लाभकारी होगा जब लाभ की प्रत्याशित दर कम से कम ब्याज दर के बराबर हो, यदि $MPC > r$ तभी नया निवेश होगा। अल्पकाल में ब्याज दर स्थिर रहती है। इसलिए हमने पूँजी की सीमान्त क्षमता का विस्तृत अध्ययन किया। निवेश मांग को प्रभावित करने वाले तत्वों को जानना तथा निवेश मांग वक्र कैसे बनाया जाता है तथा उसकी विशेषताओं को जानना। लाभ की आशासाआयें किस प्रकार निवेश को प्रभावित करती हैं, इसे भी समझा। इसके उपरान्त हमने निवेश गुणक एवं गुणक सिद्धान्त को समझा गुणक के अध्ययन से मुख्य बातें जो निकलकर आयीं वह निम्नलिखित हैं:-

1. गुणक सीमान्त उपभोग की प्रवृत्ति के आकार पर निर्भर करता है, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति जितनी ही अधिक होगी, गुणक उतना ही अधिक होगा।
2. सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति और गुणक के आकारों में विपरीत सम्बन्ध होता है।
3. गुणक दोनों दिशाओं में कार्य करता है, अर्थात् आय में थोड़ी सी वृद्धि राष्ट्रीय आय में कई गुना वृद्धि कर देती है और व्यय में कमी, गुणक की उल्टी दिशा में कार्य करने से कई गुनी आय में कमी ला देती है।
4. गुणक का आकार वर्तमान आय में से होने वाले रिसावों के जोड़ पर निर्भर करता है।
5. गुणक तभी कार्य कर सकता है, जबकि आर्थिक प्रणाली में व्ययों में निरन्तर और स्वतन्त्र परिवर्तन होते रहते हैं।
6. सामान्यतः MPC शून्य नहीं होती, लेकिन जब कभी उपभोक्ता द्वारा अपनी समस्त आय बचा ली जाती है तो ऐसी दशा में MPC शून्य हो जाती है और गुणक का मूल्य 1 के बराबर हो जाता है।
7. जब MPC का मान 1 होता है, अर्थात् जब सम्पूर्ण आय व्यय कर दिया जाता है तो ऐसी दशा में गुणक का मान अनन्त होता है।
8. साधारणतया गुणक का मान इकाई या अनन्त नहीं होता है। यह प्रायः इकाई और अनन्त के मध्य विचरण करता रहता है।

7.8 शब्दावली:

- **गुणक:-** गुणक उपभोग प्रवृत्ति के दिया होने पर समस्त रोजगार एवं आय तथा विनियोग के बीच ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह हमें बताता है कि जब विनियोग में कोई वृद्धि की जायेगी तो आय में जो वृद्धि होगी, वह विनियोग में वृद्धि के **K** गुना होगी। अर्थात् गुणक विनियोग के कारण आय में वृद्धि का अनुपात है।
- **विनियोग:-** किसी देश की राष्ट्रीय आय एवं रोजगार में निवेश अथवा विनियोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विनियोग से तात्पर्य है पूँजी में वृद्धि, जो तब होती है जबकि कोई नया मकान बनाया जाये अथवा कोई नई फैक्ट्री लगायी जाये। अर्थात् विनियोग से तात्पर्य है - वस्तुओं के वर्तमान स्ट्राक में वृद्धि करना।
- **सीमान्त उपयोग प्रवृत्ति:-** यह उपभोग की प्रवृत्ति को बताती है। डब्ल्यू का गुणक से सीधा सम्बन्ध है। यह हमेशा शून्य से अधिक तथा 1 से कम है।
- **सीमान्त बचत प्रवृत्ति:-** आय का वह भाग जो बचत कर लिया जाता है, इसका गुणक से विपरीत सम्बन्ध होता है।
- **प्रावैगिक गुणक:-** प्रावैगिक गुणक, स्थैतिक गुणक के विपरीत समय अन्तराल की बात करता है। इसके अन्तर्गत विनियोग के फलस्वरूप आय और उपयोग पर व्यय आदि की प्रक्रिया में वर्षों तक की अवधि लग जाती है।
- **ब्याज:-** जो मुद्रा की पूर्ति करने वालों को प्राप्त होती है।

7.9 अभ्यास उत्तर:

अभ्यास प्रश्न 1

- (1) शुद्ध निवेश (2) प्रवाह (3) स्वायत्त (4) धनात्मक (5) स्थिर
(6) बढ़ती (7) लाभ की आशंसा आये (8) ब्याज दर (9) घटती (10) निष्क्रिय

अभ्यास प्रश्न 2

1. कीन्स 2. $K = \Delta Y / \Delta I$ 3. प्रत्यक्ष सम्बन्ध 4. विपरीत सम्बन्ध 5. $K = \Delta Y / \Delta I, 50/10 = 5$ गुणक = 5 होगा। 6. इकाई और अनन्त के मध्य।

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1. आहूजा एच.एल. “उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र” एस. चन्द प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।
2. लाल एस.एन. “समष्टि आर्थिक विश्लेषण” शिव पब्लिशिंग, इलाहाबाद।
3. सेठी टी.टी. “समष्टि अर्थशास्त्र” लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

7.11 उपयोगी सहायक पाठ्य सामग्री

- सेठ एम.एल. “समष्टि अर्थशास्त्र” लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
- Dwivedi, D.N. (1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.

- Ahuja ,H. L. ((1910) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
- Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

7.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. गुणक की अवधारणा का विवेचन कीजिये। “सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक गुणक का मूल्य होगा।” इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. गुणक की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा इसके महत्व और सीमाओं को बताइये।
3. गुणक को परिभाषित कीजिए तथा इसके कार्यकरण को समझाइये।
4. प्रावैगिक गुणक की धारणा को स्पष्ट रूप से समझाइये।
5. गुणक के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
6. निवेश से क्या अभिप्राय है ? स्वायत्त तथा प्रेरित निवेश में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
7. पूँजी की सीमान्त क्षमता से आप क्या समझते हैं? इसका निवेश प्रेरणा पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
8. आय एवं रोजगार के निर्धारण में अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन व्यावसायिक आशंसाओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?
9. निवेश मांग वक्र की व्याख्या कीजिए एवं पूँजी की सीमान्त दक्षता के निर्धारक तत्व बताइये ?

इकाई - 8 त्वरक एवं विदेशी व्यापार गुणक

इकाई संरचना

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 त्वरक सिद्धान्त
- 8.4 त्वरक सिद्धान्त की मान्यताएं
- 8.5 त्वरक सिद्धान्त की आलोचना
- 8.6 गुणक एवं त्वरक की परस्पर क्रिया
- 8.7 अभ्यास प्रश्न
- 8.8 विदेशी व्यापार गुणक
 - 8.8.1 खुली अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार गुणक
 - 8.8.2 विदेशी व्यापार गुणक किस प्रकार कार्य करता है
- 8.9 सारांश
- 8.10 शब्दावली
- 8.11 अभ्यास प्रश्न
- 8.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 8.13 सहायक उपयोगी सामग्री
- 8.14 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाइयों में अपने क्लासिकल सिद्धान्त, केन्स का रोजगार सिद्धान्त, उपभोग फलन, निवेश फलन एवं गुणक का अध्ययन किया।

इस इकाई में आप त्वरक एवं विदेशी व्यापार गुणक की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे। आप यह जान पायेंगे कि किस प्रकार त्वरक एवं गुणक की पारस्परिक क्रिया से व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं। त्वरक की मान्यताएं, उसके क्रियाशीलन के साथ-साथ हम उसकी आलोचना या कमियों को भी प्रकाश में लायेंगे। इसके उपरान्त हम विदेशी व्यापार गुणक की अवधारणा एवं वह किस प्रकार कार्य करता है जानेंगे। क्लार्क ने अपने लेख **Business Acceleration and the Law of Demand** में जो 1917 में **The Journal of Political Economy** में प्रकाशित हुआ, त्वरक के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। केन्स की गुणक की धारणा को खुली अर्थव्यवस्था में प्रयोग कर विदेशी व्यापार गुणक निकालने की कोशिश की गई।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि

- त्वरक की धारणा और उसके क्रियाशीलन को जानना।
- त्वरक एवं गुणक की पारस्परिक क्रिया को समझना।
- खुली अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार गुणक की धारणा, क्रियाशीलन एवं प्रभाव को जानना।

8.3 त्वरक सिद्धान्त

उपभोग की मात्रा में वृद्धि तथा विनियोग की मात्रा में वृद्धि के अनुपात को त्वरक कहते हैं। यह सिद्धान्त उपभोग व निवेश का क्रियात्मक सम्बन्ध स्पष्ट करता है। उपभोग की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से निवेश की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभावों की माप त्वरक द्वारा की जाती है।

पूँजीगत पदार्थों के लिए मांग व्युत्पन्न मांग होती है अर्थात् इनकी मांग उपभोग पदार्थों की मांग से उत्पन्न होती है। अगर लोग उपभोग पदार्थों की मांग करते हैं तो उनके उत्पादन के लिए मशीनों आदि की मांग बढ़ जाती है। किसी निश्चित अवधि में उत्पादन में एक इकाई के बराबर वृद्धि करने के लिए पूँजी की कई इकाइयों की जरूरत होती है। पूँजीगत पदार्थों की मांग व्युत्पन्न मांग होने की वजह से ही त्वरक सिद्धान्त को “व्युत्पन्न मांग के त्वरक का सिद्धान्त कहते हैं।” त्वरक की अवधारणा गुणक की धारणा से पहले की है और इसका केन्सियन अर्थशास्त्र से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि केन्स ने अपने सिद्धान्त में इसका कहीं उल्लेख नहीं किया। इसे अमरीकी अर्थशास्त्री जे.एम. क्लार्क ने 1917 में प्रतिपादित किया। अन्य अर्थशास्त्रियों, हिक्स, सैम्युलसन आदि ने बाद में त्वरक की अवधारणा को व्यापार चक्रों के सम्बन्ध में प्रयोग किया। गुणक के साथ त्वरक को भी समझना जरूरी है क्योंकि यह दोनों धारणाएं व्यय के माध्यम से आय पर पड़ने वाले प्रभाव को व्यक्त करती है। दोनों समान्तर होने के साथ-साथ एक दूसरे से अलग हैं। गुणक उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है, जिसका आधार मनोवैज्ञानिक है जबकि त्वरक पूँजीगत पदार्थों के टिकाऊपन से प्रभावित होता है। अतः इसका आधार प्राविधिक (Technical) होता है।

त्वरक सिद्धान्त के अनुसार पूँजीगत वस्तुओं की मांग कुल उत्पादन के स्तर में होने वाले परिवर्तनों के साथ घटती एवं बढ़ती है। पूँजीगत वस्तुओं की मांग में परिवर्तन की सीमा पूँजी उत्पादन अनुपात और उत्पादन के स्तर में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करता है। कुल उत्पादन में परिवर्तन कुल व्यय अथवा मांग के स्तर में होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करता है, जो स्वयं साम्य आय में होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करता है। अतः किसी निर्दिष्ट समय अवधि में कुल निवेश कुल मांग में होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करता है। संस्थिति की दशा में यह मांग राष्ट्रीय आय एवं प्रतिस्थापन निवेश के समान होती है। प्रतिस्थापन निवेश को यदि स्थिर मान लें तो किसी समय अवधि ज में कुल निवेश उस समय अवधि में हुई राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा पूँजी-उत्पादन अनुपात के गुणनफल ($\Delta Y \times K/O$) तथा उत्पादन प्रक्रिया में क्षय हुई पूँजी वस्तुओं के प्रतिस्थापन का योग होता है। अगर पूँजी-उत्पादन अनुपात अथवा पूँजी-गुणांक को V , t तथा $t-1$ समय अवधियों की आय को Y_t एवं Y_{t-1} माने तथा पुनर्स्थापन निवेश को R माने तो किसी निर्दिष्ट समय अवधि t में कुल निवेश को समीकरण के माध्यम से व्यक्त करेंगे।

$$I_t = v(Y_t - Y_{t-1}) + R \quad (8.1)$$

$$= v\Delta Y_t + R \quad (8.2)$$

सरल त्वरक सिद्धान्त इस मान्यता को लेकर चलता है कि पूँजी एवं उत्पादन के बीच सम्बन्ध स्थिर है। अतः विशुद्ध प्रेरित निवेश पूर्ण रूप से अन्तिम उत्पादन में होने वाली वृद्धि दर का फलन है।

$$(Inet)_t = v(Y_t - Y_{t-1}) \quad (8.3)$$

$$(Inet)_t = v\Delta Y_t \quad (8.4)$$

$$(Inet)_t = \Delta K_t = v\Delta Y_t \quad (8.5)$$

समीकरण 8.4 तथा 8.5 के अनुसार अवधि t में विशुद्ध निवेश उस समय अवधि में कुल उत्पादन या आय में हुए परिवर्तन तथा त्वरक का गुणनफल है। त्वरक यह बताता है कि अगर कुल उत्पादन का स्तर ऊँचा है किन्तु इसकी वृद्धि रुक जाय तो अन्ततः विशुद्ध निवेश शून्य हो जायेगा।

समीकरण 8.5 से स्पष्ट है कि त्वरक अ केवल सीमान्त पूँजी-उत्पादन अनुपात ($\Delta K/\Delta Y$) है। यदि पूँजी-उत्पादन स्थिर है तो सीमान्त तथा औसत पूँजी-उत्पादन अनुपात समान होंगे। समीकरण 8.5 से यह स्पष्ट है कि त्वरक सिद्धान्त दर्शाता है कि यदि अर्थव्यवस्था में मौजूद पूँजी स्ट्राक का पूरी तरह उपयोग होता है अर्थात् पूँजी स्ट्राक का कोई भाग बेकार नहीं है और यदि पूँजी-उत्पादन अनुपात स्थिर है तो कुल उत्पादन में निर्दिष्ट वृद्धि करने के लिए आवश्यक पूँजी स्ट्राक कुल उत्पादन में वृद्धि एवं त्वरक के गुणनफल के बराबर होगा। अगर त्वरक का मूल्य इकाई से अधिक है तो अन्तिम कुल उत्पादन की मांग में वृद्धि की अपेक्षा कुल पूँजी स्ट्राक में आंकिक वृद्धि करने की आवश्यकता होती है। त्वरक का आंकिक मूल्य इकाई से अधिक होने पर अन्तिम उत्पादन में निर्दिष्ट वृद्धि करने के लिए पूँजी स्ट्राक की व्युत्पन्न मांग में काफी वृद्धि होगी।

निवेश गुणांक (v) का आकार बड़ा होने पर उत्पादन में परिवर्तन होने पर प्रेरित निवेश भी अधिक होगा। प्रेरित निवेश सकारात्मक होने पर v की शक्ति निर्भर करेगी:-

1. उत्पादन प्रणाली में प्रयुक्त पूँजी गहनता की मात्रा अधिक होने पर v अधिक होगा।
2. उत्पादन बढ़ाने के लिए कारखानों की क्षमता अप्रयुक्त होने पर v में कमी होगी।
3. यदि कारखानों के विस्तार तथा प्रतिस्थापन के लिए पूँजी की बचत की सम्भावनाएं मौजूद हैं तो v का प्रभाव कम होगा।
4. उत्पादन की मांग स्थायी रूप से लम्बे समय तक बनी रहने पर अतिरिक्त पूँजी की मांग प्रेरित होती है। इसके विपरीत, यदि उत्पादन की मांग में वृद्धि थोड़े समय तक रहती है तो v में कमी होती है।
5. यदि मांग में वृद्धि का पहले से अनुमान होने पर निवेश में वृद्धि कर ली गई है तो और अधिक निवेश प्रेरित नहीं होगा तथा v का प्रभाव कम होगा।

8.3.1 त्वरक का क्रियाशीलन

शुद्ध उपभोग व्यय में परिवर्तन तथा प्रेरित निवेश के बीच अनुपात को त्वरक गुणांक कहते हैं। अगर त्वरक गुणांक को a मान लें और निवेश व्यय में परिवर्तन को ΔI तथा उपभोग व्यय में परिवर्तन को ΔC तो $a = \Delta I / \Delta C$ अगर उपभोग व्यय में 10 करोड़ रुपये से वृद्धि हो और उसके कारण निवेश में 20 करोड़ रुपये तो त्वरक गुणांक $20/10 = 2$ होगा। त्वरक गुणांक का आकार निर्भर करेगा कि पूँजी उत्पादन अनुपात क्या है और पूँजीगत पदार्थों की चिरस्थायिता (*durability*) कितनी है।

अगर किसी समय अवधि में उपभोग पदार्थों की मांग 1000 इकाइयों के लिए है तो पूँजी उत्पादन अनुपात 1:10 होने पर पूँजी पदार्थों अथवा मशीनों आदि की 100 इकाइयों की जरूरत होगी। अगर प्रत्येक मशीन की जीवन अवधि 10 साल है और त्वरक गुणांक 1 है तो हर साल 10 नयी मशीनों का पुनः स्थापना करना पड़ेगा। नयी मशीनों की मांग 10 इकाइयों के बराबर होगी। यदि उपभोग वस्तुओं की मांग में 10 प्रतिशत वृद्धि हो तो इनकी कुल मांग 1100 इकाइयों के बराबर हो जायेगी। इस बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए पूँजीगत पदार्थों में 10 इकाइयों की वृद्धि होगी। अतः इस अवधि में पूँजीगत पदार्थों की मांग 20 इकाइयों (10 प्रतिस्थापन + 10 बढ़ी हुई मांग के लिए) होगी। उपभोग की मांग में 10 प्रतिशत वृद्धि होने पर मशीनों की मांग 10 के बजाय 20 हो गयी है और इसमें 100 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अगर इसके बाद भी उपभोग वस्तुओं की मांग बढ़ती रहेगी तो पूँजीगत पदार्थों में निवेश बढ़ता रहेगा किन्तु इसमें वृद्धि न होने पर केवल प्रतिस्थापन के लिए निवेश किया जायेगा।

निष्कर्षतः-(1) उपभोग की मात्रा बढ़ने पर निवेश में निश्चय ही वृद्धि होगी। (2) त्वरक का अनुपात निवेश की नयी मांग तथा प्रतिस्थापन मांग के पारस्परिक अनुपात पर निर्भर करेगा। (3) निवेश की गति बढ़ाने और बनाये रखने के लिए जरूरी है कि उपभोग की मात्रा में कमी न होने पाये। (4) त्वरक का अनुपात परिवर्तनशील नहीं है। इसलिए उपभोग वस्तु उद्योगों की अपेक्षा मशीन निर्माण उद्योगों में उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा में अधिक उतार-चढ़ाव होंगे।

8.4 त्वरक सिद्धान्त की मान्यताएं

1. इस सिद्धान्त के लागू होने के लिए अर्थव्यवस्था में फालतू उत्पादन क्षमता विद्यमान नहीं होनी चाहिए अर्थात् विद्यमान पूँजी स्ट्राक का पूर्ण उपयोग होना अनिवार्य है।
2. फर्म अपने संयंत्र की क्षमता में वृद्धि करती है, चाहे उनकी वस्तुओं की मांग में हुई वृद्धि अल्पकालिक क्यों न हो।
3. सरल त्वरक सिद्धान्त मानता है पूँजी-उत्पादन अनुपात स्थिर है और पूँजी-उत्पादन अनुपात में प्रौद्योगिक सुधारों के तहत कोई परिवर्तन नहीं होते।
4. व्यय निवेश में निवेश में वृद्धि होने की कोई सीमा नहीं है। पूँजी का पूर्ति वक्र पूर्ण तथा लोचदार है, पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन तत्काल बढ़ाया जा सकता है।
5. अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन की दर में वृद्धि होने के साथ-साथ विशुद्ध निवेश में भी वृद्धि होती है किन्तु निवेश में वृद्धि होने के पहले उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए।
6. कुल उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन की संरचना में परिवर्तन नहीं होता।

8.5 त्वरक सिद्धान्त की आलोचना

1. स्थिर पूँजी-उत्पादन अनुपात की कटु आलोचना हुई क्योंकि अनुभव सिद्ध प्रमाणों के आधार पर यह अनुपात अथवा त्वरक का मूल्य स्थिर नहीं पाया गया।
2. त्वरक सिद्धान्त फर्मों के निवेश सम्बन्धी निर्णयों में अपेक्षाओं के महत्व की अवहेलना करता है। सामान्यतः साहसी अपनी वस्तुओं के मांग में बढ़ोत्तरी होने के बावजूद संयंत्र क्षमता नहीं बढ़ाते जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाये कि मांग में वृद्धि स्थायी है। मन्दीकाल में जब निवेशकों की मनोवृत्ति निराशापूर्ण होती है तो भी त्वरक कार्य नहीं कर पाता।
3. त्वरक की कार्यशीलता उस समय रूक जाती है जब निवेश बढ़ाने के लिए वास्तविक एवं मौद्रिक साधन सरलता से प्राप्त नहीं किये जा सकते।
4. बड़े-बड़े कारखानों में दीर्घकालीन निवेश उपभोग दर के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते हैं।
5. राजनीतिक शान्ति व स्थिरता जैसे बाह्य तत्व भी निवेश की मात्रा को प्रभावित करते हैं।
6. त्वरक का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था में विद्यमान उत्पादन का पूर्णतः उपयोग हो रहा है किन्तु आर्थिक समृद्धि के प्रथम चरण में उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है।
7. निवेश में तकनीकी घटक के महत्व की भी त्वरक सिद्धान्त उपेक्षा करता है।
8. त्वरक सिद्धान्त निवेश की दर की सीमाओं की उपेक्षा करता है। यह मानना है कि पूँजीगत वस्तुओं का अल्पकालिक पूर्ति वक्र लोचदार है अर्थात् उत्पादन को बढ़ाने पर पूँजी स्ट्राक में किसी भी सीमा तक वृद्धि करना सम्भव है किन्तु वास्तव में यह सम्भव नहीं है।

8.6 गुणक एवं त्वरक की परस्पर क्रिया

निवेश अथवा उपभोग व्यय में वृद्धि में या तो त्वरक या गुणक निहित होता है। एक व्यय में वृद्धि होने से दूसरे व्यय पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। किस सीमा तक यह प्रभाव पड़ेगा यह निर्भर करेगा कि अर्थव्यवस्था में फालतू उत्पादन क्षमता कितनी विद्यमान है। निवेश में स्वायत्त वृद्धि होने से उत्पादन तथा आय में वृद्धि होती है, जिससे उपभोग व्यय में बढ़ोत्तरी होगी तथा त्वरक सिद्धान्त के अनुसार प्रेरित उपभोग में वृद्धि होने से प्रेरित निवेश भी बढ़ेगा। गुणक तथा त्वरक की पारस्परिक क्रिया का क्रम होगा:-

$$\Delta I_p \rightarrow \Delta Y \rightarrow \Delta C \rightarrow \Delta I_i \rightarrow \Delta Y \rightarrow \Delta C \rightarrow \Delta I_i \rightarrow$$

अगर v शून्य है तो केवल गुणक कार्यशील होगा तथा इस अवस्था में चक्रीय उतार चढ़ाव नहीं होंगे। यदि v (त्वरक) और b (सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति) का योग बहुत कम हो तो आय में चक्रीय उतार चढ़ाव होंगे तथा उनकी सीमा त्वरक एवं सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के मूल्यों पर निर्भर करेगी। अगर इनका योग इकाई के समीप है तो उतार चढ़ाव कम आकार के होंगे और यह योग इकाई से अधिक हो तो उतार-चढ़ाव बहुत अधिक आकार के होंगे। b तथा v का योग बहुत अधिक होने पर आय में बढ़ती हुई दर से वृद्धि होगी। यदि v का मूल्य शून्य है तो केवल गुणक प्रभावशील होंगे। जब v का मूल्य काफी अधिक होता है तो कुल मांग में अपने आप वृद्धि के साथ ही आय में विस्फोटक वृद्धि होगी। ऐसी स्थिति में गुणक का प्रभाव गौण हो जायेगा। यदि v का मूल्य 0.5 के बीच है तो बहुत अधिक चक्रीय उतार चढ़ाव होंगे। v का मूल्य ऊँचा होने पर बढ़ते हुए आकार के विस्फोटक चक्र उत्पन्न होंगे। यदि v का मूल्य बहुत कम हो तो व्यापार चक्र का आकार छोटा होता जाएगा। अगर v का मूल्य न तो बहुत अधिक हो न बहुत कम तो समरूपी व्यापार चक्र उत्पन्न होंगे।

$$Y_t = C_t + I_t \quad (8.6)$$

$$C_t = a + bY_{t-1} \quad (8.7)$$

$$I_t = I_a + v(Y_{t-1} - Y_{t-2}) \quad (8.8)$$

समीकरण 8.7 में उपभोग फलन उपभोग व्यय एवं आय में एक समय अवधि का अन्तराल बताता है। समय अवधि t का उपभोग इसके तत्काल पूर्व समय अवधि $t-1$ में प्राप्त आय Y_{t-1} पर निर्भर करता है। समीकरण 8.8 में निवेश मांग फलन दर्शाता है कि प्रेरित निवेश में आय के सम्बन्ध में दो समय अवधि का अन्तराल है। समय अवधि t का निवेश इससे पहले की समय अवधि $t-1$ में हुई आय वृद्धि ΔY_{t-1} का फलन है। द्वितीय घात अन्तराल (Second Order lag) तथा त्वरक दोनों की सहायता से व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं। यदि $v=3$ $b=0.5$, स्वायत्त उपभोग $a=10$, स्वायत्त निवेश $I_a = 50$ एवं प्रारम्भिक साम्य आय $=120$ जिस पर प्रेरित उपभोग 60 और अगर स्वायत्त निवेश में 10 की वृद्धि की जाय तो गुणक एवं त्वरक की पारस्परिक क्रिया तथा साम्य आय में वृद्धि तालिका में प्रदर्शित है।

गुणक तथा त्वरक की पारस्परिक क्रिया

समय अवधि	स्वायत्त निवेश I_a	प्रेरित निवेश $I_t = v(Y_{t-1} - Y_{t-2})$ $v=3$	उपभोग $C = a + b + Y_{t-1}$ $b=0.5$	कुल आय $C + I_a + I_t$
1	2	3	4	5
t-2	50	0	10+60	120
t-1	50	0	10+60	120
t	60	0	10+60	130
t+1	60	30	10+65	165
t+2	60	105	10+82.5	257.5
t+3	60	277.5	10+128.75	475.25
t+4	60	665.25	10+238.12	464.37

तालिका के अनुसार स्वायत्त निवेश में निर्दिष्ट राशि की वृद्धि होने पर कुल आय में विस्फोटक रूप में वृद्धि होती है। कुल साम्य केवल सतत: वृद्धि की प्रवृत्ति है तथा उतार चढ़ाव उत्पन्न नहीं होते क्योंकि त्वरक (अ) का मूल्य 3 लिया गया है जो काफी ऊँचा है जबकि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (इ) का मूल्य 0.5 है।

अभ्यास प्रश्न 1

(I) सही विकल्प चुनिये-

1. त्वरक की धारणा किस अर्थशास्त्री की देन है-

- | | |
|------------------|--------------------|
| (1) जे.एम. केन्स | (2) जे.एम. क्लार्क |
| (3) हिक्स | (4) सैम्युलसन |

2. त्वरक द्वारा मापा जाता है-

- | | |
|-------------------------------|-------------------------------------|
| (1) उपभोग का निवेश पर प्रभाव | (2) निवेश का उपभोग पर प्रभाव |
| (3) राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर | (4) निवेश का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव |

3. त्वरक गुणांक होता है-

- | | |
|---------------------------|---------------------------|
| (1) $\Delta I / \Delta Y$ | (2) $\Delta C / \Delta I$ |
| (3) $\Delta I / \Delta C$ | (4) $\Delta C / \Delta Y$ |

4. त्वरक सम्बन्धित है-

- | | |
|-------------------------|-----------------------|
| (1) स्वतंत्र विनियोग से | (2) प्रेरित विनियोग |
| (3) दोनों से | (4) इनमें से कोई नहीं |

(II) रिक्त स्थान भरिये-

1. पूँजीगत पदार्थों के लिए मांग मांग होती है।
2. त्वरक की अवधारणा गुणक की अवधारणा से की है।
3. त्वरक की धारणा का अर्थशास्त्र से सम्बन्ध नहीं है।
4. त्वरक सिद्धान्त के अनुसार अगर कुल उत्पादन का स्तर ऊँचा है किन्तु इसकी वृद्धि रूक जाय तो विशुद्ध निवेश हो जायेगा।
5. सरल त्वरक सिद्धान्त मानता है कि पूँजी-उत्पादन अनुपात है।

8.8 विदेशी व्यापार गुणक

केन्स ने बन्द अर्थव्यवस्था जिसमें वस्तुओं का न तो निर्यात हो न आयात के सन्दर्भ में विनियोग गुणक की व्याख्या की है। इनके गुणक का विस्तार खुली अर्थव्यवस्था के लिए किया गया है, जिसमें विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं तथा पूँजी का प्रवाह होता है। खुली अर्थव्यवस्था निर्यातों तथा आयातों का भी ध्यान रखना पड़ेगा क्योंकि यह भी राष्ट्रीय आय को प्रभावित करेंगे। विदेशी व्यापार गुणक या निर्यात गुणक का मूल्य सीमान्त बचत प्रवृत्ति के साथ-साथ सीमान्त आयात प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है। इसलिए सबसे पहले हम आयात फलन से कैसे सीमान्त आयात प्रवृत्ति व्युत्पन्न होती है जानेंगे। इसके बाद विदेशी व्यापार गुणक किस प्रकार सीमान्त आयात प्रवृत्ति पर निर्भर करता है और आयात एवं निर्यात में परिवर्तन किस प्रकार राष्ट्रीय आय के साम्य स्तर को प्रभावित करेंगे, की व्याख्या करेंगे।

आयात फलन:- खुली अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता अपनी आय का एक भाग आयातित वस्तुओं पर भी व्यय करते हैं। आयातित वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ता की रुचियाँ यथावत् रहने पर आय का स्तर जितना ऊँचा होगा, आयात उतना ही अधिक होगा। एक देश के आयात तथा आय के स्तर के बीच सम्बन्ध को आयात फलन कहते हैं।

$$M = f(Y)$$

M= आयात **Y**= किसी देश की आय

राष्ट्रीय आय शून्य होने पर भी भूतकाल में संचित पूँजी के द्वारा निर्यात या विदेशों से उधार लेकर भी कुछ आयात होगा। आयात प्रवृत्ति की दो धारणाएँ हैं:-

1. औसत आयात प्रवृत्ति:- जो राष्ट्रीय आय के आयातों पर व्यय किये जाने वाले अनुपात के रूप में परिभाषित किया जाता है। आयात के मूल्य को राष्ट्रीय आय से विभाजित करने पर प्राप्त होती है (**M/Y**)
2. सीमान्त आयात प्रवृत्ति:- यह धारणा अधिक महत्वपूर्ण है। सीमान्त आयात प्रवृत्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि के कारण आयात में परिवर्तन को मापती है। सीमान्त आयात प्रवृत्ति $\Delta M/\Delta Y$ द्वारा दर्शाया जाता है, जिसमें ΔM आयातों के मूल्य में परिवर्तन तथा ΔY राष्ट्रीय आय में वृद्धि बताते हैं। अगर राष्ट्रीय आय में रू0 100 की वृद्धि होने पर आयात में रू0 3 की वृद्धि हो तो सीमान्त आयात प्रवृत्ति $3/100 = 0.03$ या 3 प्रतिशत होगी।

8.8.1 खुली अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार गुणक

बन्द अर्थव्यवस्था में आवश्यक दशा है $S=I$ / बचत आय प्रवाह से मुद्रा के रिसाव को दिखाती है। विनियोग आय की धारा में कुछ और मुद्रा के प्रवेश को प्रदर्शित करता है। राष्ट्रीय आय का स्तर तब साम्य प्रदर्शित करेगा जब बचत के द्वारा उत्पन्न आय में रिसाव विनियोग व्यय के बराबर हो। जब खुली अर्थव्यवस्था में कुछ देशवासी आयातित वस्तुओं पर खर्च करते हैं तो राष्ट्रीय आय में रिसाव उत्पन्न होता है। निष्कर्षतः बचत के साथ-साथ आयात भी राष्ट्रीय आय में रिसाव दिखाते हैं। निर्यात विदेशियों द्वारा घरेलू अर्थव्यवस्था की वस्तुओं पर व्यय दिखाते हैं और यह घरेलू विनियोग की तरह आय धारा में प्रवेश को व्यक्त करते हैं। अतः एक खुली अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय का साम्य स्तर उस स्तर पर निर्धारित होता है जिस पर कुल रिसाव अर्थात् बचत तथा आयात का योगफल $(S+M)$ आय धारा में घरेलू विनियोग तथा निर्यात के कुल प्रवेश $(I+X)$ के समान होता है। संस्थिति की स्थिति में $S+M=I+X$

चारों चरों में से किसी एक में भी परिवर्तन नवीन समीकरण प्राप्त करने के लिए समीकरण के बायें पक्ष में परिवर्तन दायें पक्ष में परिवर्तन के समान होना चाहिए।

$$\Delta S + \Delta M = \Delta I + \Delta X \quad (1)$$

$$\Delta S = s \Delta Y \quad s = \text{सीमान्त बचत प्रवृत्ति}$$

$$\Delta Y = \text{राष्ट्रीय आय में परिवर्तन}$$

$$\Delta M = m \Delta Y \quad m = \text{सीमान्त आयात प्रवृत्ति}$$

$$s \Delta Y + m \Delta Y = \Delta I + \Delta X$$

$$\Delta Y = \frac{1}{s+m} (\Delta I + \Delta X) \quad (2)$$

समीकरण (2) से स्पष्ट है कि विनियोग या निर्यात में वृद्धि आय के $1/s+m$ की गुणक की वृद्धि करेगा। $1/s+m =$ विदेशी व्यापार गुणक (**foreign trade multiplier**) जिस K_f a से दर्शाया जाता है। निर्यात में ΔX से वृद्धि राष्ट्रीय आय में $\Delta X / (s+m)$ से वृद्धि लायेगी।

$$K_f = 1/s+m$$

विदेशी व्यापार गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति और सीमान्त आयात प्रवृत्ति का व्युत्क्रम होगा। रिसाव जितना कम होगा अर्थात् s और m का मूल्य जितना कम होगा विदेशी व्यापार गुणक का मूल्य उतना अधिक होगा।

$$\text{अगर } s=0.2, m=0.2$$

$$K_f = 1 / 0.2+0.2 = 1/0.4 = 2.5$$

$$s=0.2, m=0.3$$

$$K_f = 1 / 0.2+0.3 = 1/0.5 = 2$$

8.8.2 विदेशी व्यापार गुणक किस प्रकार कार्य करता है

विदेशी व्यापार गुणक केन्स के विनियोग गुणक के समान ही कार्य करता है। यदि निर्यात में वृद्धि होगी तो निर्यातकों तथा निर्यात उद्योगों में रोजगार प्राप्त करने वाले लोगों की आयों में वृद्धि हो जायेगी। वे अपनी बढ़ी आय में से कुछ बचत करेंगे और उसका अधिकांश भाग घरेलू तथा आयतित उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय करेंगे। बचतें और अधिक आय नहीं सृजित करती और आय की धारा से रिसाव प्रदर्शित करती है पर आयातों पर व्यय उन अन्य देशों की आय में वृद्धि करता है किन्तु घरेलू अर्थव्यवस्था में आयातों पर व्यय भी आय की धारा से रिसाव दर्शाता है। निर्यातों में वृद्धि के कारण घरेलू वस्तुओं पर बढ़ा हुआ व्यय विभिन्न अगली अवधियों में तब तक आय में वृद्धि करेगा जब तक गुणक अपना कार्य पूर्ण रूप से न कर ले।

किसी देश के निर्यात में बढ़ोत्तरी के लिए कई कारण हो सकते हैं। एक देश की वस्तुओं के लिए अन्य देशों के लोगों की रुचियों या मांग में परिवर्तन हो सकता है। बढ़ी हुई मांग को निर्यातक पहले भण्डारों और बाद में नये लोगों को रोजगार में लगाकर पूरी करेगा। इससे निर्यात उद्योगों में आय और रोजगार बढ़ेगा। इस बढ़ी आय का निर्यात उद्योगों में लगे लोग अधिकांश भाग अन्य उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर व्यय करेंगे परिणामतः आय, उत्पादन तथा रोजगार में बढ़ोत्तरी सम्पूर्ण घरेलू अर्थव्यवस्था में फैल जायेगी।

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिसाव जितना कम होगा, विदेशी व्यापार गुणक उतना होगा।
2. विदेशी व्यापार गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति और सीमान्त आयात प्रवृत्ति होगा।
3. बचत और राष्ट्रीय आय में रिसाव बताते हैं।
4. निर्यात और राष्ट्रीय आय में प्रवेश दर्शाते हैं।
5. एक देश के आयात तथा आय के स्तर के बीच सम्बन्ध को कहते हैं।
6. अर्थव्यवस्था में विभिन्न देशों से वस्तुओं तथा पूँजी का प्रवाह होता है।

8.9 सारांश

इस इकाई में पहले आपने त्वरक और बाद में विदेशी व्यापार गुणक के बारे में जाना। हमने त्वरक के माध्यम से जाना किस प्रकार उपभोग की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से निवेश की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् उपभोग की मात्रा में वृद्धि एवं निवेश की मात्रा में वृद्धि को त्वरक कहते हैं। पूँजीगत पदार्थों की मांग व्युत्पन्न मांग है क्योंकि वह उपभोग वस्तुओं की मांग से उत्पन्न होती है। त्वरक गुणक का आकार निर्भर करता है कि पूँजी उत्पादन अनुपात और पूँजीगत पदार्थों की चिरस्थायिता कितनी है। निवेश की गति बढ़ाने और बनाये रखने के लिए जरूरी है कि उपभोग की मात्रा में कमी न होने दी जाय। त्वरक सिद्धान्त पूँजी उत्पाद अनुपात को स्थिर मानता है और प्रौद्योगिक के द्वारा होने वाले पूँजी उत्पाद अनुपात में परिवर्तन को नहीं लेता। फिर हमने त्वरक एवं गुणक की परस्पर क्रिया को विस्तार से जाना। इसके उपरान्त विदेशी व्यापार गुणक का अध्ययन किया। हमने जाना कि विदेशी व्यापार गुणक, बचत की सीमान्त प्रवृत्ति एवं आयात की सीमान्त प्रवृत्ति पर निर्भर करता है।

हमने जाना कि बचत एवं आयात आय में रिसाव तथा निर्यात एवं विनियोग आय में प्रवेश बताते हैं। अतः खुली अर्थव्यवस्था में साम्य का स्तर वहाँ होगा जहाँ कुल रिसाव (S+M) कुल प्रवेश (I+X) के समान होगा। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विदेशी व्यापार गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति और आयात प्रवृत्ति के योग का व्युत्क्रम होगा अर्थात् ये दोनों चर जितना कम होंगे विदेशी व्यापार गुणक उतना अधिक होगा।

8.10 शब्दावली

- व्युत्पन्न मांग- किसी पदार्थ की मांग दूसरे पदार्थ की मांग से उत्पन्न होना।
- व्यापार चक्र- आर्थिक व्यवस्था में समुद्र के ज्वार भाटे के सदृश तेजी एवं मन्दी।
- क्रियात्मक सम्बन्ध- किसी एक तत्व में होने वाला परिवर्तन अन्य तत्वों में भी परिवर्तन कर देता है।
- साम्य- यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ से परिवर्तन या बदलाव की प्रवृत्ति नहीं होती।
- गुणक- गुणक निवेश में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप आय में होने वाले परिवर्तन का अनुपात है।
- प्रेरित निवेश- इसे वास्तविक विनियोग कहते हैं जो लाभ के लिए किया जाता है।
- पूँजीगत पदार्थ- जिन पदार्थों का प्रयोग उपभोग वस्तुओं को बनाने में किया जाता है जैसे- मशीनें, उपकरण, निर्मित भवन।
- बचत- आय तथा उपभोग के अन्तर को बचत कहते हैं।

8.11 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1(I) (1) 2 (2) 1 (3) 3 (4) 2

(II) (1) व्युत्पन्न (2) पहले (3) कीन्सियन (4) शून्य (5) स्थिर

अभ्यास प्रश्न 2

(1) अधिक (2) व्युत्क्रम (3) आयात (4) घरेलू विनियोग (5) आयात फलन (6) खुली

8.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आहूजा एच.एल. “उच्चर समष्टि अर्थशास्त्र” एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि0, दिल्ली
2. वैश्य एम.सी. “समष्टि अर्थशास्त्र” विश्व प्रकाशन, आगरा।
3. लाल एस.एन. “समष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण” शिव पब्लिशिंग, इलाहाबाद

8.14 सहायक उपयोगी सामग्री

- Ackely, G.(1978), Macro Economics. Theory and policy, Macmillian, New York.
- Ahuja, H.L. ((2010) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
- Shapiro, E (1996), Macroeconomic Analysis, Galgotin Publications, New Delhi.
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (2003), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

815 निबन्धात्मक प्रश्न

1. त्वरक की अवधारणा की विवेचना कीजिए ?
2. गुणक एवं त्वरक की परस्पर क्रिया की व्याख्या कीजिए ?
3. त्वरक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए और उसके दोषों को बताइये ?
4. विदेशी व्यापार गुणक की धारणा एवं उसके क्रियाशीलन की विवेचना कीजिए ?

इकाई 9 मुद्रा की प्रकृति , कार्य एवं पूर्ति

इकाई की रूपरेखा

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 उद्देश्य
- 9.3 मुद्रा की परिभाषा
 - 9.3.1 मुद्रा की प्रकृति के आधार पर परिभाषाओं का वर्गीकरण
 - 9.3.2 मुद्रा विस्तार के आधार पर दी गयी परिभाषाएं
- 9.4 मुद्रा के कार्य
 - 9.4.1 प्राथमिक कार्य
 - 9.4.2 सहायक कार्य
 - 9.4.3 आकस्मिक कार्य:
 - 9.4.4. अन्य कार्य
 - 9.4.5 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य
 - 9.4.6 मुद्रा का आधार भूत कार्य
- 9.5 मुद्रा की प्रकृति या स्वभाव
- 9.6 मुद्रा का महत्व
 - 9.6.1 आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
- 9.7 मुद्रा की पूर्ति
 - 9.7.1 मुद्रा की पूर्ति की परिभाषा
 - 9.7.2 मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति
 - 9.7.3 मुद्रा का प्रचलन वेग
 - 9.7.4 मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन
 - 9.7.5 मुद्रा पूर्ति फलन
- 9.8 सारांश
- 9.9 शब्दावली
- 9.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 9.12 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

मुद्रा वर्तमान आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। मुद्रा उतनी ही प्राचीन तत्व है जितनी का मानव सभ्यता के कुछ अन्य मूलभूत तत्व। अतः यह निश्चित उत्तर देना संभव नहीं है कि मुद्रा का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ। उसके प्रारम्भिक रूपों की विविधता के कारण उसके उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करना कठिन है। मानव जीवन के आर्थिक पहलू का विकास होने के साथ-साथ मुद्रा का भी विकास होता गया। विशिष्टीकरण एवं आर्थिक आवश्यकताओं में जैसे जैसे वृद्धि होती गयी, मुद्रा के रूप प्रकृति व कार्यों में भी बराबर परिवर्तन होता गया है।

वस्तु मुद्रा को मुद्रा का प्रारम्भिक रूप माना गया है। वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत चमड़ा, पालतू, जानवर, खालें, अनाज आदि का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया जाता था। धीरे-धीरे इसका स्थान धातु तथा धातुओं के सिक्के का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया जाने लगा। इसके पश्चात पत्र मुद्रा का क्रमिक विकास हुआ है। आज की वर्तमान प्रणाली में साख मुद्रा का भी व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा है। यह एक अन्त नहीं है, क्योंकि विकास एक निरन्तर न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है।

इस इकाई में मुद्रा की प्रकृति उसके विभिन्न कार्य एवं मुद्रा की पूर्ति पर विशेष बल दिया गया है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा को परिभाषित किया गया एवं इसके कार्यों का अवलोकन किया गया है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम यह ज्ञात कर सकेंगे कि-

- मुद्रा क्या है एवं विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा इसे कितने प्रकार से परिभाषित किया गया है।
- मुद्रा के विभिन्न रूपों को वर्गीकरण की सहायता से समझाया जायेगा।
- मुद्रा के कार्यों का वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है।
- मुद्रा की पूर्ति से क्या आशय है, और यह किस प्रकार प्रभावित होती है, और इसमें कौन-कौन से तत्व सम्मिलित होते हैं।

9.3 मुद्रा की परिभाषा

मुद्रा की एक स्पष्ट परिभाषा देना कोई सरल कार्य नहीं है, मुद्रा की परिभाषाओं के सागर में किसी भी एक परिभाषा को सही मानना एक कठिन कार्य है। यह निश्चित करना एक कठिन कार्य हो जाता है, कि किस परिभाषा को अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक उपयुक्त मानी जाए। **Money** अंग्रेजी भाषा का शब्द है, जो लेटिन भाषा के शब्द **Moneta** से बना है। पुरातन सभ्यताओं में पशुओं को मुद्रा के रूप में काम में लेने की प्रथा अत्यधिक प्रचलित रही है। इस दृष्टि से मुद्रा शब्द बहुत पुराने समय से ही प्रचलित है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को अलग-2 दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। विभिन्न दृष्टिकोण को निम्नांकित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

मुद्रा की परिभाषा

1. प्रकृति के आधार पर की गयी परिभाषा

- वर्णनात्मक परिभाषाएँ (कोलबार्न, हिटलर्स, नोगारो)
- वैधानिक परिभाषाएँ (नैप, हाट्टे)
- सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ (मार्शल, रॉबर्ट, सेलिंगमैन आदि।)

2. विस्तार के आधार पर दी हुयी परिभाषाएँ

- संकुचित दृष्टिकोण वाली परिभाषाएँ (राबर्टसन)
- उदार दृष्टिकोण वाली परिभाषाएँ (हार्टले, विदस)
- उचित दृष्टिकोण वाली परिभाषाएँ (मार्शल, ऐली)

9.3.1 मुद्रा की प्रकृति के आधार पर परिभाषाओं का वर्गीकरण

मुद्रा की प्रकृति के आधार पर विभिन्न परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

- 1) वर्णनात्मक परिभाषाएँ
- 2) वैधानिक परिभाषाएँ
- 3) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ

1. वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Descriptive Definition) यह परिभाषाएँ मुद्रा के कार्यों का वर्णन करती है, अतः इन्हें कार्यवाहक परिभाषाएँ भी कहा जाता है। फ्रान्सिस वाकर (Francis Walker), हार्टले विदर्स (Hartley Withers), सिजविक (Sidgwick), व्हिटलसी (Whitlens), नोगारो (Nogaro) तथा एस ई टॉमस (S.E.Thomas) द्वारा इस आधार की परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी है।

वाकर के अनुसार- “मुद्रा वह है, जो मुद्रा का कार्य करे”

हार्टले के अनुसार- “मुद्रा वह सामग्री है, जिससे हम वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर सकते हैं।”

टॉमस के अनुसार- “मुद्रा के सभी सदस्यों के ऊपर एक प्रकार का अधिकार है, एक ऐसा आदेश अथवा वचन जिसे उसका स्वामी अपनी इच्छानुसार कभी भी पूरा कर सकता है। वह स्वयं साध्य नहीं है, अपितु अन्य व्यक्तियों की सेवाओं और वस्तुओं पर अधिकार जमाने का केवल साधन मात्र है।”

मुद्रा का वर्णन करने वाली ये परिभाषायें वैज्ञानिक अध्ययन के लिये स्वीकार नहीं की जा सकती है। हालांकि ये परिभाषायें सरल एवं व्यावहारिक है, किन्तु इससे मुद्रा का रूप अत्यन्त व्यापक हो जाता है, और उसका कोई

निश्चित रूप उभर कर सामने नहीं आ पाता। ये परिभाषायें एक प्रकार से अस्पष्ट भी हैं, क्योंकि इनमें कहीं भी मुद्रा की सर्वमान्यता या सरकार द्वारा प्राप्त मान्यता का उल्लेख नहीं दिया गया है।

2. वैधानिक परिभाषाएँ- इस वर्गीकरण के अनुसार किसी भी वस्तु को मुद्रा होने के लिये उसकी वैधानिक मान्यता आवश्यक है। जिस वस्तु को सरकार मुद्रा घोषित कर देती है, वह मुद्रा का रूप ले लेती है। तत्पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति इसे स्वीकार करने को बाध्य होता है। इसके प्रमुख समर्थक जर्मनी के प्रो० नैप तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री हॉट्टे हैं।

नैप के अनुसार- 'कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा कही जाती है।'

वैधानिक परिभाषाओं की आलोचना करते हुये **कॉलबोर्न (Coulborn)** का कहना है, कि ये 'मुद्रा से सम्बन्धित वकीलों के दृष्टिकोण (*Lawyer's view of money*) को व्यक्त करती है, जो ठीक नहीं है। जहाँ वर्णनात्मक परिभाषायें मुद्रा का व्यापक रूप प्रस्तुत करती हैं, वहीं, ये परिभाषायें मुद्रा का संकुचित रूप प्रस्तुत करती हैं। सरकारी स्वीकृति के दबाव में किया गया विनियम सही अर्थों में विनियम नहीं कहा जा सकता। यह एक ऐच्छिक कार्य है। मुद्रा की सामान्य स्वीकृति उस समय खतरे में पड़ जाती है, जब मुद्रा प्रसार के काल में मुद्रा का मूल्य तीव्र गति से गिरने लगता है। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के दौरान भीषण मुद्रा प्रसार होने से जर्मनी सरकार की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा एवं शक्ति भी मार्क की सामान्य स्वीकृति बनाये रखने में असमर्थ रही। 1944 में हंगरी में **पेनास (Pengos)** विधिग्राहा होते हुये भी जनता की स्वीकृति प्राप्त न कर सकी। अतः सर्वग्राह्यता का वास्तविक आधार जनता का विश्वास है, राज्य की शक्ति नहीं।

3. सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ- (Definition based on general acceptability) **राबर्ट (Robertson)**, **मार्शल (Marshall)** **पीगू (Pigou)** **सेलिगमैन (Seligman)** **कॉल (G.D. Cole)** **केन्स (Kent)** **ऐली (Ely)** तथा **क्राउथर (Crowther)** आदि ने सामान्य स्वीकृति को मुद्रा का एक आवश्यक बनाते हुये इस आधार पर विभिन्न परिभाषायें प्रस्तुत कीं।

क्राउथर के अनुसार- 'मुद्रा की परिभाषा किसी ऐसी वस्तु के रूप में की जा सकती है, जो विनियम के माध्यम के रूप में सामान्यता स्वीकार की जाती है, और साथ ही मूल्य मापक तथा मूल्यसंचय का कार्य करती है।'

ऐसी कोई भी वस्तु जो सामान्यता मुद्रा के रूप में स्वीकार की जाती है, वह विनियम के माध्यम तथा मूल्य की माप का कार्य भी करती है, इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर मुद्रा के रूप में स्वीकार की जाने वाली वस्तु के रूप में तीन विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. इस मुद्रा के रूप में सामान्य स्वीकृति प्राप्त है।
2. यह स्वीकृति स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक है।
3. यह सर्वग्राह्यता केवल वर्तमान लेन-देन व भुगतान के लिये नहीं है बल्कि भविष्य के भुगतानों के लिये भी है। इसलिये इसका प्रयोग ऋणों की अदायगी व मूल्य के संचय के लिये किया जाता है।

सामान्य स्वीकृति पर आधारित ये परिभाषा अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक उचित प्रतीत होती है। इस आधार पर सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये सिक्के तथा कागजी नोट, निःसन्देह, मुद्रा है। इन्हे चलन (currency) कहा जाता है। आज की आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा निश्चित करने के लिये चलन की मात्रा के साथ-साथ देश में बैंकों की मांग जमा राशियों (Demand Deposit) को भी सम्मिलित किया जाता है। पर इस परिभाषा के अनुसार इन राशियों को मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। इनका आधार तो केवल ऐच्छिक स्वीकृति है।

इन परिभाषाओं में मुख्य कमी यह है कि ये मुद्रा के सभी आवश्यक कार्यों पर (जिनसे सामान्य स्वीकृति प्रेरित होती है) समान रूप से प्रकाश नहीं डालती है। एक पूर्ण परिभाषा में मुद्रा के सभी कार्य सम्मिलित होने चाहिए।

अतः निष्कर्ष रूप में मुद्रा के गुणों का ध्यान रखते हुये यह कहा जा सकता है कि मुद्रा वह वस्तु है जिसे एक व्यापक क्षेत्र में विनिमय के माध्यम, ऋण मापक, ऋण भुगतान तथा मूल्य संचय के रूप में स्वतंत्र और सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।

9.3.2 मुद्रा विस्तार के आधार पर दी गयी परिभाषाएं:-

1. संकुचित दृष्टिकोण
2. व्यापक दृष्टिकोण
3. उचित दृष्टिकोण वाली परिभाषा

1. संकुचित दृष्टिकोण:- इस दृष्टिकोण पर आधारित परिभाषाएं मुद्रा के दो रूप स्पष्ट करती है।

(अ) मुद्रा का अमूर्त रूप (abstract side of money)

(ब) मुद्रा का मूर्त रूप (concrete side of money)

मुद्रा का अमूर्त रूप मुद्रा के मूल्य मापक तत्व को व्यक्त करता है और मुद्रा को लेखे की इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है।

गस्टव कैसल, स्वीडिश अर्थशास्त्री के अनुसार, “मुद्रा वह वस्तु है जो अन्य वस्तुओं का मूल्यांकन करने के लिये सामान्य मापक का कार्य करती है। मुद्रा का प्रमुख और मौलिक कार्य एक ऐसी गणना के आधार का कार्य करना है जिसके द्वारा विनिमययोग्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जा सके।”

मुद्रा का मूर्त रूप सभी प्रकार के एवं पत्र मुद्राएं शामिल करता है जिन्हें विभिन्न भुगतानों के लिये प्रयोग में लाया जाता है। साधारणतया मुद्रा के केवल मूर्त रूप को ही लिया जाता है। किन्तु मुद्रा की उचित परिभाषा में दोनों रूपों का शामिल होना अनिवार्य है। संकुचित दृष्टिकोण अपनाते वाले विद्वान मुद्रा के मूर्त रूप के अन्तर्गत केवल सिक्के तथा नोट ही सम्मिलित करते हैं। जबकि बैंक ड्राफ्ट, चेक, विनिमय बिल आदि साख पत्रों को मुद्रा में शामिल नहीं करते हैं।

मुद्रा की सर्वमान्यता ही उसका आधार है। इसके लिये वैधानिक स्वीकृति का होना अनिवार्य नहीं है, वैधानिक स्वीकृति प्राप्त मुद्रा अथवा विधिग्राह्य को चलार्थ (currency) कहा जाता है जबकि मुद्रा में सर्वमान्य साख मुद्रा (credit money) भी सम्मिलित होते हैं।

सभी चलार्थ मुद्रा हैं, परन्तु सभी मुद्रा चलार्थ नहीं हैं (All currency is money, but all money is not currency)

2. व्यापक दृष्टिकोण:- इस दृष्टिकोण के अनुसार वे सभी वस्तुएँ जो मुद्रा का कार्य करती हैं, मुद्रा कही जाती हैं। जिस प्रकार वाकर ने कहा, “मुद्रा वह वस्तु है जो मुद्रा का कार्य करे” और कार्ल हैलफरिक ने तो मुद्रा की इतनी व्यापक परिभाषा दी कि समस्त मौद्रिक प्रणाली का सम्बन्ध लगभग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से स्थापित हो जाता है। उनके अनुसार “मुद्रा से हमारा आशय उन सब वस्तुओं एवं संस्थओं से है जो एक दिये हुये क्षेत्र तथा एक दी हुयी प्रणाली में आर्थिक व्यक्तियों के बीच आर्थिक सहयोग में सुविधा पहुंचाती हैं।”

वहीं कॉलबोर्न ने व्यापक दृष्टिकोण वाली परिभाषाओं का सामान्य स्वीकृति की व्यावसायिक विचारधारा के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा की परिभाषा करते समय उसे वैधानिकता के साथ जोड़ा जाय जहां आज के वर्तमान युग में साख मुद्रा का महत्व लगातार बढ़ता जा रहा है, व्यापक दृष्टिकोण की परिभाषा अधिक उचित जान पड़ती है। अतः एक उचित परिभाषा वह होगी जो मुद्रा के वास्तविक रूप के साथ-साथ उसके आवश्यक कार्यों का भी उल्लेख करें।

नोट: जिन देशों में बैंकिंग का अधिक विकास नहीं हुआ वहाँ कोरेन्सी अथवा चलार्थ भुगतान के माध्यम के रूप में सर्वाधिक सामान्य स्वीकृत है जैसे 1950 के दश के प्रारम्भिक में भारत देश जहाँ मुद्रा पूर्ति का 85 प्रतिशत के करीब कोरेन्सी के रूप में था। आज भी जहाँ भारत में कोरेन्सी का हिस्सा 19 प्रतिशत के लगभग रहा है वहीं पश्चिम के अधिकांश आद्यौगिक देशों में यह 6 प्रतिशत है।

जैसे जैसे बैंकों का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे चेकों आदि का अधिक प्रयोग होने लगता है और उसके संलग्न क्रियाओं में सुधार होता जाता है। जैसे भारत में एम आई सी आर (MICR - Magnetic Ink Character Recognition) चेकों के समाशोधन का विस्तार किया गया है। तथा इलेक्ट्रॉनिक समाशोधन सेवा (Electronic Clearing Services) के अन्तर्गत जमा तथा नामों की प्रणाली लागू की गयी है। क्रेडिट कार्ड का प्रयोग भी बढ़ रहा है जिसे प्लास्टिक मुद्रा की संज्ञा दी गयी है। और इनके लिए Visa तथा Master Card जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ब्रांडों का प्रयोग कर रहे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत में भी भुगतान प्रणाली का आधुनिकीकरण प्रारम्भ हो चुका है। त्वरित भुगतानों की व्यवस्था के लिए सैटेलाइट अधिक नेटवर्क कार्य कर रहा है।

3. उचित दृष्टिकोण वाली अथवा आधुनिक विचार धारा की परिभाषायें:- इस विचारधारा के अनुसार धातु के सिक्कों और कागज के नोटों को ही मुद्रा में शामिल किया गया है। प्रो0 मार्शल एवं प्रो0 एली इसके मुख्य समर्थक हैं।

मार्शल के अनुसार- 'मुद्रा में उन सभी वस्तुओं का समावेश होता है जो किसी भी समय या स्थान में बिना किसी संदेह के और बिना किसी जांच पड़ताल के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने और भुगतान करने से साधन के रूप में स्वीकृति की जाती है।'

प्रो० ऐली के अनुसार- "मुद्रा ऐसी वस्तु है, जो विनिमय के माध्यम के रूप में हस्तान्तरित होती है और ऋणों के अंतिम भुगतान के रूप में सामान्य रूप से ग्रहण की जाती है।"

उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ऐसी वस्तु मुद्रा हो सकती है, जिसे विनिमय के माध्यम एवं ऋणों के अंतिम भुगतान के रूप में सामान्य स्वीकृति प्राप्त है। इस आधार पर हम साख पत्रों जैसे चेक, विनिमय पत्र आदि के मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार केवल धातु के सिक्के एवं कागजी मुद्रा को ही मुद्रा में शामिल किया जाता है।

मुद्रा की उचित परिभाषा:-मुद्रा की निम्न परिभाषा श्रेष्ठ कही जा सकती है। "मुद्रा ऐसी वस्तु है, जिसे विस्तृत रूप में विनिमय के माध्यम, मूल्य के मापक ऋणों के अंतिम भुगतान तथा मूल्य के संचय के साधन के रूप में स्वतन्त्र एवं सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है।"

9.4 मुद्रा के कार्य

प्रो० चैण्डलर का कथन है कि किसी आर्थिक प्रणाली में मुद्रा का केवल एक मौलिक कार्य है- माल तथा सेवाओं के लेन-देन में लगने वाले समय तथा परिश्रम की बचत होती है।

मुद्रा के सभी कार्यों का वर्गीकरण अग्र प्रकार से किया जा सकता है:

1. प्राथमिक या मुख्य कार्य
2. सहायक कार्य
3. आकस्मिक कार्य
4. विविध अथवा अन्य कार्य

9.4.1 प्राथमिक कार्य:-

1. विनिमय का माध्यम (Medium of exchange):- आधुनिक युग में जितना लेन-देन होता है, उसका भुगतान अधिकतर मुद्रा के द्वारा होता है। एक उत्पादक द्वारा थोक विक्रेता को माल बेचकर मुद्रा प्राप्त की जाती है, आगे चलकर थोक विक्रेता फुटकर व्यापारी को बेचता है, और मुद्रा प्राप्त करता है, जिसे अब ग्राहक को मुद्रा के बदले बेचा जाता है। इस प्रकार समाज के सभी क्रेता-विक्रेता उपभोक्ता व्यापारी के बीच मुद्रा एक कड़ी है, जो प्रत्येक वर्ग को प्रतिफल दिलाती है।

अतः वर्तमान विनिमय व्यवस्था की कल्पना मुद्रा के बिना संभव नहीं है। मुद्रा के प्रयोग से क्रेताओं तथा विक्रेताओं को स्वतंत्र निर्णय करने की शक्ति प्राप्त हुयी है, कि वे कब कहाँ और कितना क्रय-विक्रय करें। उत्पत्ति के साधनों को भी अपने योगदान का प्रतिफल मुद्रा के रूप में प्राप्त हो जाता है। साधनों को भी अपने योगदान का प्रतिफल मुद्रा के रूप में प्राप्त हो जाता है। जिसे वे अपनी इच्छा से व्यय कर सकते हैं। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा सभी वस्तुओं का आवंटन करती है। और अर्थव्यवस्था के पहिये को चालू रखती है।

2. मूल्य मापक (Measure of value):- क्राउथर ने लिखा है, कि "यह लेखे की इकाई के रूप में कार्य करती है, यह मूल्य के मापदण्ड अथवा सर्वमान्य मापक का जिसे अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है, कार्य करती है, " मुद्रा में व्यक्त किया गया मूल्य 'कीमत' कहलाता है।

उल्लेखनीय है कि मूल्य मापक का कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा के अपने मूल्य में कोई उतार चढ़ाव न हो। मुद्रा का मूल्य परिवर्तनीय होने के कारण ही वस्तुओं की कीमतों में सामर्थक परिवर्तन होता है।

9.4.2 सहायक कार्य (Secondary function):- सहायक कार्य मुद्रा के कुछ ऐसे कार्य है, जो प्राथमिक कार्य के सहायक होते हैं, और अर्थव्यवस्था के विकास के साथ-साथ बढ़ता रहा है। इस श्रेणी में तीन कार्य उल्लेखनीय है।

1. भावी भुगतानों का आधार 2. मूल्य संचय का साधन 3. मूल्य हस्तान्तरण

1. भावी भुगतानों का आधार (Standard of Deferred Payments):- ऐसे भुगतान जिन्हें तत्काल न करने के स्थान पर भविष्य के लिये स्थगित कर दिया जाता है, उनके लिये मुद्रा ही आधार है। पर यह तभी संभव है, जब मुद्रा के मूल्य में सामान्यतः स्थिरता रहे। इसमें टिकाऊपन भी अधिक होता है। तथा इसमें सामान्य स्वीकृति का गुण है।

2. मूल्य संचय का साधन (Store of value):- मुद्रा के प्रयोग द्वारा मूल्य संचय का कार्य अत्यन्त सरल हो गया है। क्योंकि इसमें टिकाऊपन अथवा अक्षयशीलता का गुण है। इसे सुरक्षापूर्वक जमा किया जा सकता है, और इससे ब्याज भी कमाया जा सकता है। आधुनिक बैंकिंग का विकास मुद्रा के इसी कार्य से सम्भव है। आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि अधिक मात्रा में पँजी संचय है। इसके लिये मुद्रा का मूल्य स्थिर बनाये रखना आवश्यक है, ताकि लोग अपनी बचत स्वर्ण भूमि अथवा किसी अन्य रूप में न रखने लगे। कीमतों की स्थिरता यह तय करती है, कि लोग द्वारा मूल्य का संचय मुद्रा के रूप में किया जाय अथवा अमौद्रिक परिस्थियों के रूप में।

महत्ता की दृष्टि से मुद्रा के ये चार कार्य अति महत्वपूर्ण हैं। अन्य कार्य किसी न किसी रूप में इन्हीं चार कार्यों से जुड़े हैं। इनका भी सामान्य दृष्टि से महत्व है।

3. मूल्य हस्तान्तरण:- वहनीयता के गुण के कारण मुद्रा के रूप में क्रय शक्ति अथवा मूल्य का हस्तान्तरण सुविधा पूर्वक किया जा सकता है। इसी के फलस्वरूप आर्थिक जीवन में गतिशीलता बढ़ी है। और आर्थिक विकास का प्रोत्साहन मिला है।

9.4.3 आकस्मिक कार्य:- किनले के अनुसार "प्रत्येक उन्नत अर्थव्यवस्था में मुद्रा मुख्यतया सहायक कार्यों के अतिरिक्त चार आकस्मिक कार्य भी करती है।

1. सामाजिक का वितरण:- उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के सहयोग से उत्पादन संभव होता है, अतः इन साधनों को उचित प्रतिफल मिलना चाहिये। जो मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है। मुद्रा में न केवल समस्त राष्ट्रीय आय का

अनुमान लगाया जाता है। बल्कि प्रत्येक वर्ग को उसके योगदान के अनुपात में भुगतान भी मुद्रा में ही दिया जाता है।

2. साख का आधार:- बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का व्यवसाय साख के आधार पर ही चलता है, तथा साख सृजन बैंकों में जमा राशि के आधार पर किया जाता है, जो मुद्रा के रूप में होती है। इस प्रकार मुद्रा ने केवल स्वयं भुगतान के माध्यम के रूप में कार्य करती है, बल्कि भुगतानों के साधनों के निर्माण का आधार भी है।

3. पूँजी की उत्पादकता बढ़ाना:- मुद्रा पूँजी का सबसे बड़ा आधार है, मुद्रा के द्वारा ही पूँजी को ऐसे विनियोग में हस्तान्तरित किया जा सकता जहाँ उसकी उत्पादकता तुलनात्मक रूप से अधिक हो। इससे पूँजी की गतिशीलता एवं उत्पादकता में वृद्धि होती है।

4. सम्पत्ति की तरलता:- मुद्रा सम्पत्ति को एक सरल रूप प्रदान करता है। नकद राशि अधिकतम लाभ देने वाले स्थानों, केन्द्रों अथवा व्यवसायों में सरलता से भेजी जा सकती है। मुद्रा उत्पत्ति का एक साधन तो नहीं है, परन्तु पूँजी को सामान्य रूप देकर उत्पादन में बहुत अधिक सहायक होती है।

9.4.4. अन्य कार्य:- उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा को कुछ अन्य कार्य इस प्रकार हैं:-

1. निर्णय वाहक (Bearer of option):- ग्राहक के मतानुसार मुद्रा के रूप में की गयी बचत भविष्य में किसी भी उद्देश्य के लिए काम में लायी जा सकती है। चँकि मनुष्य के उद्देश्य बदलते रहते हैं, जिसके लिये मुद्रा सबसे उपर्युक्त वस्तु है, जो किसी निर्णय के अधीन उद्देश्य के लिये काम में लायी जा सकती है।

2. सोधन क्षमता सूचक (Guarantor of solvency):- आर0पी0 केन्ट के अनुसार, किसी व्यक्ति के पास तरल मुद्रा उसकी भुगतान अथवा शोधन क्षमता की गारण्टी होती है, मुद्रा इस बात को सूचक है, कि शोधन क्षमता को कहाँ तक बनाये रखा जा सकता है।

9.4.5 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य

पॉल एन्जिग के अनुसार मुद्रा के कार्यों को स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्यों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है।

स्थैतिक कार्य वे हैं जिनसे अर्थव्यवस्था संचालित होती है। परन्तु उसमें गति अथवा वेग उत्पन्न नहीं करते। इस आधार पर विनिमय माध्यम, मूल्य मापक, क्रय के संचय, हस्तांतरण अथवा स्थगित भुगतान के रूप में मुद्रा के मुख्य एवं सहायक कार्य हैं क्योंकि इनसे प्रत्यक्ष रूप से वेग उत्पन्न नहीं होता।

एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में मुद्रा कीमत प्रणाली के संचालन के माध्यम के रूप में भी कार्य करती है। मुद्रा के स्थैतिक कार्यों को निष्क्रिय कार्य, परम्परागत कार्य, स्थिर कार्य तथा तकनीकी कार्य भी कहते हैं।

दूसरी ओर मुद्रा के वे कार्य जिनसे आर्थिक गतिविधियाँ सक्रिय रूप में प्रभावित होती हैं, मुद्रा के प्रावैगिक कार्य कहे जाते हैं। मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण सक्रिय कार्य कीमत को प्रभावित करना है। और कीमत स्तर में परिवर्तन होने से ही आर्थिक परिस्थितियाँ प्रभावित होने लगती हैं। मुद्रा की माँग और पूर्ति में परिवर्तन होने से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता है जिससे रोजगार, उत्पादन, आय-स्तर आदि सभी प्रभावित होने लगते हैं। जब मौद्रिक विस्तार के फलस्वरूप लोगों को अधिक क्रय शक्ति प्राप्त होती है, कीमतें बढ़ने लगती हैं, और उत्पादन विस्तार वृद्धि तथा आय-वृद्धि की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इसकी गति तीव्र होने पर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्थव्यवस्था की ब्याज दें, बचत निवेश सरकारी व्यय तथा उत्पत्ति के साधनों का उपयोग प्रभावित होता है, जिनसे आर्थिक स्थिति सक्रिय रूप में प्रभावित होती है।

पॉल ऐन्जिंग ने यह स्पष्ट किया कि मुद्रा की सहायता से ही सरकार घाटे के बजट बना पाती है। मुद्रा के रूप में व्यय करने से सरकार आर्थिक विकास एवं सामाजिक विकास के कार्यक्रमों को पूरा करती है।

पूँजी को तरलता प्रदान करना, साख के आधार के रूप में कार्य करना मुद्रा के प्रावैगिक कार्य ही हैं। वास्तव में मुद्रा के प्रावैगिक कार्य उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने उसके स्थैतिक कार्य हैं।

9.4.6 मुद्रा का आधार भूत कार्य

प्रो० चैण्डलर के अनुसार:- मुद्रा का आधारभूत उद्देश्य, "चलन के चक्के" तथा "व्यापार के यंत्र" के रूप में कार्य करता है। अधिकतर विनिमय माध्यम के कार्य को ही आधारभूत कार्य मानते हैं, क्योंकि अन्य कार्य इसी आधार पर कार्य करती हैं। **हैन्सन** के अनुसार मुद्रा के सभी परम्परागत अथवा स्थैतिक कार्य उसके विनिमय माध्यम कार्य को ही शाखाएँ मात्र हैं।

9.5 मुद्रा की प्रकृति या स्वभाव

मुद्रा की प्रकृति इन आधारभूत प्रश्नों पर आधारित है :-

1. क्या मुद्रा एक आवरण या पर्दा है अथवा वास्तविक है ?
2. क्या मुद्रा साधन एक साध्य है।
3. मुद्रा उत्पादन और वितरण की क्रियाओं के लिये तेल की भांति है।
4. क्या मुद्रा सरकारी उत्पत्ति है एवं मुद्रा के प्रति सरकार का क्या कर्तव्य है ?
5. क्या मुद्रा एक तरल सम्पत्ति है ?

1. क्या मुद्रा एक आवरण या पर्दा है अथवा वास्तविक है ?

प्रो० पीगू के शब्दों में "मुद्रा एक आवेष्टन है, जिसमें सामान बंधकर आपके पास आता है। सरल शब्दों में कहा जाता है, "मुद्रा आर्थिक जीवन में लिपटा हुआ वस्त्र है। समाज में वस्तुएँ श्रम तथा कच्चे माल द्वारा निर्मित होती हैं। जब माल विनिमय अथवा विक्रय के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तभी मुद्रा भुगतान की इकाई के रूप में प्रकट होती है। आसान शब्दों में, मुद्रा मात्र बेचने के समय ही दिखाई पड़ती है, और भुगतान करते ही समाप्त हो जाती है।

इसकी आलोचना करते हुये, आलोचकों ने माना कि यह एक संकीर्ण दृष्टिकोण है। आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व को देखते हुये मुद्रा इसे मात्र आवरण नहीं माना जा सकता। उत्पादन प्रत्येक अवस्था में मुद्रा की आवश्यकता होती है। और यह पूँजी संचय का आधार भी बनती है। अतः यह कहना उचित होगा कि मुद्रा मात्र आवरण ही नहीं वरन् एक अति महत्वपूर्ण एवं सक्रिय तत्व है।

2. मुद्रा साधन है, साध्य नहीं ?

मुद्रा की मांग वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति के लिये की जाती है। किसी देश को निर्धन अथवा धनी इस बात से जाना जाता है, कि वहाँ वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन कितना और कैसा है, उस देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा से नहीं।

3. मुद्रा उत्पादन तथा वितरण की क्रियाओं के लिये तेल की भांति है ?

यह मान्यता कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार है कि “मुद्रा स्वयं कुछ भी उत्पन्न करने की स्थिति में नहीं है। वह तो वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण की क्रियाओं के लिये सहायक तेल की भांति है।” यदि मुद्रा न हो तो आधुनिक युग में बड़े पैमाने का उत्पादन ही संभव नहीं होगा। मुद्रा आधुनिक उत्पादन तन्त्र की गाड़ी के पहिये के लिये तेल के समान है।

वितरण के क्षेत्र में, मूल्य निर्धारक के रूप में मुद्रा का अत्यधिक महत्व है। यह सत्य है, कि क्रय करने से पूर्व पहले ग्राहक उस वस्तु का मूल्य जान लेता है। बिना मूल्य निश्चित किये उस वस्तु की बिक्री सम्भव नहीं है।

4. सरकार का दायित्व मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण

सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता न केवल मुद्रा के उतार चढ़ाव को नियंत्रित करने के लिये है, बल्कि साख व्यवस्था के लिये भी है। सरकारी व्यय की पूर्ति के लिये मुद्रा व्यवस्था पर सरकारी नियन्त्रण आवश्यक है। सरकार की ओर से केन्द्रिय बैंक मुद्रा नियमन अथवा नियन्त्रण का कार्य करती है।

सरकारी हस्तक्षेप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक है:-

1. **मूल्य स्थायित्व:** उपभोक्ताओं की रक्षा हेतु देश के उद्योगों तथा व्यापार के नियमित विकास के लिये मुद्रा व्यवस्था का उचित नियमन आवश्यक है।

2. **समानता:** समानता बनाये रखने के उद्देश्य से भी सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य है। इसी कारण से सभी देशों में धातु मुद्रा का टेंकण स्वयं सरकार द्वारा किया जाता है।

5. मुद्रा एक तरल सम्पत्ति है ?

मुद्रा की यह एक अहम खासियत है, कि वह एक तरल सम्पत्ति है, अर्थात् वह हर समय किसी वस्तु अथवा सेवा खरीदने के काम आ सकती है। अन्य सम्पत्तियों को तरल बनाने के लिये उसे बेचना पड़ता है। परन्तु मुद्रा स्वयं तरल है। इसी गुण के कारण ही मुद्रा विनिमय की माध्यम तथा मूल्य की मापक है।

9.6 मुद्रा का महत्व

मुद्रा व धुरी है, जिसके चारों ओर अर्थविज्ञान केन्द्रित है। क्राउथर के अनुसार, “मुद्रा मनुष्य के समस्त आविष्कारों में एक आधारभूत आविष्कार है। व्यापारिक जीवन में मुद्रा एक ऐसा मूलभूत आविष्कार है, जिस पर अन्य सब बातें आधारित हैं।

मुद्रा के बिना दुनिया का कोई अस्तित्व नहीं। विनिमय प्रणाली का प्रारम्भिक रूप तो वस्तु विनिमय था, पर उसमें होने वाली असुविधा को मुद्रा ने समाप्त कर दिया। मुद्रा के उपयोग से व्यापार में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। मुद्रा के उपयोग के कारण ही वित्तीय संस्थाएँ जैसे बैंक तथा अन्य गैर बैंक वित्तीय संस्थाओं का सृजन होता है।

9.6.1 आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व

एक आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व कई गुना बढ़ जाता है। मुद्रा न सिर्फ आधुनिक बाजार व्यवस्था का आधार है बल्कि साख निर्माण का आधार भी है। मुद्रा न मानव को आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की है। सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति का अर्थ है, कि मुद्रा के द्वारा ही विभिन्न शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थाओं की स्थापना होती है। जो आर्थिक एवं सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

पूँजी निर्माण का सर्वोत्तम साधन मुद्रा है, क्योंकि यह एक तरल सम्पत्ति है, जिसे बैंक में रखकर ब्याज कमाया जा सकता है। मुद्रा की कीमत गिरने का संकेत यह भी है कि उस देश की आर्थिक स्थिति कमजोर है, और यदि मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है, तो उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी मानी जाती है, अतः मुद्रा देश की प्रगति की सूचक होती है। अन्य वस्तु जैसे मकान, भूमि या अन्य स्थाई सम्पत्ति की तुलना में मुद्रा को बैंकों के माध्यम से सरलता से स्थानान्तरित किया जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार मुद्रा ही है। यदि वस्तु विनिमय के दोषों से मुक्ति प्रदान करता है। और सामाजिक कल्याण का सूचक है। यदि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ती रहती है, तो देश आर्थिक कल्याण की ओर अग्रसर होता है।

‘मुद्रा वह धुरी है, जिसके चारों तरफ सम्पूर्ण अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है।’ मार्शल का यह कथन स्वीकार्य है क्योंकि यदि मुद्रा न होती तो आर्थिक विकास के उस शिखर तक मानव कभी न पहुँच पाता जिस पर आज के युग में वह औद्योगिकरण एवं आर्थिक सहयोग से पहुँच चुका है। ट्रेस्कॉट के शब्दों में, ‘यदि मुद्रा को हमारे अर्थतन्त्र का हृदय नहीं तो रक्तश्रोत अवश्य माना जा सकता है।’

9.7 मुद्रा की पूर्ति

मुद्रा की पूर्ति आर्थिक विकास को प्रभावित करती है। इसमें होने वाली परिवर्तन अर्थव्यवस्था में कीमत स्तर तथा ब्याज दरों का निर्धारण करते हैं। मुद्रा की पूर्ति का अध्ययन न केवल मौद्रिक सिद्धान्त समझने के लिये बल्कि व्यावहारिक रूप में, उपयुक्त मौद्रिक नीति तथा कुशल मौद्रिक प्रबन्धन की नीति निर्धारित करने के भी आवश्यक है।

9.7.1 मुद्रा की पूर्ति की परिभाषा

मुद्रा की पूर्ति अथवा कुल मात्रा निर्धारण करने लिये मुख्यतः तीन तत्व सम्मिलित किये जाते हैं।

1. केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमन विभिन्न मूल्यों के नोटों की कुल मात्रा।
2. सरकार की ओर से निकाली गयी मुद्रा, अर्थात् विभिन्न प्रकार के सिक्कों की कुल मात्रा

3. बैंकों में मांग जमा की कुल मात्रा।

इन तीन स्रोतों से प्राप्त होने वाली मुद्रा की विभिन्न मात्राओं से किसी समय उसकी कुल पूर्ति निर्धारित होती है। **संकुचित दृष्टिकोण** के अन्तर्गत मुद्रा में उन्हीं तत्वों को सम्मिलित किया जाता है, जो विनिमय माध्यम के रूप में भुगतानों के लिये प्रयोग किये जाते हैं।

व्यापक दृष्टिकोण के अन्तर्गत उन सभी वित्तीय आस्तियों को भी सम्मिलित किया जाता है। जो मूल्य संचय के लिये प्रयोग की जाती हैं। व्यापक दृष्टिकोण से मुद्रा की पूर्ति के निर्धारण में बैंकों के अतिरिक्त वित्तीय संस्थाओं और गैर बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों का भी योगदान होता है।

मुद्रा की मात्रा का अनुमान लगाने में काल जमा राशियों तथा वित्तीय संस्थाओं के दायित्वों आदि को सम्मिलित करने का पक्ष लिया जाता है, ताकि सम्पूर्ण चलनिधि अथवा तरलता को नियन्त्रित किया जा सके।

9.7.2 मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से आशय मुद्रा की उस मात्रा से है, जो किसी समय परिचलन में रहती है। मुद्रा की कुल पूर्ति अथवा मात्रा को अपने कार्य अथवा प्रभाव के आधार पर दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग तो वह है, जो केन्द्रीय सरकार के खजाने, केन्द्रीय बैंक अथवा वाणिज्य बैंकों के पास 'आधार' अथवा 'अनारिक्त मुद्रा' के रूप में रखा जाता है। यह मुद्रा कोषों में रहता है, परिचलन में नहीं। मुद्रा का दूसरा भाग अधिक विस्तृत है, जो परिचलन में रहता है। परिचलन में मुद्रा 'जनता' को उपलब्ध होती है। 'जनता' के अन्तर्गत सभी व्यक्ति व्यावसायिक फर्मों, राज्य सरकार, स्थानीय संस्थाएँ तथा निगम इत्यादि सम्मिलित होते हैं।

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से आशय मुद्रा की कुल मात्रा के दूसरे भाग से है, जो व्यय करने योग्य रूप में जनता को किसी समय प्राप्त होता है। मुद्रा के मूल्य निर्धारक तत्व के रूप में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

9.7.3 मुद्रा का प्रचलन वेग

एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई औसतन जितने बार भुगतान करने के लिये प्रयोग की जाती है, उसे मुद्रा का प्रचलन वेग कहते हैं। किसी निश्चित अवधि में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति की मात्रा केवल प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के द्वारा ही निर्धारित नहीं होती वरन् मात्रा व प्रचलन वेग के गुणनफल (प्रचलन में मुद्रा की मात्रा X मुद्रा का प्रचलन वेग) के बराबर होती है।

प्रचलन वेग का प्रयोग सभी प्रकार के क्रयों तथा लेन-देन के सम्बन्ध में किया जाता है। प्रचलन वेग का यह रूप मुद्रा का नकद भुगतान वेग को व्यक्त करता है। प्रचलन में मुद्रा की सभी इकाइयों का प्रचलन वेग एक समान नहीं करता है। मुद्रा के विविध रूपों में भी प्रत्येक का प्रचलन वेग अलग-अलग होता है। न सिर्फ साधारण मुद्रा तथा बैंक मुद्रा के प्रचलन वेग में तो अन्तर होता है, बल्कि अलग-अलग मूल्यों के सिक्कों तथा नोटों के प्रचलन वेग में भी अन्तर होता है।

मुद्रा का आय प्रचलन वेग किसी वर्ष में मुद्रा की पूर्ति का उस वर्ष की राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। चूँकि वास्तविक राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होने वाला वस्तुओं तथा सेवाओं के लेन-देन का आकार समस्त

प्रकार के लेन-देन अथवा भुगतानों के आकार से छोटा होता है, इसलिये आय प्रचलन वेग मुद्रा के नकद भुगतान वेग की तुलना में छोटा होता है।

आय प्रचलन वेग उस औसत संख्या को व्यक्त करता है, जितनी बार मुद्रा की इकाई एक निश्चित अवधि सामान्यतया एक वर्ष में, अन्तिम आय प्राप्तकर्ताओं के नकद शेषों में प्रवृष्टि होता है। छाम ने इसे मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग (circular velocity of money) कहा है। इसे इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है- 'चक्रीय प्रचलन वेग उस औसत समय विस्तार को व्यक्त करता है, जो एक अंतिम आय प्राप्तकर्ता से दूसरे आय प्राप्तकर्ता के बीच मुद्रा के प्रवाह के लिये आवश्यक होता है, अथवा यदि आय प्राप्ति की अवधि को एक वर्ष मान लिया जाए तो इस अवधि में विविध आय प्राप्तकर्ताओं के बीच मुद्रा प्रवाह के जितने चक्र पूरे होते हैं, मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग होगा''

$$V = \frac{NNP}{M} = \frac{p_1q_1 + p_2q_2 + \dots}{M} = \frac{\text{Sum } pq}{M} = \frac{PQ}{M}$$

Q = मात्रा

P = सामान्य कीमत स्तर

M = मुद्रा की पूर्ति

V = प्रचलन वेग

NNP = चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय

9.7.4 मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन

मुद्रा की पूर्ति तीन मुख्य श्रोतों से प्राप्त होता है। सरकार, केन्द्रिय बैंक तथा वाणिज्यिक बैंक। तीनों विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियाँ प्राप्त करते हैं, और इनके आधार पर मुद्रा का निर्माण करते हैं, जो उनके लिये दायित्व बन जाता है। साधारण मुद्रा का निर्माण सरकार तथा केन्द्रिय बैंक द्वारा किया जाता है, और बैंक मुद्रा का निर्माण वाणिज्यिक बैंक द्वारा। इन तीनों की मुद्रा सम्बन्धी नीति और कार्यवाही का देश में मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है।

1. केन्द्रिय बैंक तथा सरकार द्वारा मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन देश में मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित करने का अधिकार उस देश को केन्द्रिय बैंक को सरकार की सर्वोच्च मौद्रिक संस्था के रूप में प्राप्त होता है। केन्द्रिय बैंक को नोट निर्माण का एकाधिकार प्राप्त है, परन्तु इसका मुख्य कार्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करना है। वह वाणिज्यिक बैंकों के नकद कोषों को नियन्त्रित करने के साथ-साथ उनके द्वारा साख निर्माण की मात्रा को प्रभावित करता है। अनेक उपकरणों के माध्यम जैसे- बैंक दर में परिवर्तन करना, खुले बाजार के बाण्डों तथा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना तथा बैंकों के कोषानुपात में परिवर्तन करना, के माध्यम से नियन्त्रित करता है।

मुद्रा की पूर्ति में महत्वपूर्ण परिवर्तन सरकार द्वारा की गयी राजकोषीय नीति से प्रभावित होते हैं। जब किसी सरकार द्वारा किये जाने वाले व्यय की मात्रा उपलब्ध साधनों से प्राप्त की मात्रा से अधिक होती है, तो इस घाटे की पूर्ति के लिये सरकार को हीनार्थ प्रबन्ध का सहारा लेना पड़ता है।

वाणिज्यिक बैंकों द्वारा ऋण लेने पर सरकार उन्हें प्रतिभूतियाँ बेचती है, जिससे बैंकों का एक निष्क्रिय भाग (जिससे मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता) अब सक्रिय हो जाता है।

बैंकों से ली गयी राशि को व्यय करने से मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। यदि बैंक से ऋण लेने की बजाय जनता से ऋण लिये जाये तो प्रारम्भिक प्रभाव जनता के पास मुद्रा की मात्रा कम हो जाना होगा, परन्तु सरकार द्वारा इस राशि को व्यय करने पर मुद्रा की पूर्ति बढ़ जायेगी। एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था की अपेक्षा एक विकसित देश में हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग किया जा सकता है। इससे सरकार अपने संचित शेषों का उपयोग कर सकती है, जिससे निष्क्रिय मुद्रा सक्रिय हो जाती है।

स्पष्ट है कि सरकार द्वारा घाटे का बजट बनाने से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है, और बचत वाले बजर से मुद्रा की पूर्ति में कमी।

मुद्रा की पूर्ति सरकार के विदेशी विनिमय के घाटे से भी प्रभावित होती हैं। बैंक के अमौद्रिक दायित्वों की राशि (जो कि वैधानिक तथा अन्य कोषों के रूप में होती है, जिसका मौद्रिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग नहीं किया जाता है) का मुद्रा की पूर्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

2. मुद्रा पूर्ति पर भारतीय रिजर्व बैंक का दृष्टिकोण भारत में मुद्रा पूर्ति के आंकड़े भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जुलाई 1935 से प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। इन्हें परिष्कृत भी किया जाता है। मौद्रिक समूहों से सम्बन्धित आंकड़ों के संकलन को विश्लेषात्मक आधार 1961 में मुद्रा पूर्ति पर प्रथम कार्यकारी दल द्वारा दिया गया। 1977 में द्वितीय कार्यकारी दल ने इसको और परिष्कृत किया। रिजर्व बैंक द्वारा संकीर्ण मुद्रा को "जनता के पास उपलब्ध मुद्रा" के रूप में और व्यापक मुद्रा को "कुल मौद्रिक साधन" के रूप में प्रस्तुत किया गया। द्वितीय कार्यकारी दल की सिफारिशें लागू होने पर भारत में सम्पूर्ण मौद्रिक स्टॉक की माप के लिये रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों में मौद्रिक स्टॉक को निम्नलिखित चार भागों में बांटा जाता है।

M_1 = जनता को उपलब्ध चलन की मात्रा + बैंकों की शुद्ध मांग जमाराशि + रिजर्व बैंक के पास अन्य जमा राशियाँ (C+DD+OD)

M_2 = M_1 + डाकखानों के बचत बैंकों में बचत जमाराशियाँ

M_3 = M_1 ++ बैंकों की काल जमाराशियाँ (Time Deposits)

M_4 = M_3 + डाकखानों के बचत संगठन की कुल जमा राशियाँ (NSS को छोड़कर)

M_1 को संकीर्ण मुद्रा एवं M_3 को व्यापक मुद्रा कहा जाता है।

मुद्रा की माप की विधि पर विचार करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक के गवर्नर द्वारा 3 दिसम्बर 1997 को एक कार्यकारी दल नियुक्त किया गया। इस दल ने अपनी रिपोर्ट जून 1988 में प्रस्तुत की। इसमें निम्नलिखित मौद्रिक समूहों (Monetary Aggregates) के आंकड़ों संकलन करने का सुझाव दिया गया है:-

M_0 = चलन में करेन्सी + बैंकों की रिजर्व बैंक के पास जमाराशियाँ + रिजर्व बैंक के पास 'अन्य' जमा राशियाँ

M_1 = जनता के पास करेन्सी + बैंकों के पास मांग जमाराशियाँ + रिजर्व बैंक के पास अन्य जमा राशियाँ

M_2 = M_1 + बैंकों के पास बचत खातों की जमा राशियों में काल दायित्वों का भाग \$ बैंकों द्वारा जारी किये गये जमा प्रमाण पत्र (Certificate of Deposits) + काल जमा राशियाँ (विदेशी मुद्रा अनिवासी खाता (B) (FCNR) (B) जमा राशियाँ छोड़कर जिनकी अवधि एक वर्ष की होती है।

M_3 = M_2 + काल जमा राशियाँ (FCNR) (B) जमा राशियाँ छोड़कर जिनकी अवधि एक वर्ष से अधिक है+ गैर बैंक वित्तीय संस्थाओं से बैंकों द्वारा किये गये अभियाचना ऋण (Call Borrowing) प्रस्तावित डव रक्षित मुद्रा (Reserve Money) है।

9.7.5 मुद्रा पूर्ति फलन (Money Supply Function)

मुद्रा पूर्ति फलन मुद्रा की मात्रा तथा वित्तीय, गैर वित्तीय और नीति सम्बन्धी चरों के बीच सम्बन्ध व्यक्त करता है। मुद्रा पूर्ति बैंकों को कोषों (R) तथा ब्याज दरों (r) का फलन है, मुद्रा पूर्ति फलन (M_s) को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$M_s = c(R) + d(r)$$

यहाँ c तथा d गुणांक है, जो बैंक कोषों तथा ब्याज दर का मुद्रा पूर्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करते है।

मुद्रा पूर्ति पर प्रभाव निम्नलिखित परिवर्तनों के द्वारा पड़ता है:-

1. आय में परिवर्तनों का मुद्रा पूर्ति पर प्रभाव।
2. मुद्रा की मांग में परिवर्तनों का मुद्रा पूर्ति पर प्रभाव।
3. मुद्रा अधिकारी के कार्यों का मुद्रा पूर्ति पर प्रभाव।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुद्रा का सामान्य अर्थ है।

A. करेन्सी

B. करेन्सी तथा बैंको की सम्पूर्ण जमा राशियाँ

C. करेन्सी तथा मांग जमा राशियाँ

C. सम्पूर्ण चलनिधि

2. निम्न में से मुद्रा का अनिवार्य कार्य क्या है-

A. मूल्य मापन

B. मूल्य संचय

C. मूल्य हस्तान्तरण

D. साख व्यवस्था का आधार

3. मुद्रा एक अच्छा..... है, किन्तु बुरा.....।

4. नैप अर्थशास्त्री ने मुद्रा की..... परिभाषा का प्रतिपादन किया।

5. मूल्य मापक मुद्रा का.....कार्य है।
6. मूल्य संचय मुद्रा का.....कार्य है।
7. वर्तमान समय में मुद्रा अर्थ विज्ञान की धुरी है.....सही/गलत।
8. मुद्रा के दो महत्व बताइये।
9. मुद्रा के प्राथमिक कार्य क्या है ?
10. राबर्टसन ने मुद्रा के लिये संकुचित दृष्टिकोण की परिभाषा दी.....सही/गलत।

उत्तर: 1. B 2. A 3. सेवक, स्वामी 4. वैधानिक 5. प्राथमिक 6. सहायक 7. सही 10. सही

9.8 सारांश

इस अध्याय में हमने यह जाना कि मुद्रा की विभिन्न परिभाषाएँ क्या हैं तथा इसके कार्यों का आधार पर इसका वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है।

मुद्रा की प्रकृति के आधार पर मुद्रा की परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है: वणर्नात्मक परिभाषा वैधानिक परिभाषा तथा समान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ।

साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों-विनियम माध्यम, मूल्य मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा संचय का ही उल्लेख किया जाता है। परन्तु यथार्थ में मुद्रा के कार्य काफी व्यापक हैं। किन्तु द्वारा इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है- 1. मुख्य अथवा प्राथमिक कार्य 2. सहायक कार्य 3. आकस्मिक कार्य।

मुद्रा के कार्यों का विकास उसी क्रम में हुआ है, जिस क्रम में मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास हुआ है। यह कार्य आज भी नहीं रूका है। मुद्रा एक साधन है, साध्य नहीं। यह वह धुरी है, जिसके चारों ओर अर्थविज्ञान केन्द्रित है। यह विशिष्ट अर्थव्यवस्था की उपज है। बचत तथा निवेश को प्रोत्साहित करके मुद्रा आर्थिक विकास में योगदान करती है। मुद्रा के उपयोग के कारण ही वित्तीय संस्थाओं जैसे बैंक तथा अन्य गैर बैंक वित्तीय संस्थाओं का सृजन हो।

9.9 शब्दावली

वाहा मुद्रा (Outside money) :- सरकारी ऋण पर आधारित मुद्रा।

आन्तरिक मुद्रा (Inside Money) :- आर्थिक इकाइयों के ऋण पर आधारित मुद्रा।

अर्द्ध मुद्रा (Near Money) :- ऐसी परिसम्पतियाँ जो तरलता का गुण रहते हुये भी स्पष्ट रूप में मुद्रा नहीं कही जा सकती।

9.10 संदर्भ सहित ग्रन्थ

1. डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

2.डा0 टी0टी0 सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Dwivedi, D.N. (1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
 2. Ahuja, H. L. ((1910) Principles of Macro Economics, S&Chand Publishing House .
 3. Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
 4. Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.
-

9.12 निबन्धात्मक प्रश्न:

1. मुद्रा क्या है ? क्या आप ऐसा सोचते हैं, कि मुद्रा के कार्यों का विकास समय समय पर इससे चाहने वाली सेवाओं के अनुसार हुआ है ?
2. मुद्रा के स्थैतिक तथा प्रावैगिक कार्यों की व्याख्या कीजिये ? और एक विकासशील अर्थव्यवस्था में प्रावैगिक कार्यों की व्याख्या कीजिये ?
3. मुद्रा के आविष्कार ने आर्थिक क्रियाओं को प्रर्यारत रूप में प्रोत्साहित किया है ? विवेचना कीजिये ?

इकाई 10 ब्याज के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3. ब्याज के प्रकार

10.4. ब्याज के सिद्धान्त

10.4.1 ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

10.4.2 ऋण योग्य कोष सिद्धान्त अथवा नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त

10.4.3 ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त

10.4.4 ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त (IS-LM मॉडल)

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

10.8 संदर्भ सहित ग्रन्थ

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में मुद्रा की प्रकृति, कार्य एवं उसकी पूर्ति पर प्रकाश डाला गया है। मुद्रा के कार्यों का वर्गीकरण एवं उसका आधार स्वंय मुद्रा है। इस इकाई में पूँजी के प्रतिफल की व्याख्या की गयी है। पूँजी के प्रतिफल को ब्याज कहा जाता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों में ब्याज को लेकर विभिन्न प्रकार के वैचारिक मत हैं।

ब्याज के विभिन्न सिद्धान्त के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ब्याज के निर्धारण में वास्तविक तत्वों तथा मौद्रिक तत्वों की विवेचना की गयी है। जहाँ कुछ अर्थशास्त्रियों ने ब्याज को पूँजी के प्रयोग का शुल्क कहा है तो वहीं अन्य ने इसे पूँजी की कीमत कहा है।

वास्तविक तत्वों से आशय वास्तविक बचत एवं वास्तविक विनियोग से है तथा मौद्रिक तत्व से आशय मुद्रा की मांग तथा पूर्ति से है। ब्याज की सरल परिभाषा के अर्न्तगत उसे वह पुरस्कार माना जाता है जो मुद्रा अथवा ऋण योग्य कोष की रेखाओं के बदले ऋणदाता को दिया जाता है। आय का वह भाग जिसका उपभोग न करके उसे स्थगित कर दिया जाता है, इस स्थगन से वर्तमान सुख का त्याग होता है, इस त्याग का प्रतिफल ही ब्याज है। अतः ब्याज वह उपयोगिता है जिसका हम वर्तमान में त्याग कर देते हैं।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम यह जान सकेंगे कि -

1. ब्याज में कौन से तत्व शामिल होते हैं।
2. ब्याज के विभिन्न सिद्धान्त किस आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं।
3. ब्याज के प्रतिष्ठित एवं आधुनिक सिद्धान्त में मूल अन्तर किस बात का है।
4. ब्याज की दरों में भिन्नता के विभिन्न कारण क्या हैं।

10.3 ब्याज के प्रकार

ब्याज मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं - कुल ब्याज और शुद्ध ब्याज। शुद्ध ब्याज वह पुरस्कार है जो उधार दी गयी राशि के बदले दिया जाता है। जबकि कुल ब्याज वह ब्याज है जो वास्तविक जीवन में ऋणदाता द्वारा वसूल किया जाता है। यह शुद्ध ब्याज से अधिक होता है। इसमें शुद्ध ब्याज के जोखिम, असुविधा, प्रबन्ध तथा अन्य भुगतान भी शामिल होते हैं, कुल ब्याज में निम्न तत्व शामिल होते हैं।

1. जोखिम का पुरस्कार
2. असुविधा का भुगतान
3. प्रबन्ध की लागत
4. शुद्ध ब्याज

10.4 ब्याज के सिद्धान्त

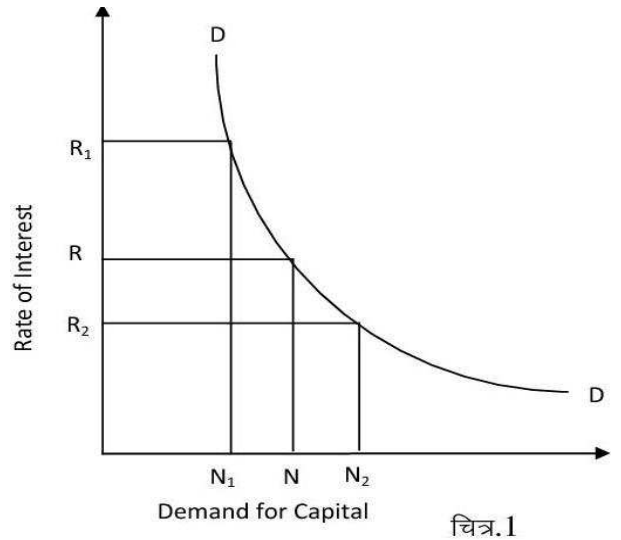
ब्याज के सम्बन्ध में चार विचारधाराएं विशेष महत्वपूर्ण हैं

1. प्रतिष्ठित विचारधारा
2. नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त
3. कीन्स का सिद्धान्त
4. ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त

10.4.1 ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को बचत विनियोग सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसका प्रतिपादन मार्शल, पीगू, मिल आदि अर्थशास्त्रियों ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण पूँजी की मांग एवं पूँजी की पूर्ति द्वारा होता है। इसलिये इस सिद्धान्त को ब्याज का मांग का पूर्ति सिद्धान्त कहा जाता है।

पूँजी की मांग - उत्पादक वर्ग विनियोग करने के उद्देश्य से पूँजी की मांग करता है। यह मांग पूँजी की उत्पादकता के कारण उत्पन्न होता है। उत्पादन में जैसे जैसे पूँजी की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग किया जाता है, उत्पत्ति हास नियम के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता घटती है। इस घटती सीमान्त उत्पादकता के कारण पूँजी की मांग एवं ब्याज की दर में ऋणात्मक सम्बन्ध होता है। प्रस्तुत चित्र 1 इस में इसे प्रदर्शित किया गया है।

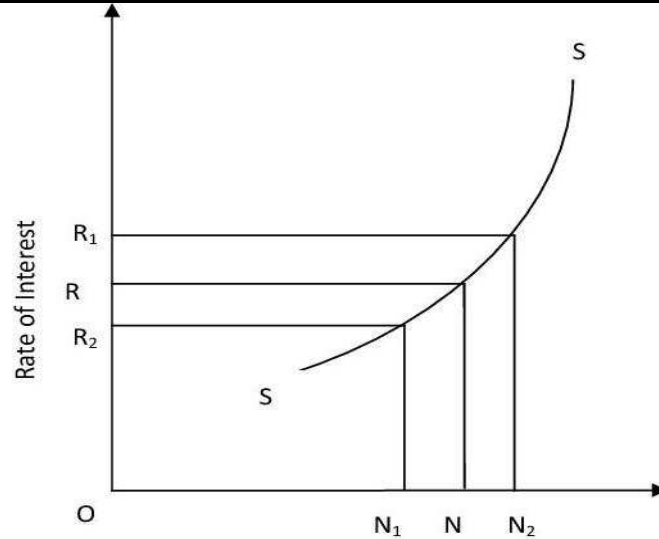


चित्र.1

ब्याज दर OR पर पूँजी की मांग ON है। जब ब्याज दर बढ़कर OR_1 हो जाती है। जब पूँजी की मांग घटकर ब्याज ON_1 हो जाती है तथा जब ब्याज दर घटकर OR_2 हो जाती है तो पूँजी की मांग बढ़कर ON_2 हो जाती है।

पूँजी की पूर्ति - सम्पूर्ण समाज की बचत को पूँजी की पूर्ति कहा जाता है। समाज में बचत की मात्रा पूँजी की पूर्ति को निर्धारित करती है। बचत करने के लिये समाज के व्यक्तियों को वर्तमान उपभोग का परित्याग करना पड़ता है। इस परित्याग के पुरस्कार स्वरूप ब्याज प्राप्त होता है।

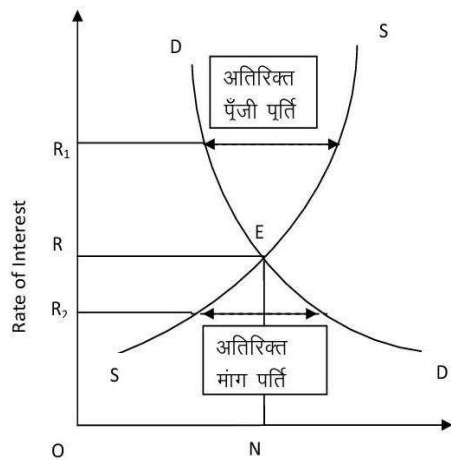
पूँजी की पूर्ति और ब्याज में कार्यात्मक सम्बन्ध होता है। ब्याज की दर ऊँची होने पर पूँजी की पूर्ति अधिक होती है। और ब्याज की दर नीची होने पर पूँजी की पूर्ति घटती है। चित्र 2 में इसे प्रदर्शित किया गया है। जहाँ पूँजी की पूर्ति वक्र SS बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर बढ़ता हुआ होता है। ब्याज की दर OR पर बचतकर्ता ON पूँजी की पूर्ति देते हैं। ब्याज की दर के बढ़कर OR_1 हो जाने पर पूँजी की पूर्ति बढ़कर ON_1 हो



Demand for Capital

जाती है क्योंकि ऊँची ब्याज दर पर लोग अधिक बचत करते हैं। इसके विपरीत, ब्याज की दर घटकर OR_2 हो जाने पर पूँजी की पूर्ति ON_2 तक घट जाती है क्योंकि ब्याज दर घटने पर लोग कम बचत करते हैं।

ब्याज दर का निर्धारण:- जिस बिन्दु पर पूँजी की माँग पूँजी की पूर्ति के बराबर होती है, वहाँ ब्याज की दर का निर्धारण होता है।



चित्र 3

Demand for and Supply of Capital

पूँजी की माँग वक्र DD तथा पूँजी का पूर्ति वक्र SS एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं जहाँ OR (EN) ब्याज की दर का निर्धारण होता है। पूँजी की पूर्ति और पूँजी की माँग के असन्तुलित होने पर ब्याज दर स्वतः समयोजित होकर सन्तुलन बिन्दु E पर पहुँच जाती है। अतिरिक्त पूँजी की पूर्ति होने पर ब्याज की दर OR_1 से नीचे गिरेगी और तब तक गिरती रहेगी जब तक सन्तुलन ब्याज दर OR प्राप्त नहीं हो जाती। इसी प्रकार अतिरिक्त पूँजी की माँग होने पर ब्याज की दर बढ़ेगी और बढ़कर सन्तुलन ब्याज दर OR तक पहुँच जायेगी।

सिद्धान्त की आलोचनाएँ :- प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं।

1. पूर्ण रोजगार की मान्यता- पूर्ण रोजगार वह स्थिति है जहाँ देश के सभी प्राकृतिक एवं मानवीय साधन पूर्ण क्षमता पर कार्य कर रहे होते हैं। पूर्ण रोजगार की अवस्था में पूँजी का भी पूरी क्षमता पर उपयोग होता है। पर यह

वास्तविक जीवन में यह स्थिति नहीं पाई जाती है। यदि अपूर्ण रोजगार की अवस्था हो तो ब्याज क्यों दिया जायेगा?

2. बचत तथा विनियोग पर ब्याज का प्रभाव- प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार बचत एवं विनियोग दोनों ही ब्याज दर पर निर्भर करते हैं। कीन्स इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार बचत ब्याज दर की अपेक्षा प्रमुख रूप से राष्ट्रीय आय पर ही निर्भर करती है और विनियोग ब्याज की अपेक्षा प्रमुख रूप से पूँजी की सीमित उत्पादकता पर निर्भर करती है।

3. बचत तथा विनियोग में सन्तुलन- कीन्स ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना करते हुये स्पष्ट किया कि यह सन्तुलन ब्याज की दर की अपेक्षा आय में होने वाले परिवर्तनों के माध्यम से होता है।

4. पूँजी की संकुचित धारणा- इस विचारधारा के अनुसार केवल वर्तमान आय से प्राप्त होने वाली बचत को ही शामिल किया जाता है। पिछली संचित राशि और बैंक साख दोनों ही पूँजी की पूर्ति के प्रमुख स्रोत हैं जिन्हें प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भुला दिया था।

5. अनिर्धारित सिद्धान्त- कीन्स के अनुसार यह सिद्धान्त ब्याज की दर को निर्धारित नहीं कर सकता क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर पूँजी की मांग एवं पूँजी की पूर्ति को सापेक्षिक शक्तियों पर निर्भर करती है। जब तक ब्याज का पता न हों, बचत तथा विनियोग निर्धारित नहीं होंगे और जब बचत और विनियोग ही निर्धारित नहीं होंगे तो ब्याज दर किस प्रकार निर्धारित होगी? अतः यह एक अनिर्धारित सिद्धान्त है।

6. उपभोग और विनियोग सम्बन्ध की अपेक्षा- उपभोग के प्रभाव की अपेक्षा की गयी है। उपभोग में कमी करने से समर्थ योग कम हो जाती है जिससे विनियोग का प्रोत्साहन कम हो जाता है। यह सिद्धान्त इस महत्वपूर्ण तथ्य की अपेक्षा करता है।

7. वास्तविक सिद्धान्त- इस सिद्धान्त में ब्याज दर को निर्धारित करने वाले केवल वास्तविक तत्वों को ही शामिल किया जाता है। जैसे उत्पादकता, त्याग, प्रतीक्षा, समय, अधिमान आदि। मौद्रिक तत्वों को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

8. मुद्रा की निष्क्रियता- प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि मुद्रा निष्क्रिय होती है। अर्थात् आर्थिक चर मूल्यों को प्रभावित नहीं करती वास्तविकता यह है कि मुद्रा निष्क्रिय नहीं होती और कीन्स के अनुसार मुद्रा सक्रिय होती है क्योंकि ब्याज की दर ही मुद्रा की पूर्ति और मुद्रा की मांग की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है।

9. बचत अनुसूची और विनियोग अनुसूची- प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार यदि किन्हीं कारणों से विनियोग में कमी अथवा वृद्धि हो जायतो इसका बचत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वास्तव में, यह गलत है। यदि विनियोग कम हो जायेगा, तो आय कम हो जायेगी जिसके फलस्वरूप उपभोग भी कम हो जायेगा। अतः यह सिद्धान्त एक आदर्श सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करता।

उपर्युक्त आलोचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त ब्याज दर को निर्धारित करने में असमर्थ है।

10.4.2 ऋण योग्य कोष सिद्धान्त अथवा नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Loanable funds Theory of Neo Classical Theory)

इस सिद्धान्त को उधार देय कोष सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वीडन के अर्थशास्त्री विकसेल, ओहलीन तथा मिर्डल ने किया। इसका समर्थन अंग्रेजी अर्थशास्त्री प्रो. राबर्टसन ने किया। इस सिद्धान्त ने वास्तविक तत्वों के साथ साथ मौद्रिक तत्वों को भी स्थान दिया। वास्तविक तत्व जैसे उत्पादकता, प्रतीक्षा, बचत आदि के साथ-2 मौद्रिक तत्व जैसे मुद्रा का संचय, असंचय, बैंक साख आदि को शामिल करके प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार ऋण योग्य कोष सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त के ऊपर एक सुधार है। ऋण योग्य कोष की मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा ही ब्याज दर का निर्धारण किया जाता है। ब्याज दर वह कीमत है जो ऋण योग्य कोष की मांग व पूर्ति को सन्तुलित करती है।

ऋण योग्य कोष की पूर्ति- इसके चार स्रोत बताए गए हैं:-

1. **बचत**-आय व उपयोग व्यय का अन्तर बचत कहलाती है। बचत व्यक्तिगत क्षेत्र, व्यावसायिक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र, तीनों द्वारा की जाती है। व्यवसायिक बचते ब्याज दर से प्रभावित होती है। ब्याज की वृद्धि बचतों को भी बढ़ाएगी तथा इसकी कमी बचतों को भी घटाएगी। इस प्रकार बचत पूर्ति एवं ब्याज की दर का सीधा सम्बन्ध होता है।

2. **बैंक साख**-ऋण योग्य कोष की पूर्ति का दूसरा प्रमुख साधन बैंक साख है। व्यापारिक बैंक साख का निर्माण कर सकते हैं। ब्याज की एक न्यूनतम दर के बाद बैंक साख ब्याज सापेक्ष होती है। ब्याज की ऊँची दर पर बैंक अधिक रूपसे उधार देती है और नीची दर पर कम उधार देती है। इस प्रकार ब्याज दर और बैंक साख का भी सीधा सम्बन्ध है।

3. **संचय**-मुद्रा संचय का एक प्रमुख कार्य करती है।

संचय से अभिप्राय सम्पत्ति के उस भाग से है जिसे लोग मुद्रा के रूप में रखना चाहते हैं। ब्याज दर अधिक होने पर संचय की हुयी राशि अंसचित कर दी जाती है और कम होने पर अंसचय की मात्रा कम होगी। अंसचय की गयी राशि का ब्याज की दर से प्रत्यक्ष एवं सीधा सम्बन्ध है।

4. **अनिवेश** - किसी नई तकनीक के आ जाने से मशीन पुरानी हो जाय और लाभ दर की

आशाएं अधिक न हो तो उधमी उस उद्योग को नयी परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनाता अपितु कारखाने को बेचकर उधार ली गयी पूँजी का भुगतान कर देता है। ब्याज दर पर अधिक होने पर अनिवेश अधिक होता है। और कम होने पर अनिवेश कम होता है।

ऋण योग्य कोष की पूर्ति में सम्मिलित धटकों को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$SL = S+M+DH+DI$$

SL= Supply of Loanable Funds(ऋण योग्य कोष की पूर्ति)

S = Savings (बचत)

M = Bank Credit (बैंक साख)

DH= Disharding (असंचय)

DI= Disinvestment (अनिवेश)

ऋण योग्य कोष की मांग:- ऋण योग्य कोष की मांग मुख्यतः तीन कारणों से की जाती है।

- 1. निवेश-** पूँजी उत्पादक होती है अतः उधमी द्वारा इसकी मांग की जाती है। उधमी यह अपेक्षा करता है कि वह पूँजी उधार लेकर विनियोग कर दे जिससे उसके प्रतिफल से वह ब्याज का भुगतान भी कर देता है। ब्याज की दर कम होने पर ऋण योग्य कोषों की विनियोग के लिये अधिक मांगे होगी और ब्याज दर अधिक होने पर ऋण योग्य कोषों की विनियोग के लिये मांग कम होगी।
- 2. उपभोग-** उपभोग करने के उद्देश्य से भी ऋण लिया जाता है। जिनकी आय कम होती है या फिर जिन्हें फिजूलखर्ची की आदत होती है, कुछ ऐसी परिस्थिति में ऋण लिये जाते हैं। ब्याज दर कम होने पर उपभोग ऋण अधिक लिये जाते हैं।
- 3. संचय-** संचय करने के लिये भी ऋण योग्य कोषों की मांग की जाती है। ब्याज दर कम होने पर संचय मांग अधिक होगी।

$$DL = I+C+H$$

I = investment (निवेश)

C = Consumption (उपभोग)

H = hoarding (संचय)

ब्याज दर का निर्धारण :-

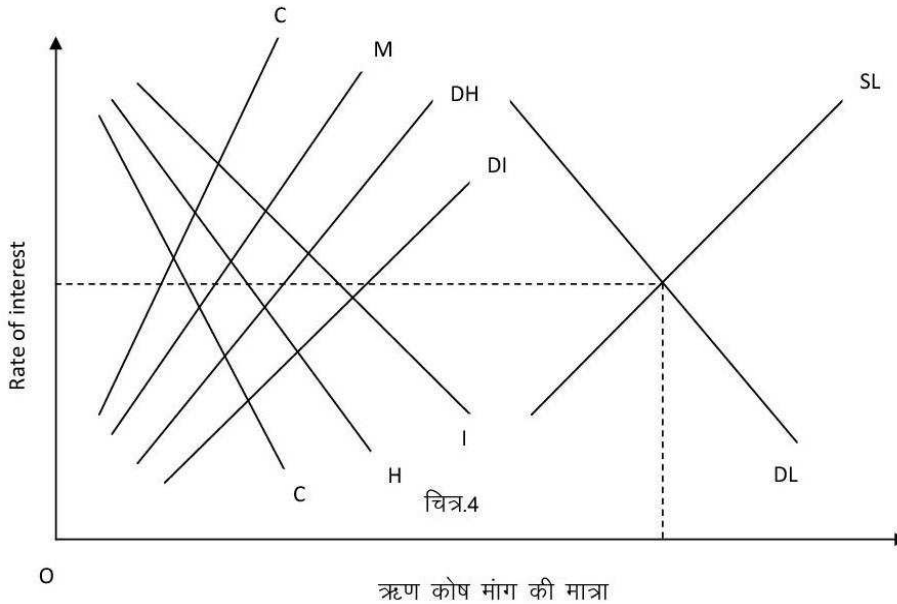
साम्य की स्थिति में $SL = DL$

ऋण योग्य कोष की पूर्ति = ऋण योग्य कोष की मांग

$$S+M+DH+DI = I+C+H$$

$$S+M= (I- DI) + (H- DH)$$

बचत + बैंक साख = शुद्ध विनियोग + शुद्ध संचय



ऊपर दिये गये विश्लेषण में ऋण कोष मांग वक्र तथा ऋण कोष पूर्ति वक्र प्राप्त होते हैं। चित्र-4 में ब्याज दर का निर्धारण बिन्दु E पर करते हुए बाजार ब्याज दर को O_r के बराबर निर्धारित करते हैं।

सिद्धान्त की आलोचना -लार्ड कीन्स एवं अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा इस सिद्धान्त की आलोचनाएँ की गयी हैं।

1.संचय की धारणा गलत -कीन्स के अनुसार संचय की मात्रा में परिवर्तन नहीं हो सकता। संचय में व्यक्तिगत दृष्टिकोण से परिवर्तन हो सकता है परन्तु सामूहिक दृष्टि से नहीं।

2.पूर्ण रोजगार की आवास्तविक मान्यता- कीन्स के अनुसार नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है जोकि आवस्तविक है।

3.वास्तविक एवं मौद्रिक तत्वों का मिश्रण- हालांकि यह सिद्धान्तदोनों ही तत्वों को शामिल करता है, किन्तु ये दोनों ही तत्व मिले हैं अतः इनका विचित्र चर मूल्यों पर पड़ने वाला प्रभाव भी अध्ययन किया जाना चाहिये।

4.अनिर्धारणीय सिद्धान्त-ऋण योग्य कोष आय तथा विनियोग स्तर पर निर्भर करते हैं और विनियोग स्तर ब्याज दर पर निर्भर करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऋण योग्य कोषों की पूर्ति एवं मांग की सापेक्षिक शक्तियाँ ब्याज दर का निर्धारण करता है। यह सिद्धान्त एक ऐसे चक्र में फसा देता है जिससे ब्याज दर का निर्धारण नहीं हो सकता।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त भी आय वर विनियोग के प्रभाव की उपेक्षा करता है और उन्हीं आवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है जिन पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया हालांकि जॉन्सन जैसे अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को ब्याज दर निर्धारण का एक गतिशील सिद्धान्त मानते हैं।

10.4.3 ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे.एम.कीन्स ने 1936 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में किया यह सिद्धान्त तरलता अधिमान की धारणा पर आधारित है। कीन्स का मानना है कि ब्याज दर पूर्णतः एक मौद्रिक घटना है उनके अनुसार, ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति एवं मांग की सापेक्षित शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। कीन्स के शब्दों में ब्याज वह कीमत है जो कि धन की नगद रूप में रखने की इच्छा तथा प्राप्त नकदी की मात्रा में समानता स्थापित करती है।

तरलता पसन्दगी का अर्थ नकदी की मुद्रा मांग को तरलता पसन्दगी कहा जाता है मुद्रा के विभिन्न रूपों में सबसे तरल रूप नकदी मुद्रा है। क्योंकि इसका जब चाहे प्रयोग किया जा सकता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री की आलोचना करते हुये कीन्स ने मुद्रा को विनियम माध्यम के रूप तक सीमित न करके उसे मूल्य संचय के कार्य को भी लिया है। मुद्रा के तरलता गुण के कारण ही मुद्रा का संचय किया जाता है।

कीन्स के अनुसार, “किसी निश्चित अवधि के लिए तरलता के त्याग का पुरस्कार ही ब्याज है।” स्पष्ट है कि कीन्स के अनुसार ब्याज विशुद्धतया एक मौद्रिक विषय है मुद्रा की मांग तथा मुद्रा की पूर्ति की सपेक्षा शास्त्रियों द्वारा ब्याज का निर्धारण होता है।

मुद्रा की मांग - नकदी की मांग तीन उद्देश्यों से की जाती है-

A. लेन देन सम्बन्धी उद्देश्य ;सौदा उद्देश्य -दैनिक लेन देन के लिये व्यक्तियों द्वारा नकद मुद्रा की कुछ मात्रा सदैव अपने पास रखी जाती है। यह दैनिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। इस प्रकार, एक अर्थव्यवस्था में सभी व्यक्ति, परिवार, और फर्म, दैनिक खर्चों के लिये, जो मुद्रा की मांग करते है, उसे सौदा उद्देश्य वाली मांग कहा जाता है। यह निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर करती है-

- 1. आय तथा रोजगार का स्तर-**यह स्तर जितना अधिक होगा, उतना ही क्रय विक्रय के निकट मुद्रा की मांग अधिक होगी। मजदूरी बढ़ने से भी नकदी की क्रय विक्रय के लिये मांग बढ़ जाती है।
- 2. आय प्राप्ति की आवृत्ति-**आय कितने अन्तराल के बाद प्राप्त हो रही है, यह भी नकदी की मांग को प्रभावित करती है। आय प्राप्ति की अवधि में वृद्धि के साथ सौदा उद्देश्य के लिये नकदी की मांग बढ़ जाती है।
- 3. व्यय की अवधि-**खर्चों के भुगतान जितनी लम्बी अवधि के बाद किया जायेगा, उतनी ही दैनिक क्रय विक्रय के लिये धन की मांग कम होगी।

B. दूरदर्शिता उद्देश्य - भविष्य की अनिश्चिताओं जैसे बीमारी, दुर्घटना, मृत्यु, आदि की दशाओं में सुरक्षित रहने के लिये अथवा भविष्य में सामाजिक रीति रिवाजों को पूरा करने के लिये व्यक्ति नकद मुद्रा की मांग अपने पास रखना चाहता है।

नकदी का संचय इसी दूरदर्शिता या भविष्य के प्रति सर्तकता के लिये किया जाता है। यह मांग मुख्यता व्यक्तियों के आय स्तर पर निर्भर करती है तथा यह मांग ब्याज की दर से प्रभावित नहीं होती।

यदि उपरोक्त दोनों उद्देश्यों के लिये मंगी गयी मुद्रा की मात्रा L_1 हो,

$$\text{तब } L_1 = f(Y)$$

अतः इन उद्देश्यों के लिये मांगी जाने वाली मुद्रा की मात्रा का स्तर (Y) का एक फलन होती है।

C. सट्टा उद्देश्य-व्यक्ति अपने पास नकदी इसलिये रखना चाहते हैं कि भविष्य में बाण्डों की कीमतों में होने वाले परिवर्तनों से लाभ उठाया जा सके।

प्रो.कीन्स के अनुसार, “भविष्य के सम्बन्ध में बाजार की तुलना में अधिक जानकारी द्वारा लाभ प्राप्त करने को सट्टा उद्देश्य कहा जाता है। “बाण्ड की कीमतों तथा ब्याज दरों में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। कम बाण्ड कीमतें ऊँचे ब्याज दरों को तथा ऊँची बाण्ड कीमतें कम ब्याज दरों को प्रकट करती हैं। ब्याज की दर जितनी ऊँची होगी सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की मांग उतनी ही कम होगी तथा विलोमशः यदि सट्टा उद्देश्य के लिये नकद मुद्रा को L_2 द्वारा प्रदर्शित किया जाय, तब

$$L_2 = f(r)$$

अर्थात् सट्टा उद्देश्य के लिये नकद मुद्रा की मात्रा ब्याज की दर पर निर्भर करती है। इस विपरीत सम्बन्ध के कारण ही सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की मांग का वक्र बाएँ से दाएँ नीचे गिरता हुआ होता है।

कुल मुद्रा की मांग (L)

$$L = L_1 + L_2$$

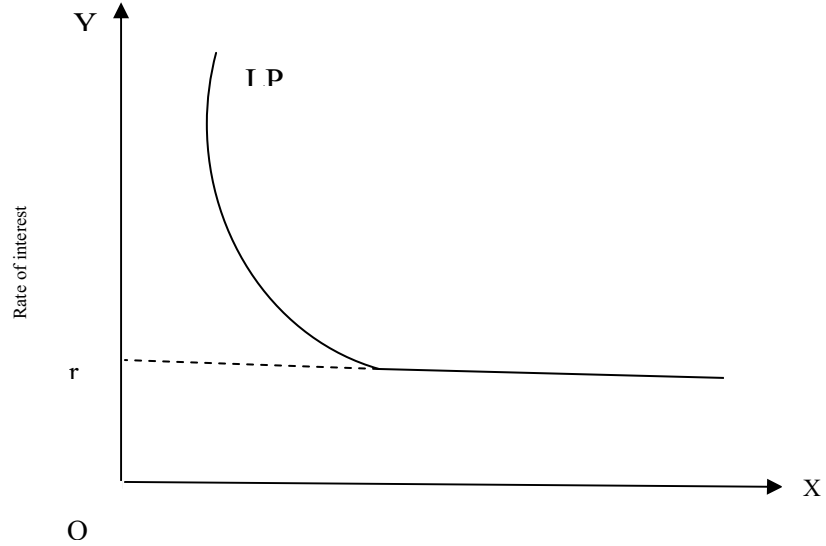
$$L = f(Y) + f(r)$$

$$L = f(Y, r)$$

अतः यह स्पष्ट हो जाता है प्रथम दो उद्देश्य अर्थात् लेन देन का उद्देश्य एवं दूरदर्शिता उद्देश्य ब्याज की दर पर निर्भर नहीं करते जबकि सट्टा उद्देश्य ब्याज की दर पर निर्भर करता है। यह कहा जा सकता है कि ब्याज की दर का परिवर्तन ही सट्टे के लिये मुद्रा की मांग उत्पन्न करता है।

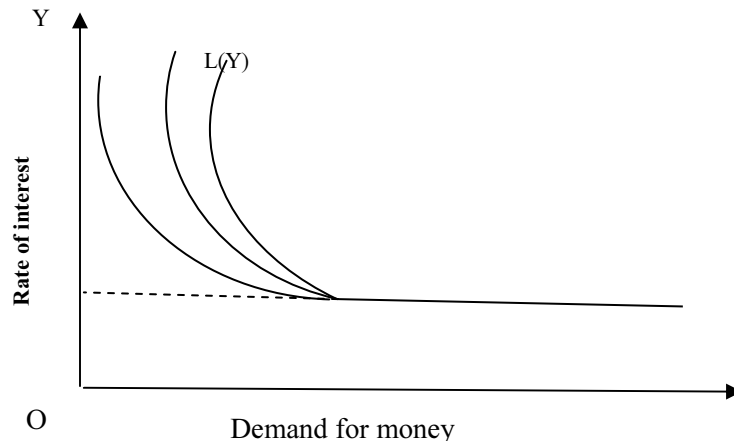
तरलता जाल-तरलता पसन्दगी रेखा का आकार व ढाल ब्याज की दर (r) तथा सट्टे उद्देश्य के लिये मुद्रा की मांग द्वारा निर्धारित होती है। LP रेखा का ऋणात्मक बल यह व्यक्त करता है कि r तथा L_2 में विपरीत सम्बन्ध है।

चित्र 5



चित्र 5 में LP रेखा को द्वारा दर्शाया गया है। रेखा का भाग ऋणात्मक ढाल वाला होने के कारण बाएं से दाएं नीचे गिरता हुआ आता है। ऋणात्मक बल वाला भाग यह बताता है कि ऊँची ब्याज दर पर सट्टा उद्देश्य के लिये नकद मुद्रा की मांग कम होगी तथा इसके विपरीत कम ब्याज दर पर सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की मांगे अधिक होगी। रेखा बिन्दु के बाद अपने में एक पड़ी रेखा के रूप में हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि बहुत कम ब्याज त पर दर पर सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की मांग पूर्णतया लोचदार हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अपनी समस्त मुद्रा नकद रूप में रखना चाहेगा। स्क् के इस पूर्ण लोचदार भाग की ही किन्स ने तरलता जाल का नाम दिया। इसे पूर्ण नकदी अधिमान अवस्था भी कहा जाता है। इस न्यूनतम ब्याज की दर पर लोगों में बॉण्ड खरीदने की प्रवृत्ति नहीं होगी बल्कि नकद मुद्रा रखना चाहेगे।

आय स्तर में परिवर्तन की दशा में तरलता पसन्दगी वक्र की स्थिति भी बदल जाती है। विभिन्न आय स्तरों तथा पर वक्रों की स्थिति स्पष्ट की गयी है।

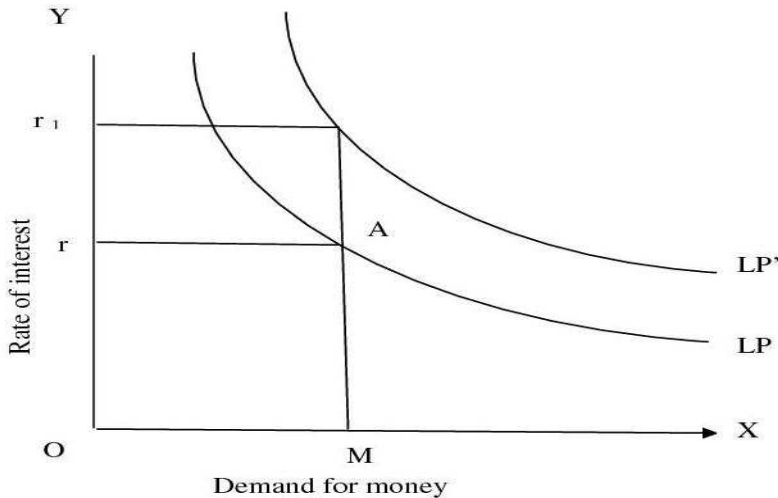


चित्र 6 में आरम्भिक आय स्तर Y पर तरलता पसन्दगी वक्र $L(Y)$ द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यदि अन्य बातें समान रहे, तो आय स्तर बढ़ कर Y_1 हो जाता है, तब सौदो तथा दूरदर्शिता उद्देश्यों के लिये मांग की नकद मुद्रा की मात्रा L_1 में वृद्धि होने के कारण LP वक्र परिवर्तित होकर $L(Y_1)$ की स्थिति में आ जायेगा। आय स्तर के Y_2 तक घट जाने पर पर LP वक्र परिवर्तित होकर $L(Y_2)$ हो जाता है। बिन्दु B पर सभी आय स्तरों के LP वक्र मिलकर पूर्णतया लोचदार हो जाते हैं।

मुद्रा की पूर्ति-मुद्रा की पूर्ति देश में परिचलन मुद्रा तथा बैंक जमा पर निर्भर करती है। ब्याज दर मुद्रा की पूर्ति को निर्धारित नहीं करती।

मुद्रा की पूर्ति मौद्रिक अधिकारियों केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित की जाती है और इसी कारण यह ब्याज के सापेक्ष पूर्णतः बेलोच होती है।

ब्याज की दर का निर्धारण- इस दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है, जहाँ तरलता पसन्दगी वक्र, मुद्रा की पूर्ति रेखा को काटता है। सन्तुलन का यह बिन्दु ब्याज की उस दर को बताता है जहाँ तरलता पसन्दगी नकद मुद्रा की वास्तविक मात्रा के बराबर होती है। चित्र 7 में ब्याज दर निर्धारण प्रदर्शित किया गया है। OM मुद्रा की पूर्ति है तथा LP मुद्रा की मांग को व्यक्त कर रहा है। बिन्दु A पर मुद्रा की मांग एवं पूर्ति बराबर है अतः ब्याज दर Or निर्धारित होती है। यदि आय के स्तर में वृद्धि हो जाने पर तरलता अधिमान में वृद्धि होगी तथा नया वक्र LP' हो जायेगा। मुद्रा की पूर्ति यथोचित रहेगी। ऐसे में ब्याज दर बढ़कर Or_1 हो जायेगा।



चित्र 7

वक्र का आकार यह व्यक्त करता है कि यह पहले तो तेजी से गिरता है परन्तु फिर गिरना कम हो जाता है अन्त में चपटा हो जाता है। कारण यह है कि बहुत ऊँची ब्याज दर पर मुद्रा की मांग की ब्याज सापेक्षता कम होती है। परन्तु बाद में ब्याज दर बहुत ऊँची और न ही बहुत नीची होती है तो मुद्रा का मांग की ब्याज सापेक्षता बढ़ जाती है।

मुद्रा की मांग तथा ब्याज दर के निर्धारण में केन्स ने एक सरल अर्थव्यवस्था की मान्यता अपनायी जहाँ लोगों की निवेश सूची में केवल दो ही परिसम्पत्तियाँ हैं।

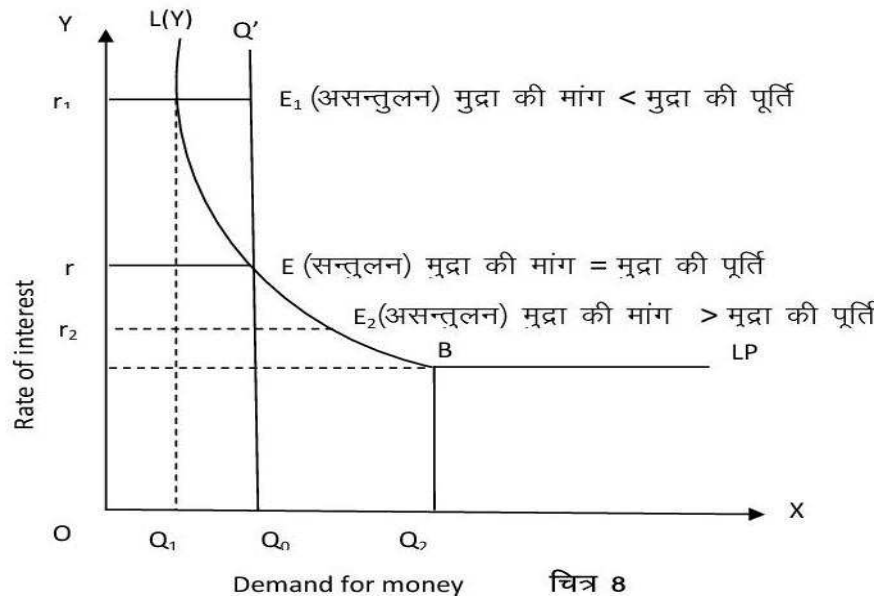
4. करेन्सी तथा बैंको की जमा राशियाँ, जिन पर ब्याज का उपार्जन नहीं होता हैं

5. दीर्घ कालीन बॉण्ड

जब बाण्डों की कीमत बढ़ती है तो ब्याज दर में कमी होती है। लोगों द्वारा मुद्रा की मांग इस बात पर निर्भर करती है कि वे अपनी निवेश सूची को किस प्रकार मुद्रा तथा बाण्डों के बीच सन्तुलित करते हैं।

चित्र 8 में ब्याज दर निर्धारण समझाया गया है। बिन्दु E पर तरलता पसन्दगी (मुद्रा की मांग) तथा मुद्रा की पूर्ति सन्तुलित अवस्था में है जहां ब्याज की दर O_r निर्धारित होती है इस प्रकार सन्तुलन बिन्दु ब्याज की सन्तुलित दर को बताता है। ब्याज दर O_{r_1} पर असन्तुलन की दशा उपस्थित होती है, क्योंकि इस ब्याज की दर पर तरलता पसन्दगी, मुद्रा की पूर्ति से कम है ($OQ_1 < OQ_0$) इस असन्तुलन के परिणामस्वरूप लोग अधिक बाण्ड खरीदेंगे जिससे बाण्ड कीमतों में बृद्धि तथा ब्याज दर में कमी होगी। पुनः सन्तुलन वहा स्थापित होगा जहाँ तरलता पसन्दगी मुद्रा की पूर्ति के बराबर होगी।

यदि ब्याज की दर O_{r_2} निर्धारित होती है, तब मुद्रा बाजार में पुनः असन्तुलन हो जायेगा। क्योंकि इस ब्याज की दर पर तरलता पसन्दगी मुद्रा की पूर्ति से अधिक है ($OQ_1 > OQ_0$)। इसके परिणामस्वरूप बाण्ड बेचना आरम्भ हो



चित्र 8

जायेगा जिससे उसकी कीमतों में कमी एवं ब्याज की दर में बृद्धि होती है। पुनः सन्तुलन बिन्दु E पर स्थापित हो जायेगा।

ब्याज की सन्तुलन पर में परिवर्तन दो कारणों से होता है।

1. आय स्तर में परिवर्तन
2. मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन

कीन्स के ब्याज सिद्धान्त की आलोचना -प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के बाद कीन्स द्वारा प्रतिपादि ब्याज दर के सिद्धान्त की भी आलोचना की गयी। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज की दर न तो केवल मितव्यवता

और 'उत्पादकता' के वास्तविक तत्वों द्वारा निर्धारित होती है, में केवल मुद्रा की मात्रा और तरलता पदसन्गी से। इस चारो तत्वों को मिलाकर ब्याज की दर का निर्धारण किया जात है।

1. अनिवार्य- प्रो-हेन्सन के अनुसार इस सिद्धान्त से भी ब्याज की दर का निश्चित रूप से निर्धारण नहीं हो सकता। तरलता अधिमान की जानकारी प्राप्त करने के लिये आय स्तर की जानकारी होनी चाहिए और आय स्तर ब्याज पर से प्रभावित होता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्थिति अनिर्धारण हो जाती है। अतः ब्याज दर का निर्धारण कैसे हो सकता है।

2. एक पक्षीय सिद्धान्त - हेन्सन के अनुसार, केवल मौद्रिक तत्वों को ही ध्यान में रखा गया है। जबकि उत्पादकता तथा सम अधिमान भी अपना प्रभाव डालते हैं। अतः एक पूर्ण सिद्धान्त मौद्रिक एवं वास्तविक तत्वों के आधार पर प्रतिपादित होना चाहिये।

3. बचत की अपेक्षा - कीन्स ने ब्याज को तरलता पसन्दगी के परित्याग का पुरस्कार माना है जबकि वास्तविकता यह है कि बिना बचत के तरलता उत्पन्न नहीं होती। अतः ब्याज के किसी भी सिद्धान्त में बचत की अपेक्षा करना गलत होगा।

4. अपूर्ण व्याख्या - हॉम के शब्दों में यह सरल व्याख्या अपर्याप्त है ऋण योग कोषों की मांग और पूर्ति के निर्धारण में जो समय तत्व का महत्व होता है, उसे यह सम्मिलित नहीं किया गया।

5. अस्पष्ट और भ्रमात्मक - यदि कोई व्यक्ति अपने धन को काल जमाराशियों में लगा देता है तो उसे ब्याज की प्रतिष्ठ के साथ-साथ तरलता भी उपलब्ध होती है। यह सिद्धान्त ब्याज की समस्या पर प्रकाश डालने की ब्याज गसे और उलझा देता है।

6. संकुचित व्याख्या- मात्र तीन उद्देश्यों के लिये ही तरलता की मांग नहीं की जाती बल्कि कुछ अन्य उद्देश्य हैं जिनको समुचित स्थान नहीं दिया गया।

7. मुद्रा की अस्पष्ट व्याख्या- एक स्थान पर कीन्स मुद्रा में बैंक जमा को शामिल करते हैं, तथा दूसरे स्थान पर वे मुद्रा में से साख मुद्रा को पृथक कर देते हैं। यदि हम यह मानकर चले कि ब्याज तरलता के परित्याग का पुरस्कार है और मुद्रा की मांग में निष्क्रिय कोषों का समावेश होता है तो मुद्रा की पूर्ति में केवल नकद कोषों का ही समावेश होता है, जबकि कीन्स के निष्क्रिय कोषों में सामान्य क्रय शक्ति पर वह अधिकार शामिल होता है जिसका परित्याग 90 दिनों से अधिक नहीं किया गया है। यह स्पष्ट विरोधमान है।

8. अल्पकालीन व्याख्या- यह सिद्धान्त मात्र अल्पकालीन व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा दीर्घकाल में ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता।

9. ब्याज पर पूँजी की सीमान्त क्षमता का प्रभाव- केन्स के अनुसार ब्याज की दर पर विनिमय कोषों की मांग का प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु ऐसा नहीं है। व्यापारियों द्वारा रखे जाने वाले नकद कोष विनियोग के लिये पूँजी की मांग द्वारा प्रभावित होते हैं। अन्य शब्दों में पूँजी की सीमान्त क्षमता का प्रभाव पड़ता है अतः ब्याज की दर को से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता।

10. विशुद्ध मौद्रिक विषय- नकद मुद्रा की मांग और पूर्ति के आधार पर ही ब्याज दर निर्धारण की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। परन्तु साथ ही मुद्रा की पूर्ति को एक स्थिर तत्व मान लिया गया है। यदि इसमें भी वृद्धि कर दी जाय, तो भाग में वृद्धि उस सीमा तक निष्प्रभावित हो जाती है।

उपयुक्त आलोचनाओं के बावजूद यह स्पष्ट है कि कीन्ज का ब्याज सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक यथार्थपूर्ण एवं श्रेष्ठ माना जाता है।

10.4.4 ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त (IS-LM मॉडल)

ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त से लेकर केन्स तक के सिद्धान्त कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो अकेला ही पर्याप्त तथा निश्चित सिद्धान्त हो। जहाँ प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने वास्तविक तत्वों के आधार पर सिद्धान्त की नींव रखी वहीं केन्स ने पूर्ण रूप से मौद्रिक तत्वों को ही सिद्धान्त का आधार बनाया। जहाँ क्लासिकल सिद्धान्त में ब्याज दर की समस्या का अध्ययन करने के लिये वास्तविक तत्वों जैसे बचत एवं विनियोग को शामिल किया, वहीं केन्स ने तरलता अधिमान एवं मुद्रा की पूर्ति जैसे मौद्रिक निर्धारकों को सम्मिलित किया तथा वास्तविक तत्वों की अपेक्षा की।

हिक्स, लर्नर, हेन्सन जैसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने केन्स के ब्याज सिद्धान्त तथा ऋणयोग्य कोष सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण अंशों को मिलाकर एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

यदि प्रतिष्ठित सिद्धान्त एवं कीन्स सिद्धान्त का समन्वय कर दिया जाय तो एक उचित तथा निर्धारणीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा सकता है। आधुनिक सिद्धान्त को नव केन्द्रीय सिद्धान्त भी कहा जाता है।

नव प्रतिष्ठित तथा नव केन्सीयन सिद्धान्तों का समन्वय करने से चार तत्व प्राप्त होते हैं- निवेश, बचत, तरलता अधिमान तथा मुद्रा की मात्रा। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्याज का निर्धारण इन चारों तत्वों पर निर्भर करता है। इस प्रकार मौद्रिक तथा वास्तविक तत्व एक साथ ब्याज निर्धारण का आधार बन जाते हैं।

हेन्सन के अनुसार, ‘ये दोनों ही सिद्धान्त एकपक्षीय तथा अपूर्ण हैं, परन्तु यदि इनका समन्वय कर दिया जाय तो निश्चित ही ब्याज का एक सन्तोष जनक सिद्धान्त मिल सकता है।

आधुनिक सिद्धान्त में आय परिवर्तन का मौद्रिक एवं वास्तविक तत्वों पर प्रभाव देखकर ब्याज दर का निर्धारण किया गया है।

प्रो. हेन्सन के अनुसार, ब्याज दर का चार निर्धारक तत्व हैं :-

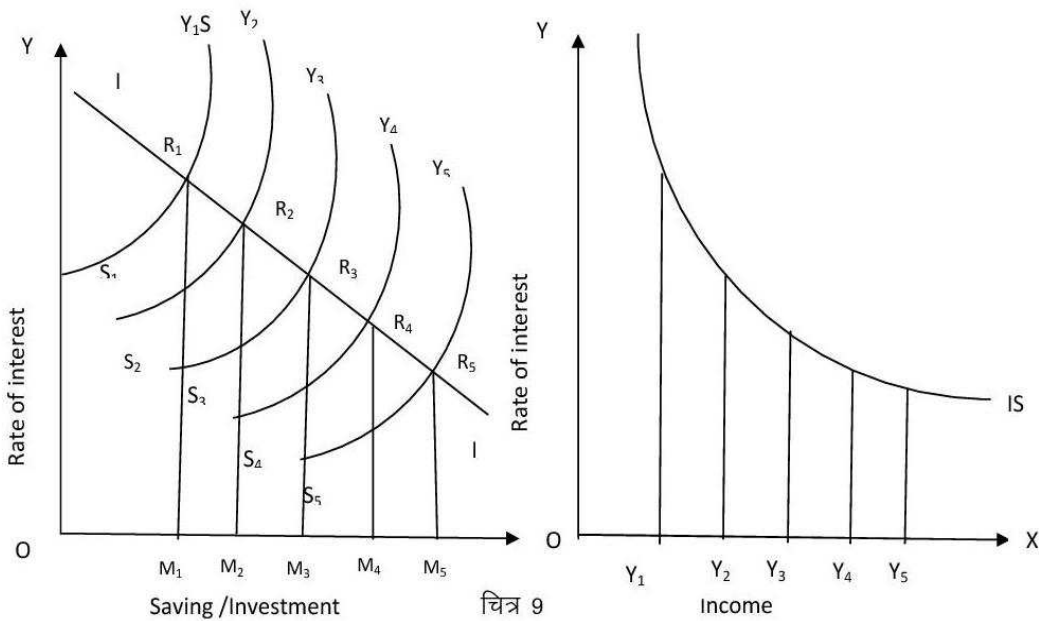
1. निवेश माँग अनुसूची
2. उपभोग क्रिया
3. तरलता अधिमान अनुसूची
4. मुद्रा की मात्रा

सन्तुलन की स्थिति में मुद्रा की पूर्ति नकद कोषों की मांग के बराबर होती है तथा निवेश की मात्रा बचत की सामान्य मात्रा के बराबर होती है और ये सभी तत्व एक दूसरे से जुड़े होते हैं। इस व्याख्या के अन्तर्गत मौद्रिक तत्व

वास्तविक तत्वों के साथ समन्वित होते हैं तथा प्रवाह सम्बन्धी परिवर्ती तत्व स्टॉक सम्बन्धी परिवर्ती तत्वों के साथ समन्वित हो जाते हैं।

एक IS वक्र है जो वास्तविक तत्वों अर्थात् प्रवाह चरों के सन्तुलन बचत-निवेश को व्यक्त करता है, तथा दूसरा LM वक्र है जो मौद्रिक क्षेत्र अर्थात् स्टॉक चरों के सन्तुलन मुद्रा की पूर्ति तरलता अधिमान को व्यक्त करता है। IS तथा LM वक्रों का सन्तुलन ब्याज सिद्धान्त का निश्चित हल प्रस्तुत करता है।

IS वक्र या बचत निवेश वक्र:- IS वक्र बचत अनुसूचियों (Saving Schedule) तथा निवेश अनुसूचियों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करता है। अन्य शब्दों में, यह आय तथा ब्याज दरों के विभिन्न संयोजनों द्वारा कुल वास्तविक बचत तथा कुल वास्तविक निवेश के बीच सन्तुलन को व्यक्त करता है। निवेश ब्याज दर का ऋणात्मक फलन होता है ($I = f(r)$) और बचत का आय के साथ सीधा सम्बन्ध होता है ($S = f(Y)$), अतः ब्याज दर में वृद्धि से निवेश में कमी होती है और आय बढ़ने पर बचत बढ़ती है। IS वक्र बचत तथा निवेश वक्र का युग्मन करके प्राप्त किया जाता है। IS अनुसूची से IS वक्र प्राप्त किया जा सकता है।



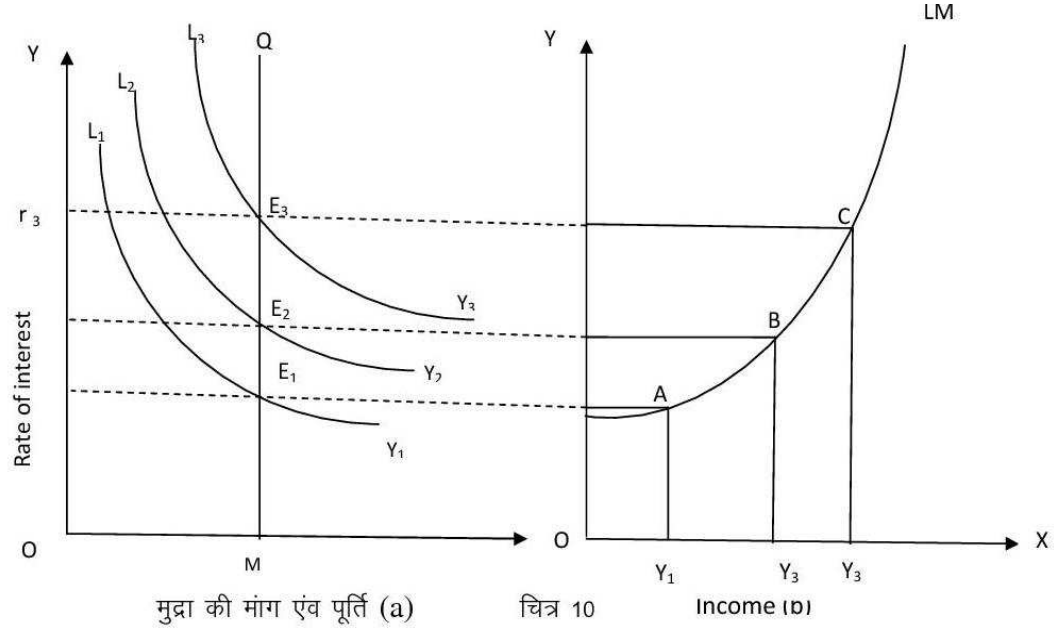
चित्र 9

चित्र 9 में Y_1, Y_2, Y_3, Y_4, Y_5 विभिन्न आय स्तरों को व्यक्त करते हैं। इन स्तरों पर बचत की मात्रा S_1, S_2, S_3, S_4, S_5 वक्रों के द्वारा व्यक्त की जाती है। I निवेश वक्र है। Y_1 आय स्तर पर R_1, M_1 ब्याज दर और निवेश के बीच स्थापित करती है। इसी प्रकार Y_2, Y_3, Y_4 तथा Y_5 आय स्तरों पर $R_2, M_2, R_3, M_3, R_4, M_4$ तथा R_5, M_5 ब्याज दरों और निवेश में सन्तुलन स्थापित करती है।

यदि बचत तथा निवेश में समानता लाने वाली ब्याज की विभिन्न दरों को तत्सम्बन्धी आय स्तरों के साथ जोड़ दिया जाय तो वक्र प्राप्त हो जाता है। वक्र दायें ओर नीचे गिरता हुआ है क्योंकि आय के ऊँचे स्तर पर बचत अधिक

होती है, परन्तु बचत अधिक होने पर ब्याज दर नीची होती है। आय के बढ़ने से बचत की वृद्धि के साथ-2 ब्याज दर में कमी होती है। ब्याज दर गिरने से निवेश बढ़ता है और बचत के बराबर हो जाता है। IS वक्र की स्थिति बचत एवं निवेश वक्रों की स्थितियों पर निर्भर करती हैं।

LM वक्र मुद्रा की मांग एवं पूर्ति वक्रः-LM वक्र मौद्रिक क्षेत्र के सन्तुलन को व्यक्त करता है, इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु पर मुद्रा की मांग एवं मुद्रा की पूर्ति सन्तुलन में होती है। यहाँ पर मुद्रा पूर्ति को स्थिर अर्थात् ब्याज निरपेक्ष माना गया है।



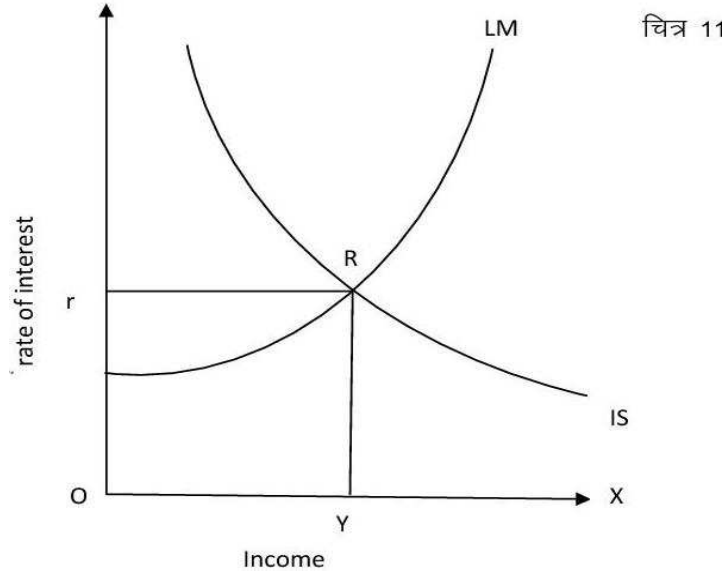
चित्र 10 (a) में आय के $Y_1, Y_2,$ तथा Y_3 के स्तर पर क्रमशः L_1, L_2, L_3 तरलता अधिमान वक्र है। QM मुद्रा की पूर्ति पूर्णतया स्थिर है अतः बेलोच वक्र है।

आय के Y_1 स्तर के अनुरूप, Or_1 ब्याज दर पर मुद्रा की मांग L_1, Y_1 तथा मुद्रा की पूर्ति QM बराबर होती है। इसी प्रकार Y_2 आय स्तर पर L_2, Y_2 वक्र तथा QM वक्र ब्याज दर Or_2 पर बराबर होते हैं। इसी प्रकार से Y_3 पर L_3, Y_3 और QM वक्र ब्याज दर Or_3 पर बराबर होते हैं। मुद्रा की पूर्ति, तरलता अधिमान, आय स्तर तथा ब्याज दर के सहायता से चित्र ii में LM वक्र को खींचा जा सकता है।

चित्र (a) में E_1 बिन्दु से रेखा r_1E_1 को दांयी ओर बढ़ाने पर वह चित्र (b) में Y_2 से ऊपर की ओर खींची गयी रेखा से बिन्दु A पर मिलती है। इसी प्रकार r_2E_2 के बढ़ाने पर B एवं r_3E_3 के बढ़ाने पर C पर मिलते हैं। A, B, एवं C को एक रेखा द्वारा मिलाने से हमें LM वक्र प्राप्त होता है। यह LM वक्र की प्रत्येक बिन्दु ब्याज आय स्तर को व्यक्त करता है, जहाँ मुद्रा की मांग (L) तथा मुद्रा की पूर्ति (M) बराबर होती है। इस प्रकार यह LM वक्र विभिन्न आय स्तरों को ब्याज की दरों के साथ सम्बद्ध करता है।

यह ऊपर बाएं से दाएं की ओर बढ़ता है जिससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा दी हुयी होने पर तरलता अधिमान बढ़ने पर ब्याज की दर बढ़ती है। यह भी उल्लेखनीय है कि बाईं ओर LM वक्र Y अक्ष को स्पर्श करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आय स्तर में कमी होने से लेन देन तथा सर्तकता उद्देश्य के लिये मुद्रा मांग में कमी आ जाती है।

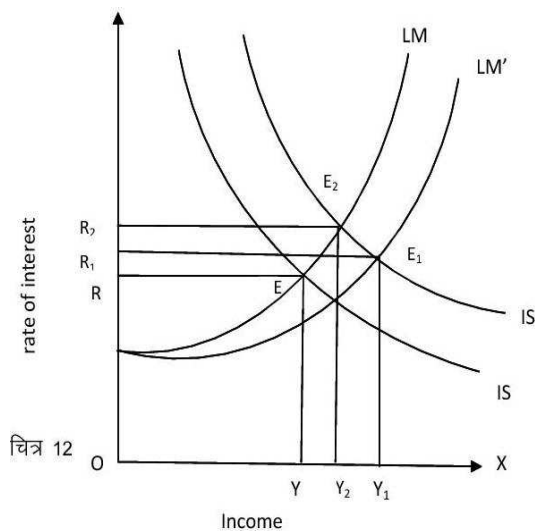
और आय के ऊँचे स्तर पर लेन देन के लिये मुद्रा की मांग बहुत अधिक होती है, और ब्याज दर बहुत तेजी से बढ़ती है। ब्याज दर जब कम होती है तो सट्टा उद्देश्य से मुद्रा की मांग बढ़ती है, इसलिये ब्याज दर न्यूनतम दर से नीचे नहीं जा पाती है। LM वक्र ऊँचे आय स्तर पर ब्याज निरपेक्षता तथा नीचे आय स्तर पर ब्याज सापेक्षता प्रदर्शित करता है। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि अथवा मांग में कमी होने पर वक्र दांयी ओर खिसक जाता है।



ब्याज दर का निर्धारण :- ब्याज दर का निर्धारण इस आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उस बिन्दु पर होता है जिस पर IS तथा LM वक्र एक दूसरे को R बिन्दु पर काटते हैं। यहाँ आय तथा ब्याज की दर का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि बचत एवं विनियोग में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और साथ ही मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित होता है।

IS तथा LM वक्रों से परिवर्तन- IS तथा LM वक्रों में परिवर्तन से सन्तुलन स्थिति परिवर्तित हो जाती है और नये सन्तुलन के अनुरूप ब्याज की दर निर्धारित होती है। चित्र 12 में यह प्रदर्शित किया गया है।

IS वक्र के दांयी ओर बढ़ने पर आय बढ़ती है तथा ब्याज दर में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत IS स्थिर रहने पर सड दांयी ओर जब बढ़ता है तो ब्याज दर में कमी होती है। IS तथा LM एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं जिससे ब्याज की दर OY आय पर निर्धारित होती है। यदि IS वक्र दांयी ओर खिसक जाता है और



LM वक्र में कोई परिवर्तन नहीं होता तो नया सन्तुलन बिन्दु E_2 OY_2 आय पर OR_2 ब्याज की दर का निर्धारण होता है। यदि अब मुद्रा की मात्रा बढ़ा दी जाती है या तरलता अधिमान वक्र नीचे खिसक जाता है तो LM वक्र दांयी और सरककर LM' हो जायेगा तब नये IS' तथा LM' एक दूसरे को E_1 बिन्दु पर काटेगें जिससे OY_1 आय स्तर पर OR_1 ब्याज की दर का निर्धारण होगा।

स्पष्ट है कि ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त यह बताता है कि ब्याज दर तथा आय स्तर दोनो ही का निर्धारण चार तत्वों पर निर्भर करता है-

1. निवेश क्रिया अथवा पूँजी की सीमान्त क्षमता।
2. बचत क्रिया अथवा पूँजी की उपभोग प्रवृत्ति।
3. नकदी अधिमान क्रिया।
4. मुद्रा की मात्रा

केन्स द्वारा लिया गया मुद्रा की मांग एवं पूर्ति आधुनिक सिद्धान्त का LM वक्र ही निर्धारित करते हैं। ब्याज के निर्धारण के लिये IS अनुसूची भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

अतः हिंक्स हेन्सन समन्वय सिद्धान्त ब्याज की दर के निर्धारण का एक सम्पूर्ण एवं निश्चित सिद्धान्त है जिसमें वास्तविक एवं मौद्रिक सिद्धान्तों को समन्वित करके सभी कमियों को दूर कर दिया गया है। केन्सीय सिद्धान्त एवं ऋण योग्य कोष सिद्धान्त को मिलाकर एक अधिक व्यापक एवं सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत की है। इसमें आय सिद्धान्त एवं मुद्रा सिद्धान्त को एक साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन-ब्याज का यह आधुनिक सिद्धान्त एक उचित सिद्धान्त माना गया है, परन्तु फ्रडिमैन तथा पेटिन्कन ने इस सिद्धान्त के निम्नलिखित दोष बताये हैं-

1. समय तत्व की उपेक्षा।
2. कीमत परिवर्तन की उपेक्षा।
3. विनियोग एवं ब्याज दर।

पेटिन्कन तथा फ्रडिमैन का यह मानना है कि दोनो क्षेत्र वास्तविक एवं मौद्रिक क्षेत्रों में विभाजन करने अव्यावहारिक है। उनके अनुसार दोनो क्षेत्र एक दूसरे से जुड़ते हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

10.5 सारांश

विभिन्न अर्थशास्त्रियों में ब्याज को लेकर विभिन्न प्रकार के वैचारिक मत हैं। ब्याज के सम्बन्ध में चार विचारधाराएं विशेष महत्वपूर्ण हैं-प्रतिष्ठित विचारधारा, नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त, कीन्स का सिद्धान्त, एवं ब्याज का आधुनिक

सिद्धान्त। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण पूँजी की मांग एवं पूँजी की पूर्ति द्वारा होता है। इसलिये इस सिद्धान्त को ब्याज का मांग का पूर्ति सिद्धान्त कहा जाता है। जिस बिन्दु पर पूँजी की मांग पूँजी की पूर्ति के बराबर होती है, वहाँ ब्याज की दर का निर्धारण होता है। नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने वास्तविक तत्वों के साथ साथ मौद्रिक तत्वों को भी स्थान दिया। वास्तविक तत्व जैसे उत्पादकता, प्रतीक्षा, बचत आदि के साथ-2 मौद्रिक तत्व जैसे मुद्रा का संचय, असंचय, बैंक साख आदि को शामिल करके प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धान्त को ऋण योग्य कोष सिद्धान्त सिद्धान्त भी कहा जाता है। ब्याज दर वह कीमत है जो ऋण योग्य कोष की मांग व पूर्ति को सन्तुलित करती है।

कीन्स के शब्दों में ब्याज वह कीमत है जो कि धन की नगद रूप में रखने की इच्छा तथा प्राप्त नकदी की मात्रा में समानता स्थापित करती है। कीन्स के अनुसार ब्याज विशुद्धतया एक मौद्रिक विषय है मुद्रा की मांग तथा मुद्रा की पूर्ति की सपेक्षा शास्त्रियों द्वारा ब्याज का निर्धारण होता है। नकदी की मांग तीन उद्देश्यों से की जाती है। प्रथम दो उद्देश्य अर्थात् लेन देन का उद्देश्य एवं दूरदर्शिता उद्देश्य ब्याज की दर पर निर्भर नहीं करते जबकि तीसरा, सट्टा उद्देश्य ब्याज की दर पर निर्भर करता है। यह कहा जा सकता है कि ब्याज की दर का परिवर्तन ही सट्टे के लिये मुद्रा की मांग उत्पन्न करता है। इस दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है, जहाँ तरलता पसन्दगी वक्र, मुद्रा की पूर्ति रेखा को काटता है। सन्तुलन का यह बिन्दु ब्याज की उस दर को बताता है जहाँ तरलता पसन्दगी नकद मुद्रा की वास्तविक मात्रा के बराबर होती है।

यदि प्रतिष्ठित सिद्धान्त एवं कीन्स सिद्धान्त का समन्वय कर दिया जाय तो एक उचित तथा निर्धारणीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा सकता है। आधुनिक सिद्धान्त को नव केन्द्रीय सिद्धान्त भी कहा जाता है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्याज का निर्धारण इन चारों तत्वों पर निर्भर करता है। इस प्रकार मौद्रिक तथा वास्तविक तत्व एक साथ ब्याज निर्धारण का आधार बन जाते हैं। एक IS वक्र है जो वास्तविक तत्वों अर्थात् प्रवाह चरों के सन्तुलन बचत -निवेश को व्यक्त करता है, तथा दूसरा र्ड वक्र है जो मौद्रिक क्षेत्र अर्थात् स्टॉक चरों के सन्तुलन मुद्रा की पूर्ति तरलता अधिमान को व्यक्त करता है। IS तथा LM वक्रों का सन्तुलन ब्याज सिद्धान्त का निश्चित हल प्रस्तुत करता है। ब्याज दर का निर्धारण इस आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उस बिन्दु पर होता है जिस पर IS तथा LM वक्र एक दूसरे को काटते हैं। यहाँ आय तथा ब्याज की दर का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि बचत एवं विनियोग में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और साथ ही मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित होता है। ब्याज का यह आधुनिक सिद्धान्त एक उचित सिद्धान्त माना गया है,

10.6 शब्दावली

पूर्ण रोजगार:- वह स्थिति जहाँ देश के सभी प्राकृतिक एवं मानवीय साधन पूर्ण क्षमता पर कार्य कर रहे होते हैं।

ऋण योग्य कोष:- वह मुद्रा राशियाँ जिनकी किसी समय में मुद्रा बाजार में पूर्ति तथा मांग की जाती है।

ब्याज की स्वाभाविक दर:- वह दर जिस पर वास्तविक रूप में बचत व निवेश समान।

ब्याज की बाजार दर :- वह दर जिस पर मौद्रिक रूप में ऋणयोग्य कोषों की मांग उनकी पूर्ति के बराबर होती है।

तरलता जाल :- तरलता अधिमान वक्र का पूर्ण लांचदार भाग।

10.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को ----- सिद्धान्त भी कहा जाता है।
2. ऋण योग्य कोष के सिद्धान्त को समर्थन ---- ने किया है।
3. कीन्स ने विनियोग के निर्धारक तत्वों में --- को अधिक महत्वपूर्ण माना है।
4. तरलता पसन्दगी का सिद्धान्त केवल ----- में ब्याज की दर के निर्धारण को बनाता है।
5. कीन्स ब्याज को तरलता के परित्याग का पुरस्कार मानते हैं- हों/नहीं।
6. ब्याज को प्राकृतिक एवं बाजार दर की विस्तृत विवेचना का श्रेय हैन्सन को है। सत्य/असत्य।
7. कीन्स ने तरलता पसन्गी सिद्धान्त में अधिक ध्यान दिया :-

क-पूर्ति पक्ष पर ख-मांग पक्ष पर ग-दोनों पर घ-कोई नहीं

8. आधुनिक सिद्धान्त ब्याज दर के निर्धारण में सम्मिलित करता है-

क-मौलिक तत्वों को, ख-वास्तविक तत्वों को , ग-उपयुक्त दोनों को, घ-कोई नहीं

उत्तर:-1. बचत विनियोग 2. प्रो0 राबर्टसन 3. पूँजी की सीमान्त क्षमता 4. अल्पकाल 5. सत्य 6. असत्य

7. ख 8. ग

10.8 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

डा0 जे0सी0 पन्त एवं जे0पी0 मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

डा0 टी0टी0 सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Dwivedi, D.N. (1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
2. Ahuja, H. L. ((1910) Principles of Macro Economics, S&Chand Publishing House .
3. Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.

4. Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्याज के प्रतिष्ठित तथा केन्जीय सिद्धान्त की तुलना कीजिये एवं केन्स के सिद्धान्त के उल्लेखनीय तत्वों को समझाइये।
2. ब्याज पूँजी बचत की पूर्ति तथा पूँजी निवेशों के बीच समानता स्थापित करती है। विवेचना कीजिए।
3. क्या केन्स का तरलता पसन्दगी का ब्याज का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर डाक सुधार है तथा अपने आप में पूर्ण है, स्पष्ट कीजिए।
4. ब्याज निर्धारण के IS-LM वक्र सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
5. ब्याज दर के सिद्धान्तों की तुलना कीजिये। क्या तरलता अधिमान सिद्धान्त ब्याज दर निर्धारण का अंतिम एवं पूर्ण सिद्धान्त है ?

इकाई-11 कीन्स का मुद्रा तथा कीमतों का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 कीन्स द्वारा मुद्रा के महत्व की व्याख्या

11.4 कीन्स का कीमत सिद्धान्त

11.4.1 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कार्यशैली

11.5 कीन्स द्वारा पुनः व्यवस्थापित अर्थात् संशोधित मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

11.5.1 कीन्स का मॉडल

11.6 सिद्धान्त के व्यावहारिक परिमाण

11.7 कीन्स के सिद्धान्त की श्रेष्ठता

11.8 कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना

11.9 कीन्स के सिद्धान्त की जटिलताएं

11.10 सारांश

11.11 शब्दावली

11.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

11.13 संदर्भ सहित ग्रन्थ

11.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.15 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

प्रतिष्ठित मुद्रा सिद्धान्तवादियों ने मुद्रा सिद्धान्त एवं मूल्य सिद्धान्त को पृथक-पृथक रखा। इस विचार की आलोचना कीन्स द्वारा की गयी। कीन्स ने इसके उपरान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। इस नये सिद्धान्त के परिणामस्वरूप कीमतों का मुद्रा सिद्धान्त बदलकर उत्पादन का मुद्रा सिद्धान्त बन गया। कीन्स ने मुद्रा सिद्धान्त को मूल्य सिद्धान्त से एकीकृत करने का प्रयत्न किया और मुद्रा सिद्धान्त में ब्याज का सिद्धान्त भी मिला दिया।

हेन्सन के अनुसार उत्पादन के सिद्धान्त के माध्यम से ही मूल्य सिद्धान्त तथा मुद्रा सिद्धान्त परस्पर समुचित रूप से स्थित हुये हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा का महत्व नहीं समझा। उनका विश्वास था कि मुद्रा का प्रचलन उत्पादन के वास्तविक ढंग पर कोई प्रभाव नहीं डालता। मुद्रा के प्रति प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री की इस उपेक्षा का कारण उनका यह विश्वास था कि मुद्रा सहज ढंग से कार्य करती रहेगी। वर्तमान अर्थशास्त्री मुद्रा को निष्क्रिय अथवा महत्वहीन नहीं मानते। एक अर्थशास्त्री ऐ.सी.डेल के अनुसार, “ऐसे समाजों में जहाँ पर्याप्त मात्रा में आर्थिक विकास प्राप्त किया जा चुका है लगभग सभी आर्थिक सम्बन्धों का आधार मुद्रा की व्यवस्था ही है। मुद्रा के महत्व से सम्बन्धित आधुनिक विचारधारा को प्रभावित करने में कीन्स का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

कीन्स के क्लासिकी सिद्धान्त की यह कहकर भी आलोचना की है कि वे स्थैतिक सन्तुलन को मान्यता देते हैं, जहाँ मुद्रा तटस्थ है और सापेक्ष कीमतों से सम्बन्धित अर्थव्यवस्था के वास्तविक सन्तुलन को प्रभावित नहीं करती।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम यह ज्ञात कर सकेंगे कि :-

- कीन्स ने मुद्रा को किस प्रकार से महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान किया है।
- कीन्स का कीमत सिद्धान्त क्या व्याख्या करता है।
- मुद्रा में होने वाले परिवर्तन कीमतों के किन तरीकों से प्रभावित करते हैं अर्थात् मुद्रा की मात्रा एवं कीमत स्तर के बीच सम्बन्ध की प्रक्रिया क्या है।
- कीन्स द्वारा पुनः व्यवस्थापित मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त क्या है ?
- कीन्स के सिद्धान्त की श्रेष्ठता है।

11.3 कीन्स द्वारा मुद्रा के महत्व की व्याख्या

मौद्रिक अर्थशास्त्र से सम्बन्धित मुद्रा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये। अर्थशास्त्रियों में विकसेल, वालरस, मार्शल, वॉन वीजर, कैनन रॉबर्टसन, पीगू तथा फिशर मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा दी गयी धारणा प्रतिष्ठित रूप ले चुकी थी। इनका विरोध करने वालों में कीन्स मुख्य हैं।

उनकी पुस्तक "The General Theory of Employment, Interest and Money" में इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि रोजगार के सिद्धान्त की व्याख्या में कीन्स ब्याज दर के साथ मुद्रा को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। अपने प्रारम्भ के लेखों में कीन्स ने मुद्रा के अध्ययन को केवल कीमतों तक ही सीमित रखा। उनकी पुस्तक "A Tract on Monetary Reforms" में प्रबन्धित चलनमान का समर्थन इस आधार पर किया गया कि आन्तरिक कीमतों में स्थिरता लाई जा सके। 1930 में प्रकाशित "The Treatise on Money" में दिये गये मूल समीकरण भी कीमत स्तर सिद्धान्त के साथ सम्बन्धित थे। पर धीरे-धीरे कीन्स के विचारों में परिवर्तन दिखने लगा। उनकी प्रकाशित पुस्तक "General Theory" में मुद्रा का सम्बन्ध उत्पादन तथा रोजगार से स्थापित कर दिया गया। मौद्रिक सिद्धान्त का सम्बन्ध लगभग सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था से स्थापित करके कीन्स ने मौद्रिक अर्थशास्त्र को व्यापकता प्रदान की और उसे आर्थिक प्रणाली के अध्ययन का महत्वपूर्ण आधार बना दिया है।

कीन्स के अनुसार, मुद्रा न तो महत्वहीन है और न ही एक आवरण है, बल्कि एक आवश्यक परिसम्पत्ति है जिसका मुख्य कार्य वर्तमान को भविष्य के साथ जोड़ने वाली एक कड़ी के समान है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारों से बेमेल, कीन्स के अनुसार मुद्रा की मात्रा का मुद्रा के मूल्य अथवा कीमत स्तर के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। कीमतें मुख्यतः उत्पादन लागत के द्वारा निर्धारित होती हैं। कीमतों के स्तर तथा उत्पादन का आकार यह निर्धारित करते हैं कि मुद्रा की कितनी मात्रा को सक्रिय रूप से प्रचलन में रखने की आवश्यकता है। कीन्स के अनुसार मुद्रा को M_1 एवं M_2 द्वारा व्यक्त किया है। M_2 का निर्धारण ब्याज दर के आधार पर होता है जोकि निवेश तथा रोजगार स्तर को निर्धारित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व है। निवेश रोजगार तथा आय में परिवर्तन होने पर कीमतों में परिवर्तन होना भी स्वाभाविक है।

कीमतों के निर्धारण से सम्बन्धित इस क्रम को विस्तृत व्याख्या कीन्स द्वारा अपने मुद्रा एवं कीमत सिद्धान्त के अन्तर्गत की गयी है।

11.4 कीन्स का कीमत सिद्धान्त

कीन्स प्रतिष्ठित मुद्रा सिद्धान्तवादियों के इस विचार पर बिल्कुल भी सहमत नहीं थे कि मुद्रा के परिमाण तथा कीमतों में प्रत्यक्ष एवं समानुपाती सम्बन्ध है। उनका कहना है कि कीमतों पर मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन का प्रभाव अप्रत्यक्ष एवं असमानुपाती होता है। कीन्स ने इस बात की आलोचना की कि मूल्य सिद्धान्त एवं मुद्रा सिद्धान्त तथा कीमतों के बीच कोई दिखावा या खिड़की नहीं रखी गयी। वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित सापेक्ष कीमत स्तर तथा मुद्रा की मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित निरपेक्ष कीमत स्तर के बीच इस द्वि-विभाजन का कारण यह है कि क्लासिकी मौद्रिक अर्थशास्त्री मूल्य सिद्धान्त एवं मुद्रा सिद्धान्त को एकीकृत करने में असफल रहे। कीन्स का कहना है कि वास्तविक जगत की समस्याएं प्रावेगिक सन्तुलन के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती हैं जबकि मुद्रा, वर्तमान तथा भविष्य के बीच एक कड़ी के रूप में प्रवेश करती है।

कीन्स ने कीमतों के सिद्धान्त की व्याख्या "General Theory" के 21वें अध्याय में की है। कीमतों को दो में विभाजित किया जा सकता है। 1. व्यक्तिगत अथवा सापेक्ष कीमते एवं 2. सामान्य कीमत स्तर।

व्यक्तिगत कीमतों का निर्धारण मांग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है जबकि सामान्य कीमत स्तर का निर्धारण मुद्रा की मात्रा एवं इसके प्रचलन वेग पर निर्भर करता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तिगत अर्थात् सापेक्ष कीमतों को मौद्रिक परिवर्तनों के प्रभावों से मुक्त समझा। यह उनकी सबसे बड़ी त्रुटि थी। उन्होंने मुद्रा की मात्रा एवं मुद्रा के मूल्य में अप्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध स्वीकार किया पर वास्तव में व्यक्तिगत कीमतों का औसत ही सामान्य कीमत स्तर के रूप में दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्य कीमत स्तर में होने वाला परिवर्तन केवल व्यक्तिगत कीमतों के परिवर्तन द्वारा ही सम्भव होता है। कीन्स ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना करते हुये अपने सिद्धान्त को एक व्यापक रूप दिया। उनके सिद्धान्त का सबसे विलक्षण गुण यह है कि इसके द्वारा मुद्रा मूल्य के निर्धारण के सिद्धान्त को सामान्य मूल्य तथा उत्पादन के सिद्धान्त के साथ भलीभांति जोड़ा गया है।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त की इस धारणा को कीन्स ने स्वीकार किया कि मुद्रा की मात्रा में होने वाला परिवर्तन मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन लाता है पर वे इस बात से सहमत नहीं थे कि दोनों में प्रत्यक्ष एवं समानुपातिक सम्बन्ध स्थापित हैं बल्कि उनका मानना है कि यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष होता है। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कीन्स के कीमत सिद्धान्त एवं परम्परागत मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में आधारभूत अन्तर मुद्रा तथा मूल्य के कारण परिणाम सम्बन्ध की व्याख्या में है।

11.4.1 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कार्यशैली

सर्वप्रथम हम मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कार्यशैली को समझते हैं- इस सिद्धान्त के अनुसार, मुद्रा की मात्रा लेन देन के लिये की जाती है और जब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है तो वस्तुओं और सेवाओं की मांग में भी वृद्धि हो जाती है जिससे कीमते बढ़ने लगती है, इसका प्रभाव यह होता है कि मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार पर आधारित है और यहां पर उत्पादन की मात्रा तथा लेनदेन के लिये मुद्रा की मांग को स्थिर मान लिया गया है तो सिर्फ मुद्रा की पूर्ति ही परिवर्तनशील तत्व है जो प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के मूल्य और क्रमशः कीमतों को प्रभावित करता है।

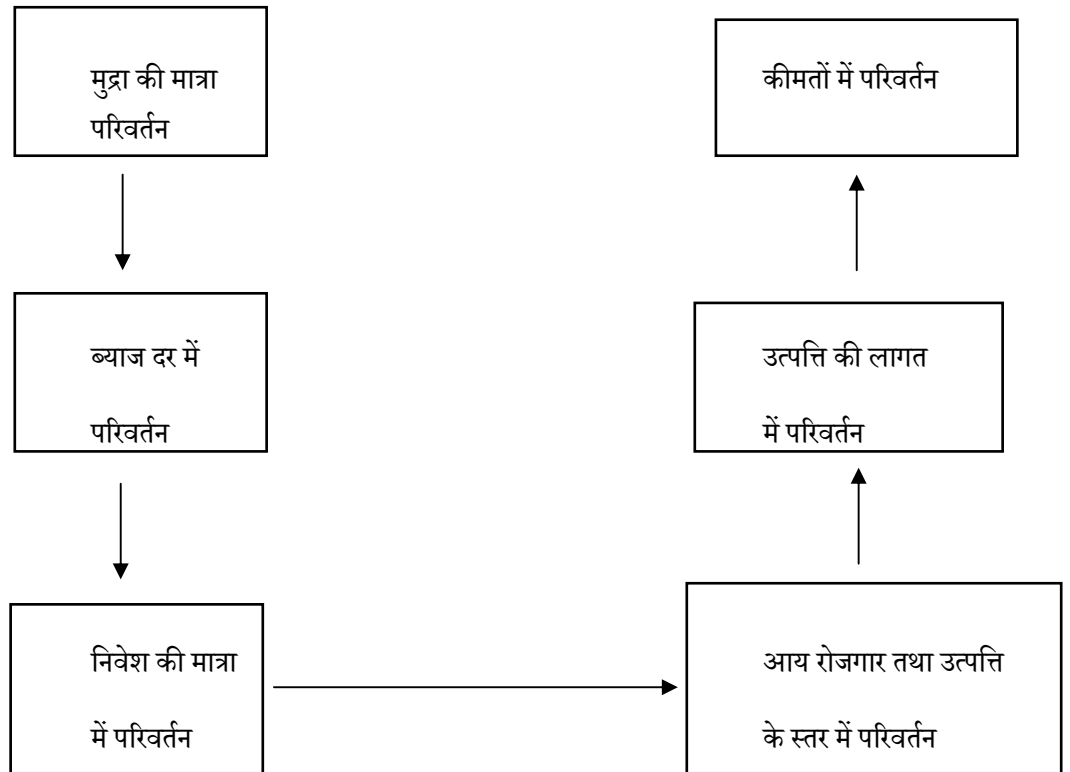
इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कीन्स ने एक विपरीत तथ्य प्रस्तुत किया। उनके अनुसार मुद्रा की मांग महज लेनदेन उद्देश्य के लिये ही नहीं वरन तरल परिसम्पत्ति के रूप में नकद कोष में रखने के लिये भी की जाती है। कीन्स की व्याख्या में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि का पहला प्रभाव यह पड़ता है कि ब्याज दर गिर जाती है जिसकी कमी से निवेश की मांग बढ़ती है। निवेश में वृद्धि का प्रभाव आय, रोजगार, उत्पादन में वृद्धि के रूप झलकता है। उत्पादन के साधनों के लिये मांग बढ़ जाने के परिमाण स्वरूप उत्पादन लागतों में वृद्धि होती है तथा लागतों के साथ-साथ कीमतें भी बढ़ जाती हैं। पूर्ण रोजगार के समीप पहुंचते-2 कीमते भी बढ़ जाती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. मुद्रा की मात्रा (M) में वृद्धि से सर्वप्रथम ब्याज की दर (r) घटती है, क्योंकि सद्दा उद्देश्य से प्रभावित तरलता पसन्दगी की सन्तुष्टि के लिये लोगों को अधिक मात्रा में मुद्रा प्राप्त होती है।
2. ब्याज दर में कमी होने से पूँजी की सीमान्त क्षमता (MEC) अपरिवर्तन रहने पर निवेश सम्बन्धी प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि होती है।
3. निवेश में वृद्धि होने से आय, रोजगार तथा उत्पत्ति के स्वर में वृद्धि होने लगती है।

4. आय (Y), रोजगार (N), उत्पादन (O) में वृद्धि होने से कीमतें (P) बढ़ने लगती हैं। इस प्रकार भी नीचे दिये गये तीन कारण विद्यमान हैं-
- श्रमिकों के लिये मांग बढ़ जाने के कारण उनकी मजदूरी दरें बढ़ जाती है जिससे उनकी सौदा करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।
 - अल्पकाल में उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने से उत्पादन व्यय बढ़ जाता है।
 - उत्पादन का विस्तार करने में अनेक बाधाएं उत्पन्न हो जाती है क्योंकि उत्पत्ति के सभी साधनों की मांगे पूर्ण रूप से लोचदार नहीं होती।
 - साधनों में सजातीयता नहीं होती है।
5. प्रारम्भ में रोजगार की वृद्धि का महत्व होता है पर क्रमशः पूर्ण रोजगार के स्तर के निकट पहुंचने पर बढ़ी हुई कीमतों का प्रभाव अति महत्वपूर्ण हो जाता है।
- पूर्ण रोजगार स्तर पहुंचने पर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से रोजगार में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती अतः इसका समस्त प्रभाव कीमत वृद्धि में दिखने लगता है। उत्पादन एवं रोजगार में नहीं।

एक चार्ट के माध्यम से इस कारण परिणाम की श्रंखला को समझाया जा सकता है।



इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा की मात्रा एवं कीमतों के मध्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, अधूरा, दूरस्थ और अस्थिर है। यह स्वरूप तब तक बना रहता है जब तक पूर्ण रोजगार की स्थिति दीर्घकाल में प्राप्त नहीं हो जाती जिसके पश्चात यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि कीन्स के शब्दों में 'दीर्घकाल में हम सब मर जाते हैं' अतः

यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष ही रहता है। दोनों तत्वों के बीच यह सम्बन्ध इतना सहज नहीं है बल्कि अनेक घटकों पर निर्भर होने के कारण जटिल है।

ब्याज दर के अतिरिक्त दो अन्य निर्धारक तत्व हैं :-

1. पूँजी की सीमान्त क्षमता (MEC)
2. सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC)

इन दोनों में से किसी एक तत्व से समूची मांग प्रभावित हो सकती है जिसके प्रभाव से कीमतों में परिवर्तन हो जाता है।

इन दोनों तत्वों के स्थिर रहने पर ब्याज की दर में परिवर्तन अपना प्रभाव दिखा पायेगा। MEC में कमी होने पर मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर ब्याज की दर में कमी होने पर भी, निवेश की मात्रा में वृद्धि सम्भव नहीं हो पायेगी। जब निवेश में वृद्धि नहीं होगी तो आय, रोजगार तथा उत्पत्ति में भी वृद्धि नहीं होगी। अतः मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर भी कीमतों में वृद्धि नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार MPC के कम हो जाने पर, मांग नहीं बढ़ेगी तथा निवेश में वृद्धि नहीं हो पायेगी। अतः मुद्रा की मात्रा में वृद्धियों के साथ-साथ कीमतों में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है।

एक ऐसी अवस्था भी हो सकती है जब ब्याज दर पहले से इतनी नीची हो कि मुद्रा मात्रा में वृद्धि भी इसे और नीचे नहीं कर सकती। अतः इससे न तो निवेश बढ़ेगा न ही आय एवं कीमतों में वृद्धि होगी।

व्यय में वृद्धि न होने पर तो वस्तुओं की मांग तथा कीमतों में भी कोई वृद्धि नहीं होगी। लोगों द्वारा किया जाने वाला व्यय चार बातों पर निर्भर करता है-

1. उपभोग प्रवृत्ति 2. निवेश करने की प्रेरणा 3. तरलता पसन्दगी 4. मुद्रा पूर्ति।

एक और स्थिति की कल्पना की जा सकती है जब मुद्रा की मात्रा, निवेश तथा व्यय की वृद्धि हो जाने पर भी कीमतें न बढ़ें। पूर्ण रोजगार की स्थिति के न आने तक देश के उत्पत्ति के साधनों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और वस्तुओं का पूर्ति वक्र मूल्य सापेक्ष होता है। अतः मांग बढ़ने पर पूर्ति बढ़ेगी न कि कीमत।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि कारण परिणाम व्याख्या का लागू होना इस बात पर निर्भर करता है कि मुद्रा परिणाम के घटने बढ़ने का समूची मांग अथवा कुल व्यय पर कितना प्रभाव पड़ता है तथा कुल व्यय में परिवर्तन होना, का उत्पादन मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है।

11.5 कीन्स द्वारा पुनः व्यवस्थापित अर्थात् संशोधित मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

कीन्स द्वारा संशोधित मुद्रा का परिणाम सिद्धान्त को निम्न मान्यताओं पर आधारित माना जा सकता है-

1. पूर्ण रोजगार स्तर तक न पहुंचने से पहले, उत्पादन के सभी साधनों की पूर्ति पूर्ण लोचदार होती है।

2. सभी बेकार साधन समरूप, पूर्णतया विभाज्य एवं परस्पर परिवर्तनशील होते हैं।
3. पैमाने के प्रतिफल स्थित होते हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ने पर कीमते नहीं बढ़ती या घटती।
4. जब तक कोई भी बेकार संसाधन रहते हैं, तब तक प्रभावी मांग तथा मुद्रा का परिमाण उसी अनुपात में बढ़ता है।

अतः जहां प्रतिष्ठित सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा एवं कीमतों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानते हैं, कीन्स के अनुसार यह कार्य कारण ब्याज दर के माध्यम से अप्रत्यक्ष होता है।

हिक्स के विचार में कीन्स द्वारा दी गयी सामान्य कीमत स्तर के परिवर्तन से सम्बन्धित व्याख्या “उत्कृष्ट किया गया परिमाण सिद्धान्त” ही है। यह व्याख्या मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की छूटी हुयी कड़ी को जोड़ता है। मुद्रा की मात्रा और ब्याज दर के बीच आने वाले तत्वों को प्रतिष्ठित सिद्धान्त नजर अंदाज करता है जैसे ब्याज दर, निवेश की मात्रा, आय तथा रोजगार की मात्रा और उत्पादन लागत। पूर्ण रोजगार के स्तर पर उत्पत्ति में परिवर्तन न होने की मान्यता के कारण आय, मांग एवं पूर्ति की लोच आदि तत्वों की व्याख्या करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी। न ही मुद्रा सिद्धान्त को मूल्य सिद्धान्त के साथ सम्बन्धित करने की आवश्यकता रही। यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति को हटा दिया जाय तो परिमाण सिद्धान्त के निष्कर्षों में खोखलापन स्पष्ट हो जायेगा। वास्तविक स्थिति पूर्ण रोजगार की नहीं, वरन् अपूर्ण रोजगार की होती है।

कीन्स के शब्दों में, “जब तक बेरोजगारी विद्यमान है, तब तक रोजगार उसी अनुपात में परिवर्तित होगा जिसमें मुद्रा की मात्रा परिवर्तित होती है, परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति में कीमतें उसी अनुपात में परिवर्तित होंगी जिसमें मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होता है।

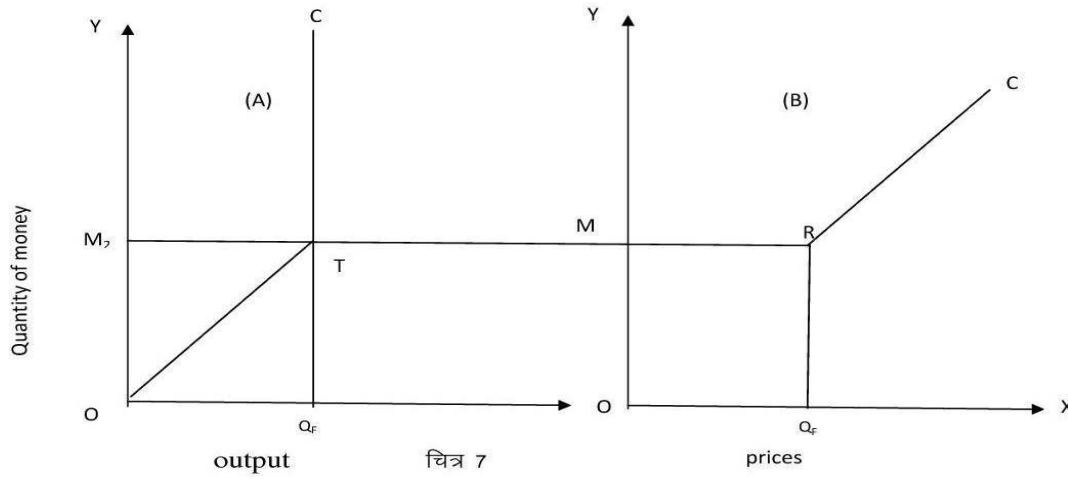
अतः कीन्स परिमाण सिद्धान्त का एक परिष्कृत अथवा संशोधित रूप प्रस्तुत करते हैं, कीन्स ने इसे कारणता का विपरीत सिद्धान्त कहा। इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

$$\triangle M \uparrow \rightarrow \triangle r \downarrow \rightarrow \triangle I \uparrow \rightarrow \triangle Y \uparrow \rightarrow \triangle O \uparrow \rightarrow \triangle N \uparrow \rightarrow \triangle P \uparrow$$

जहाँ \triangle परिवर्तन है	I निवेश	N रोजगार
M मुद्रा	Y आय	C लागत
r ब्याज दर	O उत्पादन	P कीमत स्तर

इस पुनः व्यवस्थापित मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को नीचे दिये गये चित्र 11.1 (A) तथा (B) में दर्शाया गया है। जहां OTC तो मुद्रा के परिमाण से सम्बन्धित उत्पादन वक्र है और PRC मुद्रा के परिमाण से सम्बन्धित कीमत वक्र है। चित्र का भाग (A) बताता है कि जब मुद्रा का परिमाण O से बढ़कर M पर चला जाता है तो OTC वक्र के OT भाग उत्पादन का स्तर भी बढ़ जाता है। जब मुद्रा का परिमाण OM स्तर पर पहुंच जाता है तो पूर्ण रोजगार

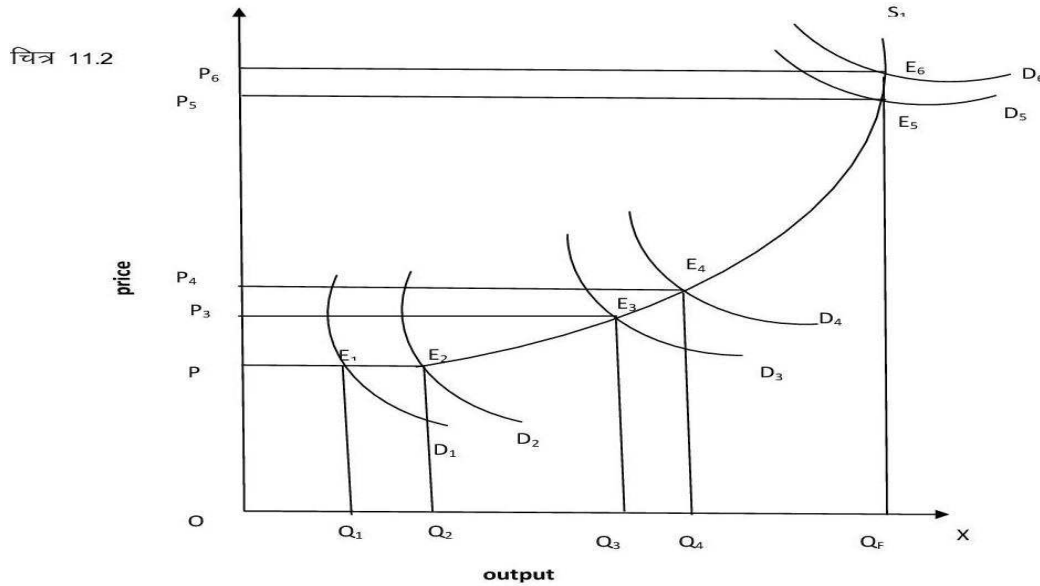
उत्पादन OQ , किया जाता है। परन्तु T बिन्दु के बाद उत्पादन वक्र अनुलम्ब हो जाता है, क्योंकि मुद्रा के परिमाण में होने वाली और वृद्धि, उत्पादन को पूर्ण रोजगार स्तर OQ , से आगे नहीं बढ़ा सकती।



चित्र 7

11.5.1 कीन्स का मॉडल

मुद्रा एवं कीमत के केन्जीय सिद्धान्त को एक मॉडल, समस्त पूर्ति एवं समस्त मांग वक्रों के रूप में चित्र 11.2 में दिखाया गया है। कीमत स्तर को Y अक्ष पर और उत्पादन को X अक्ष पर दर्शाया गया है।



कीन्स के अनुसार जब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है तो ब्याज की दर गिरने के परिणामस्वरूप निवेश पर समस्त मुद्रा मांग बढ़ जाती है। प्रारम्भ में इसके फलस्वरूप उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि होती है परन्तु कीमत स्तर अप्रभावित रहता है। जब समस्त मुद्रा की मांग D_1 से बढ़कर D_2 हो जाती है तो उत्पादन OQ_1 से बढ़कर OQ_2 हो जाता है परन्तु कीमत स्तर OP पर स्थिर रहता है। जब समस्त मांग D_2 से और बढ़कर D_3 हो जाता है तो उत्पादन OQ_2 से बढ़कर OQ_3 हो जाता है और कीमत स्तर भी बढ़कर OP_3 पर चला जाता है। कारण यह है कि

जब संसाधनों की अगतिशीलता के माध्यम से अड़चने उत्पन्न होती है तो लागते बढ़ जाती है। घटते प्रतिफल होने लगते हैं और कम कुशल श्रम एवं पूँजी लगाई जाती है। समस्त मुद्रा मांग में दी हुई वृद्धि के मुकाबले उत्पादन अपेक्षाकृत धीमी दर पर बढ़ता है और इससे कीमते बढ़ जाती है। जब पूर्ण रोजगार की स्थिति आने लगती है तो अड़चने बढ़ जाती है और फिर बढ़ती कीमतों के परिणामस्वरूप मांग, विशेष रूप से स्टॉकों के लिये मांग, बढ़ जाती है। इसलिये कीमतें बढ़ती हुयी दर से बढ़ती है। इसे चित्र में $E_3 - E_5$ क्षेत्र में दिखाया गया है। परन्तु अर्थव्यवस्था के उत्पादन के पूर्ण रोजगार स्तर पर पहुंच जाती है तो समस्त मुद्रा मांग में होने वाली और वृद्धि से, कीमत स्तर में समानुपाती वृद्धि होती है, परन्तु अब उत्पादन अपरिवर्तित रहता है। यह चित्र में D_5 से D_6 से बढ़कर OP_6 के द्वारा दिखाया गया है जबकि उत्पादन स्तर O , पर स्थिर रहता है।

11.6 सिद्धान्त के व्यावहारिक परिमाण

1. बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की स्थिति में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से कीमते बढ़ने का सामान्यतया कोई भय नहीं होगा। मौद्रिक नीति अपनायी जा सकती है जिससे ब्याज दर नीची रहे, निवेश अधिक हो और व्यय को प्रोत्साहन मिले।
2. पूर्ण रोजगार स्तर तक पहुंचने के बाद मुद्रा की मात्रा केवल कीमतों में वृद्धि करेगी, उत्पादन तथा रोजगार में नहीं। ऐसी स्थिति में मौद्रिक विस्तार बन्द कर देना चाहिये।
3. यह भी सम्भव है कि जब उत्पादन बढ़ रहा हो तो उत्पादन लागत बढ़ने से कीमत भी बढ़ जाय। यह तब सम्भव है जब कार्यकुशल उत्पत्ति के साधन प्राप्त करने में अब कठिनाई होगी और उनकी लागत बढ़ जायेगी। ऐसी स्थिति में कीमतों में भी वृद्धि होगी।
4. व्यावहारिक रूप में पूर्ण रोजगार के स्तर तक पहुंचने के लिये मुद्रा प्रसार करना लगभग अनिवार्य हो जाता है, परन्तु इससे आगे और अधिक मुद्रा प्रसार से बचने का प्रयास करना चाहिये।

कीन्स के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन कारण है और कीमतों में परिवर्तन परिणाम। कीन्स के अनुसार कीमते तथा उत्पादन बढ़ जाने से सादो के लिये अधिक मुद्रा की मांग की जाती है और इनकी पूर्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार मुद्रा में वृद्धि के कारण कीमते ऊँची नहीं होती वरन् ऊँची कीमतों के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ती है। यह क्रम परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या से बिल्कुल उल्टा है।

11.7 कीन्स के सिद्धान्त की श्रेष्ठता

1. मुद्रा और कीमतों में परोक्ष एवं असमानुपातिक सम्बन्ध-कीन्स ने परम्परागत सिद्धान्त की आलोचना करते हुए स्पष्ट किया कि मुद्रा एवं कीमतों के मध्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, अनिश्चित तथा जटिल है और इसे ब्याज की दर के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

2. मुद्रा सिद्धान्त का मूल्य सिद्धान्त के साथ एकीकरण-मूल्य सिद्धान्त के अर्तगत किसी वस्तु की कीमत उसकी मांग तथा पूर्ति पर निर्भर करती है। यहां सीमान्त आय, सीमान्त लागत, मांग एवं पूर्ति की मूल्य सापेक्षता महत्व रखती है। कीन्स के अनुसार कीमतों में वृद्धि का कारण लागतों में वृद्धि होना है। ऐसा इसलिए होता है कि जब अल्पकाल में उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति मूल्य निरपेक्ष अथवा बेलोच होता है।
3. मुद्रा सिद्धान्त को उत्पादन सिद्धान्त से जोड़ देना-वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा सिद्धान्त के साथ कीमतों को जोड़ने वाली कड़ी उत्पादन सिद्धान्त ही है। इसी के माध्यम से कीन्स ने दोनों सिद्धान्तों का एकीकरण किया है और उत्पादन सिद्धान्त व्याज की दर बहुत महत्वपूर्ण कार्य करती है। अतः परम्परागत मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा केन्जीस सिद्धान्त श्रेष्ठ है क्योंकि यह अर्थव्यवस्था के वास्तविक तथा मौद्रिक क्षेत्रों को ऐसे दो अलग कक्षों में बन्द नहीं करता जिनके बीच मूल्य के सिद्धान्त और मुद्रा एवं कीमतों के सिद्धान्त में कोई दरवाजा या खिड़कियां नहीं हैं।
4. कारणात्मक सम्बन्धों की उचित व्याख्या-जहाँ मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त व्याज दर, उत्पादन एवं रोजगार पर पड़ने वाले मुद्रा परिवर्तन का प्रभावों की अवहेलना करता है, वहीं कीन्स मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन से इन घटकों पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनके द्वारा कीमत स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव की उचित व्याख्या करता है।
5. अपूर्ण रोजगार पर लागू-कीन्स के अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति केवल अपवाद होती है इसलिए जब तक बेरोजगारी रहेगी तब तक जिस अनुपात में मुद्रा का परिमाण परिवर्तित होगा, उसी अनुपात में उत्पादन एवं रोजगार परिवर्तन होगा और कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होगा। जब पूर्ण रोजगार होता तब कीमतें मुद्रा की मात्रा के अनुपात में परिवर्तित होगी।
6. महत्वपूर्ण नीति निहितार्थ-जहाँ परम्परागत सिद्धान्त यह मानता है कि मुद्रा में होने वाली वृद्धि कीमतों में वृद्धि लाती है तो स्फीति आती है पर कीन्स के अनुसार जब तक बेरोजगारी होती है तब तक कीमतों में बहुत धीरे-2 वृद्धि होती है और इसलिये स्फीति का कोई अंतर नहीं होता यह तभी स्फीतिकारी होती है जब पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार कीन्स के दृष्टिकोण की खूबी इस बात पर बल देना है कि हो सकता है पूर्ण रोजगार तथा कीमत स्थिरता के उद्देश्यों में स्वाभाविक समाधान न किया जा सके।

11.8 कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना

मुद्रावादियों ने कीन्स के इस संशोधित मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में भी अनेक त्रुटियां निकालते हुये इसकी आलोचना की है।

1. **सीधा सम्बन्ध :-** कीन्स ने कीमत को स्थिर मान लिया जिससे मुद्रा का प्रभाव व्यापारिक वस्तुओं की मात्रा के रूप में प्रकट होता है न कि औसत कीमत में। इसलिये उसने अप्रत्यक्ष प्रक्रिया को अपनाया जबकि मौद्रिक परिवर्तनों के वास्तविक प्रभाव अप्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्ष होते हैं।
2. **मुद्रा के मात्रा में परिवर्तन:-** उत्पादन स्तर में परिवर्तन लाने की धारणा अनिश्चिततापूर्ण दिखती है जैसे कि मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर ब्याज दर में कमी होना। व्यवहारिक अनुभव में कीन्स के अनुभव सिद्ध नहीं हुये हैं।
3. **मुद्रा के लिये स्थिर मांग:-** कीन्स के अनुसार मुद्रा में परिवर्तन अधिकतर मुद्रा की मांग में परिवर्तनों ने अपने अनुभवसिद्ध अध्ययनों के आधार पर दर्शाया कि मुद्रा के लिये मांग अत्यधिक स्थिर है।
4. **मुद्रा की प्रकृति:-** कीन्स के अनुसार मुद्रा सिर्फ बाड़ों में ही विनिमय की जा सकती है। वास्तव में मुद्रा अनेक भिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों जैसे बांडा, स्क्रियोरिटयों, परिसम्पत्तियों, मानव सम्पत्ति आदि के साथ भी विनिमय की जा सकती है।
5. **मुद्रा का प्रभाव :-** फ्रीडमैन के अनुसार, मुद्रा में संकुचन से मांदी जल्दी आई। इसलिये कीन्स का यह तर्क गलत था कि मुद्रा का आय पर नगण्य प्रभाव होता है। वास्तव में राष्ट्रीय आय पर मुद्रा का प्रभाव अवश्य होता है।
6. कीन्स के सिद्धान्त विभिन्न कीमत प्रणालियों के अन्तर्गत कीमतों के व्यवहार की ओर ध्यान नहीं देता है।
7. इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि पूर्ण रोजगार की आदर्श स्थिति के प्राप्त होने से पूर्व कीमते क्यों बढ़ती है। डिलार्ड ने इस आधार पर कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना की है।

11.9 कीन्स के सिद्धान्त की जटिलताएं

निम्न जटिलताएं कीन्स के इस कथन को सीमित करती है कि बेरोजगारी की स्थिति में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर रोजगार में परिवर्तन होगा और पूर्ण रोजगार की स्थिति पहुंचने पर उसी अनुपात में कीमतों में परिवर्तन होगा।

1. जिस अनुपात में मुद्रा का परिमाण परिवर्तित होगा ठीक उसी अनुपात में प्रभावी मांग परिवर्तित होगी।
2. संसाधन समरूप होने के कारण जैसे-2 रोजगार बढ़ेता वैसे-2 घटते प्रतिफल होंगे, स्थिर नहीं।
3. क्योंकि संसाधन अन्तः परिवर्तनीय नहीं है, इसलिये कुछ वस्तुएं बेलोच पूर्ति की स्थिति में पहुंच जायेगी जबकि अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिये उपलब्ध संसाधन अभी भी बेरोजगार होंगे।
4. पूर्ण रोजगार की स्थिति आने से पूर्व मजदूरी बढ़ने लगेगी।
5. सीमान्त लागत में प्रवेश होने वाले साधनों का पारिश्रमिक उसी अनुपात में नहीं बनेगा।

11.10 सारांश

मुद्रा के महत्व से सम्बन्धित आधुनिक विचारधारा को प्रभावित करने में कीन्स का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कीन्स ने मुद्रा सिद्धान्त को मूल्य सिद्धान्त से एकीकृत करने का प्रयत्न किया और मुद्रा सिद्धान्त में ब्याज का सिद्धान्त भी मिला दिया। रोजगार के सिद्धान्त की व्याख्या में कीन्स ब्याज दर के साथ मुद्रा को महत्वपूर्ण स्थान देते

हैं। अपने प्रारम्भ के लेखों में कीन्स ने मुद्रा के अध्ययन को केवल कीमतों तक ही सीमित रखा। पर धीरे-धीरे कीन्स के विचारों में परिवर्तन दिखने लगा। उनकी प्रकाशित पुस्तक "General Theory" में मुद्रा का सम्बन्ध उत्पादन तथा रोजगार से स्थापित कर दिया गया। कीन्स के अनुसार, मुद्रा न तो महत्वहीन है और न ही एक आवरण है, बल्कि एक आवश्यक परिसम्पत्ति है जिसका मुख्य कार्य वर्तमान को भविष्य के साथ जोड़ने वाली एक कड़ी के समान है। कीन्स के अनुसार मुद्रा को M_1 एवं M_2 द्वारा व्यक्त किया है। M_2 का निर्धारण ब्याज दर के आधार पर होता है जोकि निवेश तथा रोजगार स्तर को निर्धारित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व है। निवेश रोजगार तथा आय में परिवर्तन होने पर कीमतों में परिवर्तन होना भी स्वाभाविक है।

कीन्स प्रतिष्ठित मुद्रा सिद्धान्तवादियों के इस विचार पर बिल्कुल भी सहमत नहीं थे कि मुद्रा के परिमाण तथा कीमतों में प्रत्यक्ष एवं समानुपाती सम्बन्ध है। उनका कहना है कि कीमतों पर मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन का प्रभाव अप्रत्यक्ष एवं असमानुपाती होता है। कीमतों को दो में विभाजित किया जा सकता है। 1. व्यक्तिगत अथवा सापेक्ष कीमते एवं 2. सामान्य कीमत स्तर।

कीन्स ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना करते हुये अपने सिद्धान्त को एक व्यापक रूप दिया। उनके सिद्धान्त का सबसे विलक्षण गुण यह है कि इसके द्वारा मुद्रा मूल्य के निर्धारण के सिद्धान्त को सामान्य मूल्य तथा उत्पादन के सिद्धान्त के साथ भलीभांति जोड़ा गया है। मुद्रा की मात्रा एवं कीमतों के मध्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, अधूरा, दूरस्थ और अस्थिर है। अतः कीन्स परिमाण सिद्धान्त का एक परिष्कृत अथवा संशोधित रूप प्रस्तुत करते हैं, कीन्स ने इसे कारणता का विपरीत सिद्धान्त कहा। कीन्स के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन कारण है और कीमतों में परिवर्तन परिणाम। इस प्रकार मुद्रा में वृद्धि के कारण कीमते ऊँची नहीं होती वरन् ऊँची कीमतों के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ती है। यह क्रम परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या से बिल्कुल उल्टा है। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि पूर्ण रोजगार की आदर्श स्थिति के प्राप्त होने से पूर्व कीमते क्यों बढ़ती है। डिलार्ड ने इस आधार पर कीन्स के सिद्धान्त की आलोचना की है।

11.11 शब्दावली

वास्तविक तत्व :- वास्तविक बचत एवं वास्तविक विनियोग।

मौद्रिक तत्व :- मुद्रा की पूर्ति एवं मुद्रा की मांग।

शुद्ध ब्याज :- उधार दी गयी राशि के बदले पुरस्कार।

कुल ब्याज :- वास्तविक जीवन में ऋणदाता द्वारा वसूली गयी राशि।

11.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर कीन्स के अनुसार सर्वप्रथम कौन से तत्व में परिवर्तन होगा ?

- | | |
|---------------------|------------------------|
| (a) कीमत स्तर | (b) ब्याज दर |
| (c) निवेश की मात्रा | (d) रोजगार तथा उत्पादन |

2. कीन्स का मुद्रा और कीमतों का सिद्धान्त परिमाण सिद्धान्त से श्रेष्ठ है, क्योंकि यह मानता है कि-

-
- (a) मुद्रा सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त से भिन्न है।
 (b) मुद्रा सिद्धान्त उत्पादन सिद्धान्त से भिन्न है।
 (c) सामान्य बेरोजगारी की स्थिति।
 (d) मुद्रा तथा कीमतों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध।
3. परम्परागत सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा एवं कीमत में कैसा सम्बन्ध था ?
 4. कीन्स ने किस तत्व के माध्यम से मुद्रा की मात्रा दुने कीमत के बीच परोक्ष सम्बन्ध बताया।
 उत्तर- 1. b 2. c 3. प्रत्यक्ष 4. ब्याज की दर।
-

11.13 संदर्भ सहित ग्रन्थ

-
- डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
 - डा० टी०टी० सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
 - डा० जी सी सिंघई- मौद्रिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
-

11.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

-
- Dwivedi, D.N.(1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
 - Ahuja ,H. L. ((1910) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
 - Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
 - Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.
-

11.15 निबन्धात्मक प्रश्न

-
1. मूल्य सिद्धान्त एवं मुद्रा के सिद्धान्त को कीन्स ने किस प्रकार एकीकृत किया।
 2. कीन्स के मुद्रा एवं कीमत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये और स्पष्ट कीजिय कि यह प्रतिस्थित परिमाण सिद्धान्त से किस प्रकार श्रेष्ठ है।
 3. कीन्स का संशोधित मुद्रा परिमाण सिद्धान्त क्या है।
-

इकाई-12 मुद्रा की मांग का केन्जोत्तर सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा**12.1 प्रस्तावना****12.2 उद्देश्य****12.3 मुद्रा की मांग का केन्ज के बाद का दृष्टिकोण****12.4 पेटिनकिन का वास्तविक शेष दृष्टिकोण****12.4.1 वास्तविक शेष का अर्थ****12.4.2 आलोचनात्मक समीक्षा****12.5 बोमॉल का भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग सम्बन्धी दृष्टिकोण****12.5.1 क्लासिकी एवं केन्जीम मतों की तुलना में बॉमोल के सिद्धान्त की श्रेष्ठता****12.6 टॉबिन का निवेश सूची चयन मॉडल****12.7 गुर्ले एवं शॉ का दृष्टिकोण****12.8 मिल्टन फ्रीडमैन की विचारधारा****12.8.1 फ्रीडमैन और केन्स के मांग फलन में अन्तर****12.9 मुद्रा की मांग का अनुभवसिद्ध प्रमाण****12.10 सारांश****12.11 शब्दावली****12.12 लघु उत्तरीय प्रश्न****12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****12.14 संदर्भ सहित ग्रन्थ****12.15 कुछ सहयोगी पुस्तकें****12.16 निबन्धात्मक प्रश्न**

12.1 प्रस्तावना

मुद्रा की मांग उसके मुख्यतः दो प्राथमिक कार्यों के लिये की जाती है। प्रथम यह कि मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है और दूसरा की मुद्रा मूल्य का संचय है। मुद्रा की मांग इन दोनों कार्यों की पूर्ति के लिये की जाती है।

मुद्रा की मांग में परिवर्तन के दो दृष्टिकोण हैं। प्रथम दृष्टिकोण को माप दृष्टिकोण की संज्ञा दी गयी है जिसका सम्बन्ध आय या सम्पत्ति स्तर का मुद्रा की मांग पर प्रभाव से है। मुद्रा की मांग का सम्बन्ध आय से प्रत्यक्ष रूप का है। दूसरा दृष्टिकोण स्थानापत्ति दृष्टिकोण है जो परिसम्पत्तियों की सापेक्ष आकर्षणशीलता से सम्बन्धित है जिनको मुद्रा से स्थानापन्न किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जब ब्याज दर गिरती है तो बांड जैसी परिसम्पत्तियां उतनी आकर्षक नहीं रहती जिसके फलस्वरूप लोग नकदी को अधिमान देते हैं और मुद्रा की मांग के वृद्धि हो जाती है।

मुद्रा की मांग के तीन मत हैं - क्लासिकी, केन्जीय और केन्जोपरान्त। प्रस्तुत इकाई मुद्रा की मांग का केन्जोपरान्त सिद्धान्त पर प्रकाश डालेगी।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात ज्ञात हो सकेगा कि -

1. मुद्रा की मांग को किस प्रकार व्यक्त किया जाता है।
2. केन्जोत्तर सिद्धान्त केन्जीय सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न है।
3. विभिन्न केन्जोत्तर सिद्धान्त कौन से हैं, यह क्या व्याख्या करते हैं।
4. विभिन्न केन्जोत्तर सिद्धान्त आपस में किस प्रकार से भिन्न हैं।

12.3 मुद्रा की मांग का केन्ज के बाद का दृष्टिकोण

केन्ज द्वारा प्रस्तुत मुद्रा की मांग की व्याख्या के पश्चात विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अनेक सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किये। जहाँ मुद्रा की मांग को केन्ज ने तरलता पसन्दी के विभिन्न उद्देश्यों तक सीमित किया था वहीं उसके बाद के अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के सम्पूर्ण आकार पर विचार किया। इसका नतीजा यह हुआ कि केन्स द्वारा तरलता पसन्दगी तथा सद्दा उद्देश्यों के महत्व की अवहेलना की जाने लगी।

जहाँ एक ओर मुद्रा की मांग के निर्धारण के लिये राष्ट्रीय आय को देखा जाता है वहीं इसकी अवसर लागत के रूप में ब्याज की दर को महत्वपूर्ण समझा जाता है।

केन्स के अनुसार मुद्रा की मांग केवल दो परिसम्पत्तियों के संदर्भ में की गयी - मुद्रा एवं बांड। बाण्डों से प्राप्त ब्याज दर के रूप में प्राप्त होने वाली वर्तमान अथवा सम्भावित आय, मुद्रा के नकद कोषों के आकार की निर्धारक मानी गयी है। वहीं दूसरी ओर केन्स के बाद के अर्थशास्त्री ने सिर्फ बांड नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों पर

विचार किया जिसमें अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रतिभूतियां, बांड तथा शेयर अथवा इक्विटी आदि सम्मिलित है। क्योंकि विभिन्न परिसम्पत्तियों से प्राप्त होने वाली आय भिन्न होती है इसलिये निर्णय इसके आधार पर किया जाता है कि किस परिसम्पत्ति के रूप में कितना धन रखा जायेगा।

परिसम्पत्तियों के प्रतिस्थापन की व्याख्या के लिये जेम्स टोबिन तथा डॉन पेटिनकिन आदि अर्थशास्त्री ने पत्राधान अधिशेष सिद्धान्त विकसित किया। यह सिद्धान्त मौद्रिक सिद्धान्त को पूँजी के साथ समन्वित करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि मुद्रा की मांग का आकार मुद्रा की प्रतिस्थापन परिसम्पत्तियों से प्राप्त होने वाली आय पर निर्भर करता है।

इस अध्याय में निम्न दृष्टिकोणों की व्याख्या की जायेगी।

1. पेटिनकिन का वास्तविक शेष दृष्टिकोण
2. बॉमोल तथा टोबिन के दृष्टिकोण
3. गुर्ले एवं शॉ का दृष्टिकोण
4. मिल्टन फ्रीटमैन के दृष्टिकोण
5. मुद्रा की मांग का अनुभवसिद्ध प्रमाण

12.4 पेटिनकिन का वास्तविक शेष दृष्टिकोण

डॉन पेटिनकिन ने 1965 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों की इस आधार पर आलोचना की कि उन्होंने वस्तु बाजार तथा मुद्रा बाजार का द्वि-विभाजन कर दिया है। पेटिनकिन ने मांग और पूर्ति के विश्लेषण में वास्तविक शेष की धारणा के प्रयोग के द्वारा वस्तु बाजार तथा मुद्रा बाजार की एकीकरण करने का प्रयास किया।

12.4.1 वास्तविक शेष का अर्थ:- लोगो के नकद शेषों की वास्तविक क्रय शक्ति जो कि डध्च् के रूप में व्यक्त की जाती है जहाँ P कीमत स्तर है तथा M बाहरी मुद्रा अर्थात् वह मुद्रा जो सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की जाती है।

पेटिनकिन ने केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के समरूपता सिद्धान्त की भी आलोचना की। समरूपता सिद्धान्त कहता है कि वस्तुओं की मांग और पूर्ति केवल सापेक्ष कीमतों से प्रभावित होती है। इसका तात्पर्य है कि यदि मुद्रा की कीमतें दुगुनी कर दी जाय तो वस्तुओं की मांग और पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। गणितीय रूप से वस्तुओं के मांग तथा पूर्ति फलन केवल कीमतों में शून्य कोटि के समरूप होते हैं। सारांश रूप में यह कह सकते हैं कि समरूपता सिद्धान्त के अनुसार कीमत स्तर न तो वस्तु बाजार को प्रभावित करता है और न ही मुद्रा बाजार को। अतः यह सिद्धान्त मुद्रा तथा कीमतों का कोई निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करने में असमर्थ है।

पेटिनकिन के अनुसार द्वि-विभाजन का अर्थ है कि सापेक्ष कीमत स्तर को वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति निर्धारित करती है और निरपेक्ष कीमत स्तर को मुद्रा की मांग तथा पूर्ति निर्धारित करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि

अर्थव्यवस्था के मौद्रिक क्षेत्र पर कीमत स्तर का बिल्कुल कोई प्रभाव नहीं पड़ता और आगे मौद्रिक कीमतों के स्तर का अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पेटिनकिन के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने पर वास्तविक शेष प्रभावित होते हैं। और उनके द्वारा सापेक्ष कीमतें प्रभावित होती हैं। सापेक्ष कीमतों का प्रभाव निरपेक्ष कीमतों पर पड़ता है। जब कीमत स्तर बदलता है, तो वह लोगों के नकदी धारणों की क्रय शक्ति को प्रभावित करता है जो कि आगे वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति को प्रभावित करती है। यह वास्तविक शेष प्रभाव है। यदि मुद्रा पूर्ति में वृद्धि के प्रभाव से कीमतें बढ़ती हैं तो इससे लोगों के वास्तविक शेष में कमी होगी। इससे वस्तु की मांग कम हो जायेगी। और फलस्वरूप कीमत स्तर गिर जायेगी।

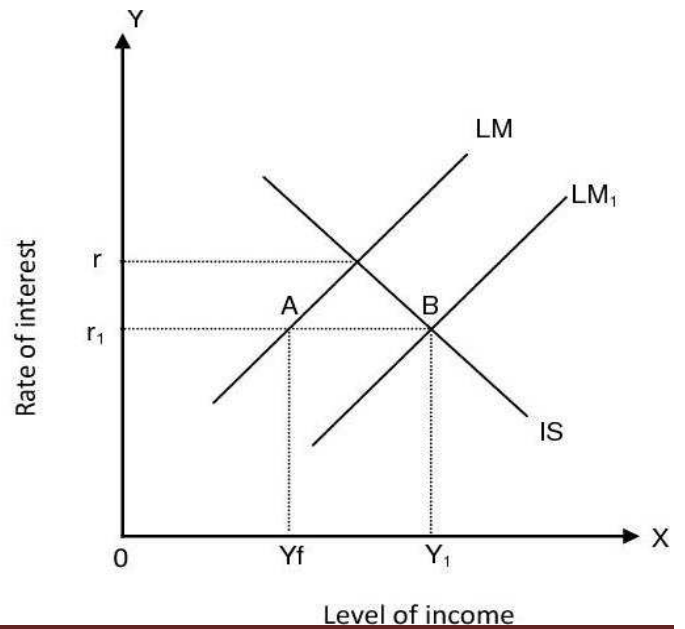
पेटिनकिन के अनुसार "यही महत्वपूर्ण बात है, जो निरपेक्ष कीमत स्तर का अपने संतुलन मूल्य की ओर गत्यात्मक समूहन वास्तविक शेष प्रभाव के माध्यम से वस्तु बाजारों की ओर अन्ततः, सापेक्ष कीमतों को प्रभावित करेगा।"

इस प्रकार निरपेक्ष कीमतें ने केवल मौद्रिक बाजार में बल्कि वास्तविक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। पेटिनकिन ने वास्तविक शेष प्रभाव को सामान्य संतुलन विश्लेषण में शामिल कर देता है।

पेटिनकिन के मॉडल में चार सामूहिक बाजार शामिल हैं - श्रम बाजार, वस्तु बाजार, मुद्रा बाजार, तथा बाण्ड बाजार। उसने परिमाण सिद्धान्त के निष्कर्षों को भी सही ठहराया है। उसके कथानुसार, वास्तविक शेष का मतलब है कि लोगों में मुद्रा के सम्बन्ध में भ्रान्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में वे अपने पास मुद्रा यह सोचकर रखते हैं कि उससे क्या कुछ खरीदा जा सकता है। यदि मुद्रा पूर्ति दुगुनी हो जाय तो कीमत स्तर भी दुगुना हो जायेगा (मुद्रा परिमाण सिद्धान्त) परंतु सापेक्ष कीमतें तथा वास्तविक शेष स्थिर रहेंगे और अर्थव्यवस्था का संतुलन स्तर नहीं बदलेगा।

IS एवं LM के प्रयोग से पेटिनकिन के विश्लेषण को आरेखिय रूप द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

OY_f स्तर पर अर्थव्यवस्था संतुलन में है जब IS तथा LM एक दूसरे को बिंदु A पर काटते हैं जहाँ ब्याज दर r है। OY_f पूर्ण रोजगार स्तर को दर्शाता है। मान लेते हैं कि इसी व्त ब्याज दर की पर मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। LM वक्र द्वारा दिखाई गयी बढ़ी हुई मुद्रा पूर्ति से मांग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप कीमत स्तर बढ़ जाती है।



इस बड़ी हुई मुद्रा पूर्ति से बांडो के लिये मांग बढ़ जाती है। जिससे ब्याज की दर गिरकर वत रह जाती हैं। ब्याज की दर गिरने से निवेश तथा आय को प्रोत्साहन मिलता है जो वस्तु बाजार में कीमत स्तर को और बढ़ा देते हैं। नये संतुलन बिंदु B पर आय के OY_1 हो जाने पर स्पष्टता कीमत स्तर बढ़ जाता है।

OY_f स्तर पर पूर्ण रोजगार संतुलन पुनः स्थापित करने के लिये पेटिनकिन का वास्वतिक शेष प्रभाव कार्यशील हो जाता है। जब कीमत स्तर बढ़ता है तो लोगों का वास्वतिक शेष कम हो जाता है। और पहले की अपेक्षा कम खर्च करते हैं। इससे वस्तुओ की मांग गिर जाती है और परिणामतः कीमत स्तर भी गिर जाती हैं। वास्वतिक शेष ज्यों का त्यों बनाये रखने के लिये लोग मुद्रा की मांग बढ़ा देते हैं। और इसके परिणाम स्वरूप ब्याज की दर बढ़ जाती है। वक्र ऊपर सरक कर हो जाता है। और ब्याज की दर हो जाती है। इस प्रकार पर पुनः संतुलन स्थापित हो जाता है।

12.4.2 आलोचनात्मक समीक्षा

मेंटजलर के विचार में पेटिनकिन की व्याख्या केवल बाहरी मुद्रा की मान्यता के अन्तर्गत लागू हो सकती है। बैंकों द्वारा साख निर्माण ब्याज दरों को काफी प्रभावित करती है, उस पर विचार नहीं किया गया।

आर्चीबाल्ड तथा लिप्सी के विचार में वास्वतिक शेष विश्लेषण अल्पकालीन स्थिति की व्याख्या कर सकता है, परन्तु दीर्घकालीन संतुलन की व्याख्या करने में अनुपयुक्त है।

क्लिफ लायड ने बताया कि वास्वतिक शेष प्रभाव के बिना भी कीमत स्तर स्थिर रह सकता है, परन्तु साथ ही मुद्रा भ्रान्ति विद्यमान रहेगी।

शॉ ने यह कहा है कि पेटिनकीन मौद्रिक धन में वृद्धि का विश्लेषण करने में असमर्थ है।

जॉन्सन ने कहा कि केवल कीमत स्तर की स्थिरता सुनिश्चित करने के लिये ही वास्वतिक शेष की जरूरत है अर्थव्यवस्था के वास्वतिक संतुलन को निर्धारित करने के लिये नहीं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पेटिनकिन की व्याख्या कीमतों में स्थिरता की व्याख्या कर करती है परन्तु मुद्रा की दीर्घकालीन तटस्थता की नहीं। इन आलोचनाओं के बावजूद "वास्वतिक शेष प्रभाव के समावेश से क्लासिकी द्वि-विभाजन ठिकाने लग गया अर्थात् इससे यह असम्भव हो गया है कि मुद्रा को शामिल किये बिना सापेक्ष कीमतों की बात की जाय, पर यह साथ ही इस क्लासिकी प्रस्ताव को भी सुरक्षित रखता है कि मुद्रा की मात्रा से अर्थव्यवस्था के वास्वतिक संतुलन पर प्रभाव नहीं पड़ेगा, उससे केवल कीमतों का स्तर ही प्रभावित रहेगा।"

12.5 बोमॉल का भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग सम्बन्धी दृष्टिकोण

केन्ज की आलोचना करते हुये बोमॉल ने कहा कि लेनदेन मांग तथा आय के बीच में संबंध न तो रेखीय है और न ही समानुपातिक बल्कि होता यह है कि जब आय में परिवर्तन होते हैं तो मुद्रा की लेनेदेन मांग में आनुपातिक से कम परिवर्तन होते हैं। आगे बोमॉल ने यह भी कहा कि केन्ज की धारणा के विपरित मुद्रा की लेन-देन मांग ब्याज बेलोच न होकर ब्याज लोचात्मकता है।

बोमॉल ने भुगतानों के लिये मुद्रा की मांगे की मालसूची नियन्त्रण व्याख्या प्रस्तुत की है जिस प्रकार व्यापारी अपने पास वस्तुओं का भण्डार रखते हैं उसी प्रकार व्यक्तियों द्वारा अपने पास मुद्रा का भण्डार रखा जाता है ताकि भुगतानों में सुविधा है।

बोमॉल के अनुसार ब्याज आय का परित्याग भुगतानों के लिये नकद मुद्रा रखने की अवसर लागत है। अतः भुगतानों के लिये मुद्रा की माँग ब्याज दरों के प्रभाव से स्वतन्त्र नहीं हाती है।

बोमॉल के विश्लेषण में किराई फर्म या व्यक्ति का लेनदेन के लिये मुद्रा का इष्टतम स्टॉक रखना ही आधार है। वह लिखता है “फर्म के नकदी शेष का मतलब मुद्रा का वह स्टॉक माना जा सकता है जिसे उसका रखने वाला श्रम कच्चे माल आदि के क्रय के बदले देने को तैयार है।” विनिमय माध्यम के रूप में मुद्रा की मांग आय की प्राप्ति तथा भुगतानों के लिये किये गये व्यय के बीच की अवधि के लिये की जाती है। मांग का आकार इस बात पर निर्भर करता है कि व्यय का आकार कितना है और यह भविष्य में किसी प्रकार किया जायेगा। यह भी महत्वपूर्ण है कि वित्ति अस्तित्वों को नगद मुद्रा में बदलने के लागत किनती होगी।

मुद्रा से अभिप्राय करेन्सी तथा मांग जमा राशियों से है जो कि जोखिम रहित तथा सुरक्षित है परन्तु इन पर ब्याज नहीं मिलती, दूसरी ओर बाण्डो पर ब्याज मिलती है, परन्तु ये जोखिमपूर्ण होते हैं क्योंकि इनमें निवेश करने पर पूँजी हास होता है। बोमॉल के अनुसार बैंको के जमाखाते जोखिम से पूर्णतया मुक्त होते हैं साथ कुछ ब्याज भी मिलता है। इन पर प्राप्त होने वाली ब्याज दर में वृद्धि होने पर लोग इन खातों में अधिक मुद्रा रखने लगेंगे। इसके विपरीत परिस्थितियों से अधिकतम लाभ कमाने के लिये फर्म हमेशा यह प्रयत्न करेगी कि लेन देने के लिये न्यूनतम नकदी शेष रखे जायें। बाण्डो पर बयाज की दर जितनी ही अधिक होगी, फर्म उतने ही कम लेन देने शेषों को रखेगी।

एक उदाहरण के माध्यम से बोमॉल ने अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसने एक व्यक्ति की भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग की व्याख्या की है जिसे एक निश्चित समयावधि मान लीजिये एक महीने में एक निश्चित आय प्राप्त होती है। जिसे वह एक स्थिर दर प्रतिदिन व्यय करता है। मान लीजिये कि इस व्यक्ति को प्रति महीना 15,000 रुपये पहली तारीख को वेतन के रूप में बैंक द्वारा प्राप्त होता है। वह इसके बदले नकदी लेकर प्रतिदिन व्यय करता रहता है और महीने के अन्त में उसके पास कुछ नहीं बचता। इस प्रकार कह सकते हैं कि भुगतानों के लिये औसत मुद्रा शेष $15,000/2 = 7500$ ₹ होंगे। तात्पर्य यह है कि महीने के पहले 15 दिन 7500 ₹ से अधिक तथा महीने के अंतिम 15 दिन 7500 ₹ से कम मुद्रा शेष रहेगा।

अब यदि वह बैंक से पूर्ण राशि निकालने की बजाय मात्र 7500 ₹ ही निकाले और शेष 7500 बचत खाते में रहने दे तो स्थिति ज्यादा, अनुकूल होगी क्योंकि तब बचे हुये जमाराशि पर उसे 15 दिन का ब्याज प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में औसत मुद्रा शेष $7500/2 = 3750$ ₹ होगा इस प्रकार भिन्न मुद्रा राशि निकालने पर औसत शेष भिन्न होगा।

देखना यह है कि उसके लिये सबसे अनुकूल निर्णय क्या है। पूरी रकम को एक साथ न निकालने पर ब्याज तो मिलता है पर बार-बार निकालने पर ब्याज तो मिलता है पर बार-बार निकालने पर लागत भी लगता है। बॉण्डों को बेचने पर दलालों को कमीशन देनी पड़ती है। बचत खाते में रूपये निकालने पर भी बैंक में परिवहन लागत, समय, असुविधा होती है। इस प्रकार यह लागत स्पष्ट एवं अस्पष्ट दोनों प्रकार की होती है। अनुकूल मुद्रा शेष के निर्धारण के लिये इसकी लागत कम होना आवश्यक है।

प्राप्त होने वाली आय को यदि y के रूप में व्यक्त किया जाये और प्रत्येक बार बैंक से निकाली गयी राशि को c के द्वारा जितनी बार व्यक्ति बैंक जाता है को T के द्वारा दलाल की दी कमीशन b को के रूप में व्यक्त किया जाये तो दियेगये उदाहरण में T का आकार पहले उदाहरण में 1 तथा दूसरे उदाहरण में 2 है। मुद्रा शेष रखने पर ब्याज के रूप में आय के परित्याग की राशि (r) का भुगतान ब्याज दर के 5% मान ली जाये तथा निकाली गयी मुद्रा में से आधार

मुद्रा शेष ($C/2$) होने पर पहली स्थिति में ब्याज की हानि $\frac{r.c}{2} = \frac{5}{100} \times \frac{15000}{2} = \text{Rs.} 375$ होगी।

दूसरी स्थिति में $\frac{r.c}{2} = \frac{5}{100} \times \frac{7500}{2} = \text{Rs } 187.5$ होगी आदि।

दलाली तथा ब्याज आय का परित्याग के रूप में नकद शेष के भण्डारण की लागत $bT + \frac{r.c}{2}$ है।

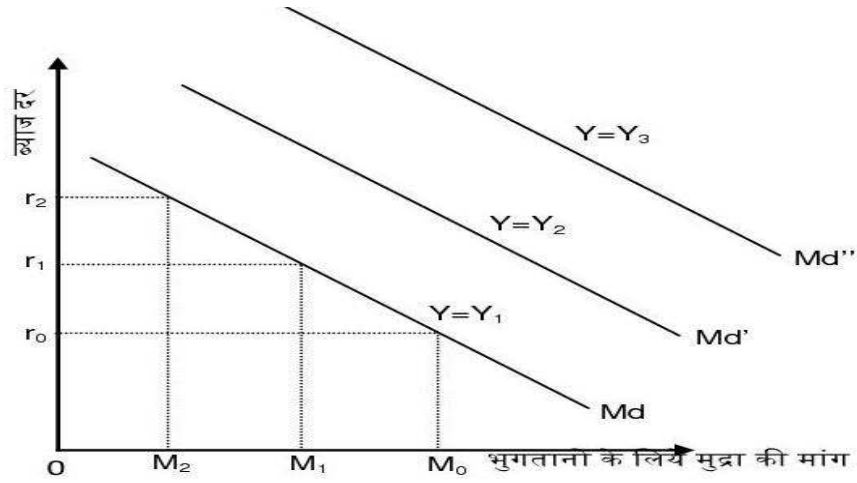
क्योंकि $T = \frac{Y}{c}$ है, इसलिये कुल लागत $\frac{y.b}{c} + \frac{r.c}{2}$.

बोमॉल के अनुसार, मुद्रा निकालने की औसत रकम की न्यूनतम लागत दलाल की दी गई कमीशन के दो गुना के वर्गमूल को व्यक्ति की आय से गुणा करके व्याज दर से भाग देने पर जात की जा सकती है। इस प्रकार

$$C = \sqrt{\frac{2by}{r}}$$

इसे **वर्गमूल नियम** कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि दलाली बढ़ जायेगी, तो निकासी की संख्या कम हो जयेगी। अन्य शब्दों में, फर्म बांडों में कम निवेश करेगी क्योंकि इष्टतम नकदी शेष बढ़ जायेगा। इसके विपरित यदि बांडों पर ब्याज की दर बढ़ जायेगी तो फर्म क लिय बांडों में निवेश करना अधिक लाभदायक होगा।

इस प्रकार जहाँ केन्स ने भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग को आय स्तर पर निर्भर माना था और इसे ब्याज की दर से दूर रखा था वहीं बोमॉल एवं टॉबिन ने भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग को ब्याज की दर से प्रभावित माना है। जब ब्याज की दर ऊँची होती है तो भुगतानों के लिये नगद मुद्रा की मांग कम होती है इसलिये मुद्रा को मांग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है। प्रस्तुत रेखाचित्र में इसे दर्शाया गया है-



वर्गमूल नियम
से यह स्पष्ट

होता है कि भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग एक आय का प्रत्यक्ष समबन्ध है। आय के स्तर ऊँचा होने पर मुद्रा की मांग भी अधिक होगी। चित्र में भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग को ढक की रेखायें आर की तीन विभिन्न स्तरों पर दर्शायी गयी है।

बॉमोल के अनुसार –

$$M_d = f(r, y)$$

जहाँ M_d = भुगतानों के लिये मुद्रा की मांग

r = ब्याज की दर

y = आय स्तर

निष्कर्ष में यह कह सकते हैं कि आर्थिक स्थिरता के लिये मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

12.5.1 क्लासिकी एवं केन्जीम मतों की तुलना में बॉमोल के सिद्धान्त की श्रेष्ठता

- 1) क्लासिकी सिद्धान्त के अनुसार, लेनदेन मांग और आय स्तर में रेखीय एवं समानुपातिक सम्बन्ध पात्र पाया जाता है। जबकि बॉमोल ने स्पष्ट किया कि यह सही नहीं है। उसके अनुसार मुद्रा की मांग बढ़ती तो है परन्तु पैमाने की बचतों के कारण यह मांग आय की अपेक्षा कम अनुपात में बढ़ती है।

- 2) बॉमोल का सिद्धान्त इसलिये भी श्रेष्ठ है क्योंकि जहाँ कन्स ने मुद्रा की लेनदेन मांग ब्याज बेलोच होती है वही बॉमोल ने इसे ब्याज लोचात्मक मात्रा है।
- 3) बामोल का सिद्धान्त वास्तविक शेषों के लिये लेनदेन मांग का विश्लेषण करता है और इसके फलस्वरूप मुद्रा भ्रानित के अभाव पर बल देता है।
- 4) बॉमोल का दृष्टिकोण परिसक्तियों की ब्याज एवं गैर ब्याज लागतों पर ध्यान न देकर मुद्रा की लेनदेन मांग को पूँजी सिद्धान्त में एकत्रित कर देता है।
- 5) बॉमोल ने मौदिक नीति के महत्व को माना है।

12.6 टॉबिन का निवेश सूची चयन मॉडल: जोखिम निवारण तरलता अधिमान सिद्धान्त

अमेरिका अर्थशास्त्री जेम्स टॉबिन ने अपने **Liquidity preference as Behaviour towards Risk** शीर्षक प्रसिद्ध लेख में निवेश सूची चयन मॉडल प्रस्तुत किया जोकि जोखिम निवारण तरलता अधिमान सिद्धान्त के रूप में है।

टोबिन ने अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुये केन्स के सिद्धान्त के दोषो को दूर किया। पहला यह कि भावी ब्याज दरों की प्रत्याशाओं की लोच पर निर्भर नहीं करता बल्कि यह मानकर चलता है कि ब्याज धारक परिसम्पत्तियां रखने में पूँजी लाभ अथवा धन का प्रत्याशित मूल्य सदैव शून्य होता है। दूसरा यह कि किसी व्यक्ति के निवेश सूची में मुद्रा तथा बांड दोनो ही रहते है न कि एक समय सिर्फ एक जैसा कि केन्स ने कहा। वित्तीय परिसम्पत्ति का वह अनुपात जो व्यक्ति मुद्रा के रूप में रखता है उस पर ब्याज नहीं मिलती, जबकि बाण्ड रखने से ब्याज प्राप्त होती है। टोबिन के अनुसार लोग अपनी निवेश सूची में इस प्रकार की विविधता लाते है कि सुरक्षित तथा जोखिमपूर्ण अस्तियों का एक संतुलन सम्मिश्रण प्राप्त हो सके।

टोबिन के विचार से लोगो का व्यवहार जोखिम से बचना है। ब्याज की वृद्धि ही उन्हे अधिक जोखिम के लिये प्रेरणा देती है। टोबिन के अनुसार कोई भी व्यक्ति यदि अपने पत्राधार में बाण्डों जैसी जोखिमपूर्ण अस्तियाँ अधिक अनुपात में रखता है तो उसे अधिक औसत आय तो प्राप्त होती है पर उसका जोखिम भी बढ़ जाता है। पर यदि वह अपना धन मुद्रा रूप में रखता है तो उसकी औसत आय शून्य हो जाती है परंतु उसे कोई जोखिम भी नहीं उठानी पड़ती है। अतः लोग सामान्यतः मुद्रा बाण्ड तथा शेयरो का एक मिश्रित पत्राधान रखते है जिससे जोखिम तथा ब्याज की प्राप्ति को संतुलित किया जा सके।

कुल प्रतिलाभ का औसत दो बातों पर निर्भर करता है – (I) ब्याज दर, (II) बाण्डो में निवेश में पूजांगत लाभ तथा हानि का जोखिम।

टोबिन के अनुसार निवेशक तीन प्रकार के होते है -

- ऐसे निवेशक जिन्हे जुआरियों की भांति जोखिम उठाना अच्छा लगता है।

- गोताखोर प्रवृत्ति के निवेशक जो सब कुछ दांव पर लगा देते हैं।
- जोखिम के निवारक अथवा विविधक जो कि अधिक संख्या में होते हैं। ये अपनी निवेश सूची को विविध बनायेंगे और मुद्रा तथा बॉण्ड दोनो रखेंगे।

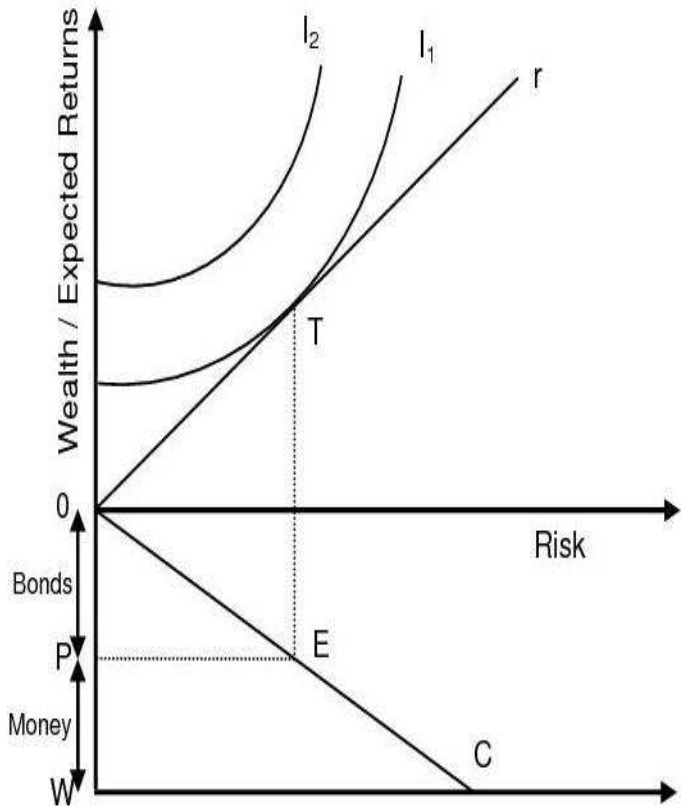
जोखिम निवारक के जोखिम तथा प्रत्याशित प्रतिफल में अधिमान का पता लगाने के लिये टोबिन धनात्मक ढलान वाले उदासीनता वक्रों का प्रयोग करता है। ये उदासीनता वक्र जोखिम निवारक द्वारा अधिक जोखिम उठाने के लिये और अधिक प्रत्याशित प्रतिफलो की मांग को प्रकट करता है। प्रस्तुत चित्र में इसे दर्शाया गया है जहाँ क्षैतिज अक्ष जोखिम को तथा अनुलम्ब अक्ष प्रतिफलों को प्रकट करता है। Or रेखा जोखिम निवारक की बजट रेखा है। यह जोखिम और प्रत्याशित प्रतिफलों के उन संयोगो को व्यक्त करती है जिनके आधार पर वह अपनी निवेशसूची को मुद्रा और बाण्डो में लगाता है। I_1, I_2 उदासीनता वक्र है। यह वक्र व्यक्त करता है कि निवेशक प्रत्याशित फल और जोखिम के उन सभी संयोगो के प्रति उदासीन है जो I पर स्थित है। जिस बिंदु पर बजट रेखा उदासीनता वक्र को स्पर्श करती है वह प्रत्याशित प्रतिफल और जोखिम के बीच संतुलन स्थिति को दर्शाता है। यह बिंदु T द्वारा दिखाया गया है।

टॉबिन का निवेश सूची चयन मॉडल

OC रेखा जोखिम को बाँडों में रखी कुल निवेश सूची के भाग के अनुपात के रूप में व्यक्त करती है। बिंदु T से एक सीधी रेखा नीचे खींची गयी जो OC को E पर स्पर्श करती है। यह मुद्रा और बाँडों का निवेश सूची मिश्रित निर्धारित करता है। जिसमें OP बांड और PW मुद्रा है।

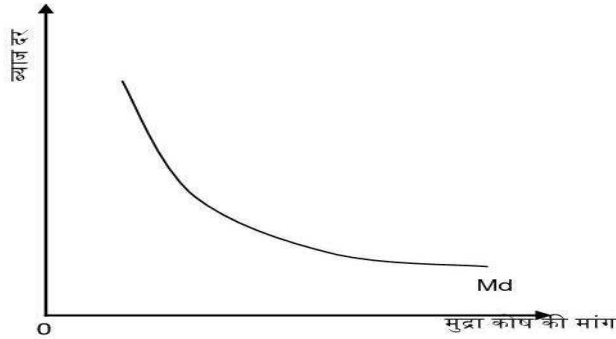
क्योंकि निवेशक अपने धन को बांड और मुद्रा में विविध करता है, अतः उसे विविधक कहते हैं। ऊँची ब्याज की दर ही जोखिम निवारक को बांड रखने की प्रेरणा देता है। ब्याज की दर जितनी कम होगी, मुद्रा की मांग उतनी ही अधिक और बांड रखने की इच्छा उतनी ही कम।

टोबिन की व्याख्या केन्ज के तरलता पसन्दगी पर एक सुधार है। जहाँ केन्स का मत था कि लोग अपना सम्पूर्ण धन या तो मुद्रा में रखते हैं अथवा बांडो में



वही टोबिन ने विविधता को महत्ता दी थी। इससे एक सतत् तरलता पसन्दगी वक्र का निर्माण किया जा सकता है।

केन्ज के सिद्धांत की अपेक्षा तार्किक रूप से टोबिन अपने सिद्धांत को तरलता अधिमान का अधिक संतोषजनक सुधार मानता है।



जहाँ केन्स मानते थे कि ब्याज दरों में परिवर्तन मात्र एक ही दिशा में होता है। वही टोबिन का मानना है कि लोग यह जानते ही नहीं कि ब्याज दरों पर विचार किया है। टोबिन ने बहुत नीची दरों पर मुद्रा की मांग की पूर्ण लोचदार तरलता पाश की चर्चा नहीं करता, और इस दृष्टि से वह केन्ज की तुलना में अधिक यथार्थवादी है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि निवेश सूची सिद्धान्त का वास्तविक महत्व इस बात में वही है कि यह प्रत्यक्ष रूप से समस्त अर्थव्यवस्था के बारे में बताता है कि यह अनिश्चिता की स्थिति रहते मुद्रा की मांग से सम्बन्धित समस्या के विषय में रोचक दृष्टिकोण प्रस्तुत के विकास की पर्याप्त गुंजाइश है।

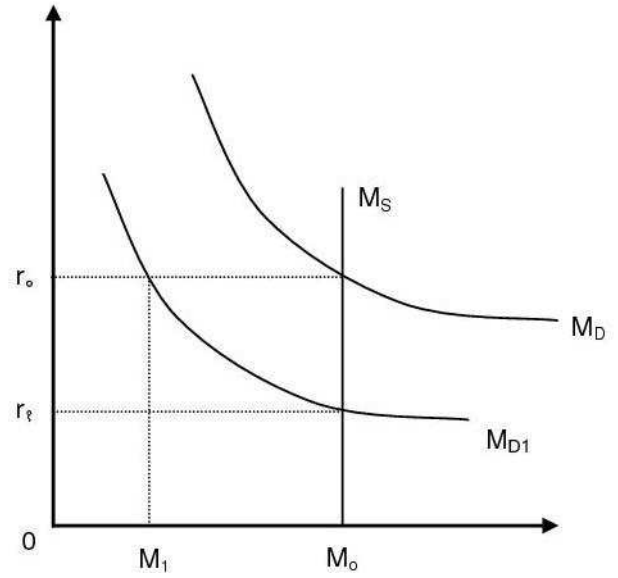
12.7 गुर्ले एवं शॉ का दृष्टिकोण

गुर्ले एवं शॉ ने मुद्रा की मांग पर गैर बैंक वित्तीय संस्थाओं के विस्तार से होने वाले प्रभाव का एक सफल यत्न किया है। ये संस्थाएं अंतिम श्रमदाताओं के पत्राधान के लिये प्रारंभिक प्रतिभूतियों को परोक्ष प्रतिभूतियों में बदल देती हैं। जिससे अंतिम श्रमदाताओं को उपयुक्त प्रकार का मुद्रा प्रतिस्थापन प्राप्त होता है। उनकी क्रियाओं से मुद्रा की मात्रा में कमी होती है जिसका तरलता अधिमान फलन पर प्रभाव पड़ता है।

M_D = वास्तविक मुद्रा शेष वक्र

M_S = वास्तविक मुद्रा पूर्ति वक्र

r_0 ब्याज की दर M_D एवं M_S के संतुलन बिंदु द्वारा निर्धारित होती है। गैर बैंक वित्तीय संस्थाएँ न होने पर M_D तरलता अधिमान वक्र है। ये संस्थाएँ सन्निकट मुद्रा उपलब्ध कराती है। ऐसा होने के कारण वास्तविक मुद्रा शेषों की मांग M_D से घटकर M_{D1} हो जाती है। यहाँ r_0 संतुलन ब्याज दर है। मुद्रा का पूर्ति के कोई परिवर्तन नहीं होता। यह अतिरिक्त पूर्ति ब्याज की दर को r_1 के नीचे स्तर पर ले जाती है।



गैर बैंक वित्तीय संस्थाएँ तरलता अधिमान सिद्धान्त को दो प्रकार से प्रभावित करती है

- प्रथम, केन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त में ब्याज दर एक न्यूनतम सीमा से नीचे नहीं जाती है। यह तरलता जाल की स्थिति होती है क्योंकि यहाँ पर तरलता अधिमान पूर्ण्यता लोचदार होता है। परंतु खास बात यह है कि क्योंकि वित्तीय संस्थाएँ अधिक कोष प्राप्त करने में सफल होती है, इसलिये ब्याज दर का तरलता जाल के स्तर से नीचे जाना सम्भव हो जाता है।

द्वितीय, इस व्याख्या से ब्याज दर तथा मुद्रा की चलन गति के बीच सम्बन्ध कमजोर हुआ है। केन्स की व्याख्या में ब्याज दर में वृद्धि होने पर मुद्रा रखने की अवसर लागत बढ़ती है। सट्टे के उद्देश्य के कारण और भुगतानों को नकदी का कम प्रयोग होने से मुद्रा की मांग कम हो जाती है। इससे मुद्रा की चलन गति में वृद्धि होती है। वित्तीय संस्थाओं की क्रियाओं के कारण कुल परिसम्पत्तियों के सम्बन्ध में मुद्रा के अनुसार में कमी करके ब्याज दर तथा मुद्रा की चलन गति के बीच सह-सम्बन्ध को दुर्बल बना देती है। जब नकदी के प्रयोग में कमी नहीं होती तो मुद्रा की चलन गति नहीं बढ़ेगी।

इससे यह सम्भव होता है कि गैर बैंक वित्तीय संस्थाएँ प्रतिबन्धात्मक मुद्रा नीति के प्रभाव को सीमित कर देती है। अतः मुद्रा अधिकारियों का इन संस्थाओं पर उचित नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

12.8 मिल्टन फ्रीडमैन की विचारधारा

मुद्रा के परिणाम सिद्धान्त के शिकागो रूपान्तर का सर्वप्रथम व्याख्याता प्रो० फ्रीडमैन क्रान्ति लेकर आये। 1956 में प्रकाशित अपने निबन्ध, The Quantity theory of Money - A Reinstatement में मुद्रा के आधुनिक परिमाण सिद्धान्त का विशेष मॉडल प्रस्तुत किया।

फ्रीडमैन ने मुद्रा का धन का संचय करने के लिये एक परिसम्पत्ति माना है। उनके अनुसार मुद्रा की मांग का सिद्धान्त पूँजी सिद्धान्त का एक भाग है। मुद्रा की मांग करते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रखा जाना।

- (1) विभिन्न परिसम्पत्तियों में संचय किये जाने वाले धन का आकार।
- (2) विभिन्न परिसम्पत्तियों की सापेक्ष कीमत तथा उनसे प्राप्त आय का आकार।
- (3) धन का संचय करने वालों की रूचि एवं पसन्दगी।

अतः वे वास्तविक नकदी शेषों की राशि M/P को एक वस्तु मानते हैं जिसकी मांग की जाती है क्योंकि जो उसे रखता है वह उस व्यक्ति को सेवाएँ प्रदान करता है।

अतः मुद्रा एक परिसम्पत्ति अथवा पूँजी वस्तु है। और मुद्रा का सिद्धान्त पूँजी या संपत्ति का अंग है।

आय से फ्रीडमैन का तात्पर्य है: - समस्त मुद्रारूप स्थायी आय अर्थात् जीवन काल की औसत प्रत्याशित आय। सम्पत्ति पाँच विभिन्न रूपों में रखी जा सकती है।

- | | |
|---------------------|------------------------------|
| 1. मुद्रा (M) | 2. बांड (B) |
| 3. इक्विटी (E) | 4. भौतिक गैर मानव वस्तुएँ और |
| 5. मानवीय पूँजी (H) | |

सम्पत्ति धारक अपनी सम्पत्ति को विविध रूपों में बाँट देते हैं जिससे कि वे अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। मानवीय पूँजी को छोड़कर अन्य सभी धारणों से कमाई जाने वाली ब्याज की दर एवं कीमतों में परिवर्तन द्वारा मापा जा सकता है। ब्याज की दर घटने पर परिसम्मिलित की कीमत बढ़ती है तो लोग अधिक सम्पत्ति रखते हैं। और विलोमशा भी। किंतु सामान्य स्थिति में मुद्रा की मांग की ब्याज नगण्य होती है।

जब कीमत स्तर गिरता है जो मुद्रा का प्रतिफल धनात्मक होता है क्योंकि मुद्रा का मूल्य घट जाता है। इस प्रकार फ्रीडमैन के मुद्रा के मांग फलन में कीमत स्तर एक महत्वपूर्ण चर है।

बांड, इक्विटी, एवं अन्य भौतिक परिसम्पत्तियों के प्रतिफल की मुद्रा एवं दर में दो चीजें शामिल रहती हैं -

- (1) प्रतिफल का वर्तमान भुगतान यानि बांड इक्विटी, पर लाभांश और भौतिक परिसम्पत्तियों के संग्रह करने की लागत।
- (2) कीमतों में होने वाले परिवर्तन।

मानवीय सम्पत्ति को मापना कठिन है। फ्रीडमैन ने मानवीय सम्पत्ति से गैर मानवीय सम्पत्ति के अनुपातों को अथवा आय से संपत्ति के अनुपात को W कहा जाता है। फ्रीडमैन के अनुसार आय का स्तर (Y) और संपत्ति (W) मुद्रा की मांग की आय लोच का दर्शाती है जो कि इकाई से अधिक होती है। धारकों की रुचियों एवं अधिमान को μ से सम्बन्धित किया गया है।

फ्रीडमैन ने मुद्रा की मांग फलन को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है -

$$M^d = f \left[w, h, r_m, r_b, r_e, p, \frac{\Delta P}{P}, \mu \right]$$

यदि वास्तविक मुद्रा शेष का अनुमान लगाना है तो मुद्रा की मांग डक के कीमत स्तर से भाग देना चाहिये (M^d/P) w से अभिप्राय धन, h = मानवीय तथा अमानवीय धन के बीच का अनुपात, r_m = मुद्रा पर ब्याज दर $r =$ बॉण्डो पर ब्याज दर, $r_c =$ शेयरो पर प्राप्ति दर का सूचक, P = कीमत दर, $\frac{\Delta P}{P} =$ कीमत स्तर में परिवर्तन (मुद्रा स्फीति की दर), $\mu =$ रुचिया एवं पसन्दगी।

मुद्रा का सकल मांगफलन व्यक्तिगत मांग फलनों का संकलन है। अतः यह समुदाय के सभी सम्पत्ति धारको के सकल मांग फलन को भी व्यक्त करता है। इस मांग फलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न परिसम्पत्तियों की प्रत्याशित लाभ में वृद्धि होने से सम्पत्ति धारक की मुद्रा की मांग की राशि घट जाती है। और सम्पत्ति के वृद्धि मुद्रा की मांग को बढ़ा देती है।

धन का वर्तमान मूल्य $\omega = \frac{Y}{r}$ है जहाँ yp = स्थायी आय तथा r मुद्रा पर ब्याज दर है। यदि कीमतों में परिवर्तन की कोई सभावना नहीं है तो ओर न अल्पकाल में स्थिर रहते है तथा तीनों प्रकार की ब्याज दरो को एक साथ ले लिया जाए, तो फ्रीडमैन का मुद्रा मांग फलन होगा $M^d = f(y, p, r)$.

मुद्रा का मांग फलन यह दर्शाता है कि मुद्रा की मांग वास्तविक शेष के लिये मांग है, जो कि वास्तविक तत्वों पर निर्भर करती है। और मौद्रिक मूल्यों से स्वतन्त्र होते है। अनुभव सिद्ध प्रमाण यह बताता है कि मुद्रा मांग की आय लोंच इकाई से अधिक होती है, अर्थात् दीर्घकाल में आय वेग गिर रही होती है। इसका यह अभिप्राय है कि मुद्रा का दीर्घकालीन मांग फलन स्थिर और सापेक्षतया ब्याज बेलोंच है।

12.8.1 फ्रीडमैन और केन्स के मांग फलन में अन्तर

- (1) केन्स की मुद्रा की मांग फलन के तीन उद्देश्य है - लेन देन, सर्तकता और सद्दा। फ्रीडमैन ने ऐसा कोई भेद नहीं किया कि उनके अनुसार मुद्रा सामान्य क्रय शक्ति का अस्थायी विश्राम-स्थल है जिससे इसके धारक को अनेक सेवाएं मिलती है।

- (2) फ्रीडमैन ने केन्स की तुलना में मुद्रा की व्यापक परिभाषा दी है। उसके मुद्रा में उन सभी अस्तियों को शामिल किया है जो सामान्य क्रय शक्ति के अस्थायी विश्राम स्थल का कार्य करती है। जबकि केन्स ने सिर्फ जमा राशियां और ब्याज रहित सरकारी ऋण को शामिल किया।
- (3) फ्रीडमैन ने स्थायी आय तथा कीमतों पर तर्क के आधार पर विचार किया है जबकि केन्स ने इन्हे परिवर्ती तत्वों की चालू माप का परिमाण माना है।
- (4) फ्रीडमैन के मांग फलन में वस्तुओं तथा शेरों में विकल्पों के लिये स्पष्ट दर शामिल की जबकि केन्स की मान्यता यह है कि ये बॉण्डों के पूर्व प्रतिस्थापन है।
- (5) केन्स के अनुसार ब्याज दर एक चालू दर है जबकि फ्रीडमैन ने मुद्रा की अवसर लागत व्यक्त करने के लिए कुछ अतिरिक्त तत्वों की व्याख्या की है।

12.9 मुद्रा की मांग का अनुभवसिद्ध प्रमाण

मुद्रा की मांग को प्रभावित करने वाले तत्वों की पहचान के लिये पाश्चात्य देशों में अनेक अध्ययन किये गये हैं, जिनसे निम्नलिखित परिमाण निकले हैं:-

- (1) मुद्रा की मांग कुछ विशेष तत्वों का स्थायी फलन है
- (2) मुद्रा की मांग का ब्याज लोच महत्वपूर्ण होते हुये भी कम तथा स्थायी है।
- (3) तरलता पाश का कोई प्रमाण नहीं है और न ही मन्दी काल में मुद्रा मांग की ब्याज लोच बढ़ने का कोई प्रमाण है।
- (4) ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि दीर्घ अवधि के बाण्डों पर पूँजीगत हानि का जोखिम मुद्रा की मांग को प्रभावित करता है।
- (5) मुद्रा की मांग पर धन तथा स्थायी आय का चालू आय की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है।
- (6) मुद्रा की मांग का कीमत स्तर से सम्बन्ध आनुपातिक नहीं पाया गया है।

अतः अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि मुद्रा की मांग में परिवर्तन बहुत कुछ स्थायी आय तथा व्यवहार में ब्याज दर पर निर्भर करता है, न कि कीमत स्तर में परिवर्तन की दर पर।

12.10 सारांश

मुद्रा की मांग में परिवर्तन के दो दृष्टिकोण हैं। प्रथम दृष्टिकोण को माप दृष्टिकोण दूसरा दृष्टिकोण स्थानापत्ति दृष्टिकोण। मुद्रा की मांग के तीन मत हैं - क्लासिकी, केन्जीय और केन्जोपरान्त। जहाँ मुद्रा की मांग को केन्ज ने तरलता पसन्दी के विभिन्न उद्देश्यों तक सीमित किया था। वहीं उसके बाद के अर्थशास्त्रीय ने मुद्रा के सम्पूर्ण आकार पर विचार किया। केन्स के बाद के अर्थशास्त्री ने सिर्फ बांड नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों पर विचार किया जिसमें अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रतिभूतियां, बांड तथा शेयर अथवा इक्विटी आदि सम्मिलित

है। परिसम्पत्तियों के प्रतिस्थापन की व्याख्या के लिये जेम्स टोबिन तथा डॉन पेटिनकिन आदि अर्थशास्त्री ने पत्राधान अधिशेष सिद्धान्त विकसित किया। यह सिद्धान्त मौद्रिक सिद्धान्त को पूँजी के साथ समन्वित करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि मुद्रा की मांग का आकार मुद्रा की प्रतिस्थापन परिसम्पत्तियों से प्राप्त होने वाली आय पर निर्भर करता है।

पेटिनकिन ने मांग और पूर्ति के विश्लेषण में वास्तविक शेष की धारणा के प्रयोग के द्वारा वस्तु बाजार तथा मुद्रा बाजार की एकीकरण करने का प्रयास किया। पेटिनकिन के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने पर वास्तविक शेष प्रभावित होते हैं। और उनके द्वारा सापेक्ष कीमतें प्रभावित होती हैं। सापेक्ष कीमतों का प्रभाव निरपेक्ष कीमतों पर पड़ता है। जब कीमत स्तर बदलता है, तो वह लोगों के नकदी धारणों की क्रय शक्ति को प्रभावित करता है जो कि आगे वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति को प्रभावित करती है। यह वास्तविक शेष प्रभाव है।

बोमॉल के अनुसार लेनदेन मांग तथा आय के बीच में संबंध न तो रेखीय है और न ही समानुपातिक बल्कि होता यह है कि जब आय में परिवर्तन होते हैं तो मुद्रा की लेनदेन मांग में आनुपातिक से कम परिवर्तन होते हैं। केन्ज की धारणा के विपरित मुद्रा की लेन-देन मांग ब्याज बेलोच न होकर ब्याज लोचात्मकता है। जेम्स टॉबिन ने प्रसिद्ध लेख में निवेश सूची चयन मॉडल प्रस्तुत किया जोकि जोखिम निवारण तरलता अधिमान सिद्धान्त के रूप में है। टोबिन के अनुसार लोग अपनी निवेश सूची में इस प्रकार की विविधता लाते हैं कि सुरक्षित तथा जोखिमपूर्ण अस्तित्वों का एक संतुलन सम्मिश्रण प्राप्त हो सके। लोग सामान्यतः मुद्रा बॉण्ड तथा शेयरो का एक मिश्रित पत्राधान रखते हैं जिससे जोखिम तथा ब्याज की प्राप्ति को संतुलित किया जा सके। गुर्ले एवं शॉ ने मुद्रा की मांग पर गैर बैंक वित्तीय संस्थाओं के विस्तार से होने वाले प्रभाव का एक सफल यत्न किया है। ये संस्थाएं अंतिम श्रमदाताओं के पत्राधान के लिये प्रारंभिक प्रतिभूतियों को परोक्ष प्रतिभूतियों में बदल देती हैं। जिससे अंतिम श्रमदाताओं को उपयुक्त प्रकार का मुद्रा प्रतिस्थापन प्राप्त होता है। उनकी क्रियाओं से मुद्रा की मात्रा में कमी होती है। जिसका तरलता अधिमान फलन पर प्रभाव पड़ता है। फ्रीडमैन ने मुद्रा का धन का संचय करने के लिये एक परिसम्पत्ति माना। वे वास्तविक नकदी शेषों की राशि M/P को एक वस्तु मानते हैं जिसकी मांग की जाती है क्योंकि जो उसे रखता है वह उस व्यक्ति को सेवाएँ प्रदान करता है। अतः मुद्रा एक परिसम्पत्ति अथवा पूँजी वस्तु है। और मुद्रा का सिद्धान्त पूँजी या संपत्ति का अंग है।

निष्कर्ष यह है कि मुद्रा की मांग में परिवर्तन बहुत कुछ स्थायी आय तथा व्यवहार में ब्याज दर पर निर्भर करता है, न कि कीमत स्तर में परिवर्तन की दर पर।

12.11 शब्दावली

बैंक जमा - बैंक की वह जमा जिसे जमाकर्ता बिना पूर्व सूचना के निकाला जा सकता है।

संचय - किसी समाज का वह पैसा जो सक्रिय चलन से निकाल कर अपने पास रख लिया जाता है।

पूँजी की सीमान्त क्षमता - यह पूँजी पर प्रतिफल की दर है।

उपयोगिता - इच्छा को सन्तुष्ट करने की क्षमता

12.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किसने माना कि मुद्रा की मांग का सिद्धान्त पूँजीगत परिसम्पत्तियों की मांग का सामान्य सिद्धान्त है

- (a) फिशर (b) बॉकोल
(c) केन्स (d) मिल्टन फ्रीडमैन

2. मुद्रा की मांग का जोखिम निवारण तरलता अधिमान सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया?

- (a) केन्स (b) जेम्स टोबिन
(c) बॉमोल (d) फ्रीडमैन

3. सट्टे के उद्देश्य से नकदी की मांग का सही आधार क्या है ?

- (a) ब्याज दर का प्रत्यक्ष फलन (b) ब्याज दर का ऋणात्मक फलन
(c) बाण्डो की कीमतों पर आधारित ब्याज दर का प्रत्यक्ष तथा ऋणात्मक फलन
(d) कोई नहीं

12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ब 2. क 3. ब 4. इ

12.14 संदर्भ सहित ग्रन्थ

- डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डा० टी०टी० सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

12.15 कुछ सहयोगी पुस्तकें

- Dwivedi, D.N.(1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
- Ahuja ,H. L. ((1910) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
- Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.

-
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.
-

12.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भुगतानो के लिए मुद्रा को मांग से सम्बन्धित बॉमोल के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये
2. मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा मुद्रा की मांग से सम्बन्धित व्याख्या की विवेचना कीजिए।
3. केन्स के पश्चात मुद्रा की मांग से सम्बन्धित प्रस्तुत किये गये विभिन्न विचारों के संदर्भ में मुद्रा की मांग पर ब्याज दर के प्रभाव की समिक्षा कीजियें।
4. पेटिनकिन के वास्तविक शेष दृष्टिकोण की मुद्रा की मांग के सम्बन्ध में विवेचना कीजियें।

इकाई-13 मुद्रास्फीति एवं बेरोजगारी

इकाई की रूपरेखा

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
- 13.3 फिलिप्स वक्र की व्याख्या
 - 13.3.1 फिलिप्स वक्र में प्रस्तावित समबन्धों का संशोधन
 - 13.3.2 मान्यताएँ
 - 13.3.3 फिलिप्स वक्र की ढाल तथा स्थिति
- 13.4 फिलिप्स वक्र का महत्व
- 13.5 फिलिप्स वक्र में निहित नीति
- 13.6 दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र फ्रीडमैन का विचार
- 13.7 आलोचना
- 13.8 फिलिप्स वक्र में संशोधन
 - 13.8.1 टोबिन का मत
 - 13.8.2 सोलो का मत
- 13.9 विवेकपूर्ण प्रत्याशाएँ तथा फिलिप्स वक्र
- 13.10 फिलिप्स वक्र की आलोचना
- 13.11 सारांश
- 13.12 शब्दावली
- 13.13 लघुउत्तरीय प्रश्न
- 13.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.15 संदर्भ सहित ग्रन्थ
- 13.16 कुछ सहयोगी पुस्तकें
- 13.17 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

अर्थव्यवस्था पूँजीवादी हो अथवा मिश्रित, मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन प्रत्येक अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। यह परिवर्तन की गति धीमी अथवा अधिक हो सकती है पर यह तय है कि एक लम्बे समय तक मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखना असम्भव होता है। मुद्रा मूल्य में परिवर्तन का स्वरूप तथा स्वभाव भली-भाँति समझ लेना इसलिये आवश्यक होता है। क्योंकि यह अर्थव्यवस्था में कीमतों आय, उत्पादन तथा रोजगार आदि की स्थितियों को प्रभावित करता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थव्यवस्था में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान रहती है। बेरोजगारी यदि है तो या तो अस्थायी अथवा घर्षणात्मक ; श्रमपबजपवदंसद्ध (जहाँ श्रमिक एक कार्य से हटकर दूसरे कार्य में लग जाते हैं)। परन्तु उनके अनुसार व्यावहारिक जीवन में ऐसा नहीं है।

पिछले चालीस वर्षों के अध्ययन में स्फीति एवं बेरोजगारी को विशेष स्थान हुआ जिसमें इस बात पर प्रकाश डाला गया कि स्फीति एवं बेरोजगारों में परस्पर सम्बन्ध के कारण कैसे परिवर्तन होते हैं।

13.2 उद्देश्य

- मुद्रा स्फीति एवं बेरोजगारी में सम्बन्ध पर फिलिप्स वक्र की व्याख्या।
- फिलिप्स वक्र में उक्त संशोधन की व्याख्या।
- फिलिप्स वक्र के तहत निहित नीति क्या है।
- फ्रीडमैन के विचार जिसके अन्तर्गत दीर्घकालीन फिलिक्स वक्र पर प्रकाश डाला गया है।

13.3 फिलिप्स वक्र की व्याख्या

फिलिप्स से पूर्व केन्स ने जो व्याख्या प्रस्तुत की उसके अन्तर्गत मुद्रा स्फीति एवं बेरोजगारी में किसी विपरीत सम्बन्ध की सम्भावना को अस्वीकार किया गया है। उन्होंने L-Shape आकृति के पूर्ति वक्र की कल्पना की। उनके अनुसार स्फीति का दशा पूर्ण रोजगार में ही उत्पन्न होती है। जब संसाधनों का पूर्ण उपयोग कर लिया गया है। परन्तु व्यावहारिक अनुभव इसके विपरीत है यह विपरीत धारण ए0डब्ल्यू फिलिप्स के द्वारा दी गयी है।

1958 में प्रकाशित अपने लेख "Relations between unemployment and the rate of change in money wages in the U.K. 1861-1957" में फिलिप्स ने इसी काल में ब्रिटेन के अध्ययन के अन्तर्गत मजदूरी दर तथा बेरोजगारी के बीच सम्बन्ध की व्याख्या की। एकत्रित किये गये आँकड़ों के विश्लेषण से यह स्पष्ट किया कि मौद्रिक (w) एवं बेरोजगारी (u) की दर में विपरीत सम्बन्ध होता है। क्योंकि यह सम्बन्ध फिलिक्स द्वारा बताया गया अतः इससे प्राप्त वक्र को फिलिप्स वक्र की संज्ञा दी गयी।

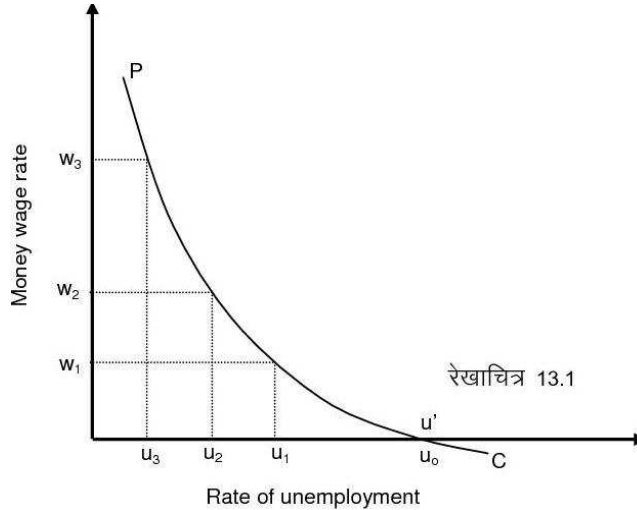
फिलिप्स वक्र बेरोजगारी की दर तथा मुद्रा मजदूरी परिवर्तनों की दर में सम्बन्ध का निरीक्षण करती है। यह सम्बन्ध विपरीत प्रकृति का है। आँकड़ों पर आधारित अनुभवजन्य निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये फिलिप्स में व्यक्त किया कि जब बेरोजगारी बहुत होती है, तो मुद्रा मजदूरी के बढ़ने की दर नीची होती है। क्योंकि मालिकों पर मुद्रा मजदूरी दर बढ़ाने का दबाव होता है अर्थात् एक को प्राप्त करने के लिये दूसरे को त्याग करना पड़ता है। अतः कम बेरोजगारी

के लिये स्फीति को स्वीकार करना होगा। इन दोनों तत्वों के मध्य विनिमय है। फिलिप्स ने इस विपरीत सम्बन्ध को एक नीचे की ओर गिरते हुये वक्र के रूप में प्रस्तुत किया इस सम्बन्ध के कारण- सम्बन्ध के पीछे कारण को बताते हुए फिलिप्स ने कहा कि -

1. जब श्रम के लिये अधिक माँग होती है और बेरोजगार बहुत कम होते हैं, तो हमें आशा रखनी चाहिये कि मालिक बहुत जल्दी-2 मजदूरी दर बढ़ाएंगे।
2. व्यापार क्रिया की प्रकृति-बढ़ती व्यापार क्रिया की अवधि में जब श्रम की बढ़ती माँग के साथ बेरोजगार की अवधि में जब श्रम की बढ़ती माँग के साथ बेरोजगार गिर रही होगी तो मालिक मजदूरी बढ़ा देंगे और जब व्यापार क्रिया की स्थिति घट रही होगी तो श्रम की माँग गिरेगी जिसके फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ेगी और मालिक मजदूरी नहीं बढ़ाएंगे।

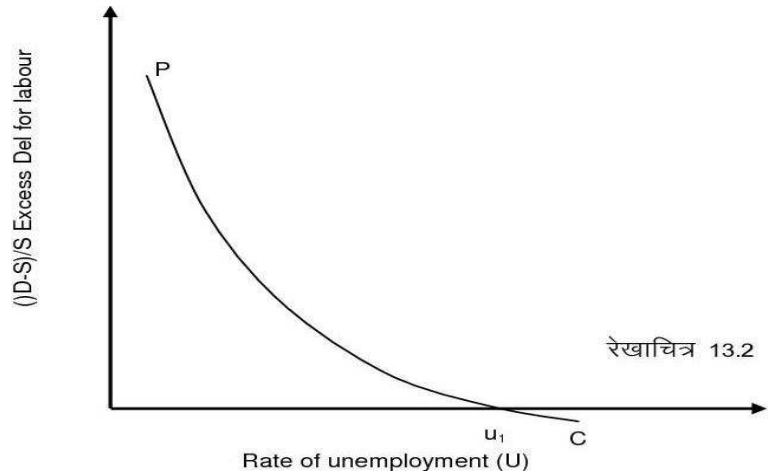
3. सबसे महत्वपूर्ण कारण है निर्वाह व्यय (Cost of Living) में होने वाला परिवर्तन उसी गति से होता है जिस गति से श्रम की उत्पादकता में परिवर्तन, तो कीमतें प्रभावित नहीं होंगी। तात्पर्य यह है कि यदि मुद्रा मजदूरी दरों में वृद्धि की दर, उतनी ही है तो मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि की जा सकती है और वस्तुओं की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता। पर यदि मुद्रा की दरों में वृद्धि अधिक तेज है और श्रम उत्पादकता की वृद्धि दर उससे पीछे रह जाती है तो मुद्रा स्फीति की स्थिति आ जायेगी और विलोमशः।

फिलिप्स ने 1961-1969 की अवधि के लिये अमेरिका के लिये आंकाड़ों को संग्रह किया था और वहाँ भी यही स्थिति देखी गयी। इन अनुभवों के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया कि एक स्थायी फिलिप्स वक्र क्रियाशील है जो



बेरोजगारी एवं स्फीति के मध्य विपरीत सम्बन्ध को दर्शाता है जो कि पूर्व में ही अनुमानित कर लिया गया। प्रस्तुत रेखाचित्र 13.1 में इसे दर्शाया गया है - PC फिलिप्स वक्र है। बेरोजगारी के u_2 स्तर पर मजदूरी w_2 है। यदि बेरोजगारी बढ़कर होती w_1 है तो मजदूरी गिरकर हो जायेगी। और u_3 बेरोजगारी होने पर मजदूरी बढ़कर w_3 हो जाती है। प्रस्तुत फिलिप्स वक्र सीधी रेखा न होकर मूल बिन्दु की ओर उन्नोतर है। ऐसा इसलिये है क्योंकि बेरोजगारी में जैसे-जैसे कमी होती है, निरन्तर बढ़ती हुयी दर से मजदूरी दर में वृद्धि होती जाती है। बेरोजगारी की दर $u_1 u_2 = u_2 u_3$ तो समान है। परन्तु मजदूरी दर में वृद्धि w_1 से w_2 से w_3 में निरन्तर वृद्धि हो रही है ($w_2 w_3 > w_1 w_2$) मजदूरी दर में वृद्धि शून्य होने के लिये बेरोजगारी की ऊँचा स्तर u_0 सहन करना होगा। यदि मजदूरी दर ऋणात्मक हो तो बेरोजगारी में u_1 पर बहुत अधिक होगी।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बेरोजगारी और मौद्रिक मजदूरी दरों के बीच सम्बन्ध अति आरेखीय (Non Linear) होता है। प्रो. लिप्से ने अपने अध्ययन द्वारा 1960 में फिलिप्स द्वारा बताये गये सांख्यिकीय सम्बन्ध में के लिये सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत किये। इन्होंने



इस विपरीत सम्बन्ध के पीछे-2 प्रकार को व्यावहारिक सम्बन्धों को आधार माना -

1. मौद्रिक मजदूरी की दर में परिवर्तन तथा श्रम के लिये अतिरिक्त मांग के बीच सकारात्मक सम्बन्ध है। यदि श्रम की मांग पूर्ति से अधिक है तो मजदूरी दरों में वृद्धि होती है।

$$w = f \frac{(D-S)}{S} \text{ जहाँ } f > 0$$

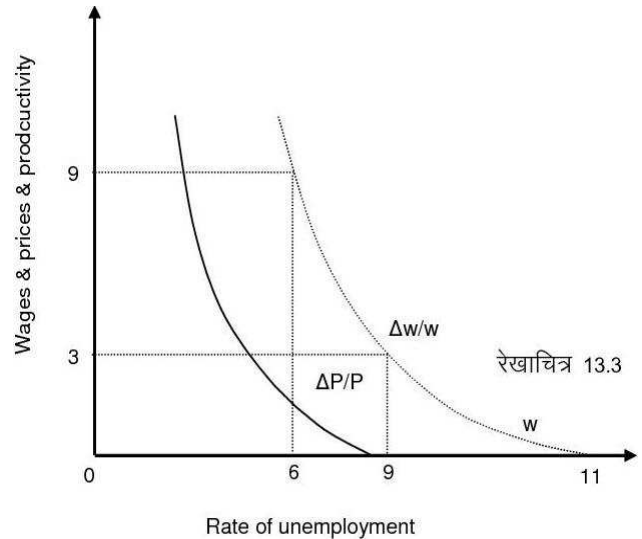
2. श्रम की अतिरिक्त मांग तथा बेरोजगारी के बीच विपरीत आरेखीय सम्बन्ध होता है। इस ऋणात्मक सम्बन्ध का तात्पर्य है कि अतिरिक्त मांग जितनी अधिक होगी, बेरोजगारी का स्तर उतना ही नीचा होगा। और यदि यह शून्य हुयी तो श्रम बाजार ने संतुलन होगा परन्तु बेरोजगारी फिर भी होगी।

लिप्से ने श्रम की अतिरिक्त मांग की माप को बेरोजगारी की संख्या से अधिक रक्तियों के रूप में की है। आरेखीय सम्बन्ध के कारण श्रम के लिये सकारात्मक अतिरिक्त मांग बेरोजगारी को घर्षणात्मक स्तर से नीचे गिरा सकती है।

परन्तु यह शून्य से नीचे कभी नहीं हो सकता। इस आधार पर लिप्से ने फिलिप्स वक्र में बेरोजगारी तथा मजदूरी में वृद्धि के बीच संबंध स्पष्ट किया है। इसे प्रस्तुत रेखाचित्र 13.2 में दर्शाया गया है।

13.3.1 फिलिप्स वक्र में प्रस्तावित सम्बन्धों का संशोधन

फिलिप्स वक्र बेरोजगारी की दर एवं मजदूरी दरों के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करता है। कुछ संशोधन करके बेरोजगारी एवं स्फीति के बीच सम्बन्ध को दर्शाया



जा सकता। इसके लिये कीमतों में वृद्धि के साथ जोड़ा जाता है। कीमतों तथा मजदूरी दरों के बीच सम्बन्ध की व्याख्या श्रम उत्पादाकता में वृद्धि के आधार पर की गयी है। रेखाचित्र 13.3 में w_w वक्र ही फिलिप्स वक्र है।

PPवक्र कीमतों में वृद्धि की दर (ΔP) मजदूरी दर में वृद्धि (Δw) तथा उत्पादकता (2) में अंतर के बराबर है ($\Delta P = \Delta w - x$)।

13.3.2 मान्यताएँ

1. श्रम की उत्पादकता में वार्षिक की दर 3% है।
 2. मजदूरी वृद्धि की दर उतनी ही है जितनी कि उत्पादकता में वृद्धि हुयी है।
- P वक्र के अनुसार, कीमत स्र में शून्य वृद्धि की स्थिति में मजदूरी वृद्धि दर ता उत्पादकता की दर 3% प्रतिशत है, परन्तु बेरोजगारी 9% है। मजदूरी वृद्धि पर बेरोजगारी 6% है। इस स्तर पर कीमतों में वृद्धि ($\Delta P/P$) भी 6% होगी जोकि मजदूरी पर तथा उत्पादकता में अंर के बराबर है ($9 - 3 = 6$) ।
- इस व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि बेरोजगारी की नीची दर प्राप्त करने के लिये कीमत वृद्धि अथवा स्फीति की सकारात्मक होना आवश्यक है।

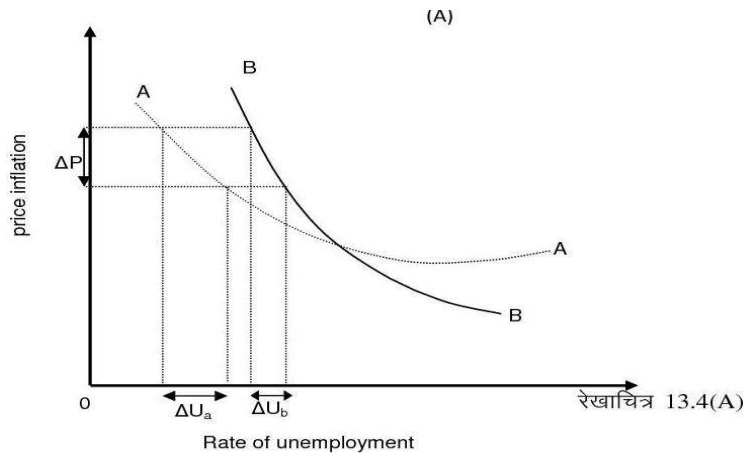
व्यावहारिक उपयोगिता :- को ज्ञात करने के लिये फिलिप्स वक्र की स्थिति रूप तथा स्थिरता आवश्यक है। सुविधा के लिये ; च्छेद्ध एवं न के बीच स्थायी संबंध को मान लिया गया है।

13.3.3 फिलिप्स वक्र की ढाल तथा स्थिति

एक स्थिर फिलिप्स वक्र बेरोजगारी दर में स्थायी कमी को दर्शाता है। जिसका स्फीति दर में स्थायी वृद्धि से विनिमय किया जा सकता है। परन्तु 1960 के दशक के बाद यह माना जाने लगा कि फिलिप्स वक्र स्थिर नहीं रहता है। इसके ढाल तथा स्थिति में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिलिप्स वक्र की ढाल बेरोजगारी तथा स्फीति के बीच विनिमय की दर को व्यक्त करती है। फिलिप्स वक्र की स्थिति, बेरोजगारी के स्फीति के साथ सम्बंध के प्रारम्भिक आधार को दर्शाती है।

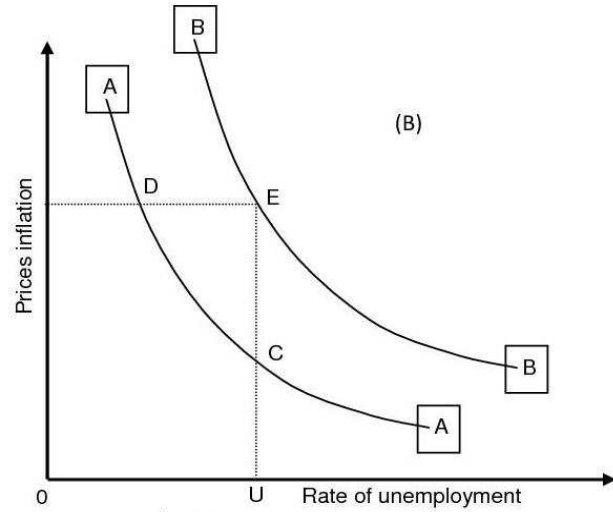
13.4 फिलिप्स वक्र का महत्व

प्रस्तुत रेखाचित्र 13.4(A) फिलिप्स वक्र के महत्व को दर्शाती है। यदि हम AA वक्र की अधिक ढाल वाले BB वक्र के साथ तुलना करते है तो स्फीति में ΔP के बराबर वृद्धि वक्र AA पर बेरोजगारी दर में Δu_a के बराबर तथा BB वक्र पर के बराबर कमी उत्पन्न करती है।



रेखाचित्र 13.4(B) के द्वारा भी फिलिप्स वक्र के महत्व को दर्शाया जा सकता है।

रेखाचित्र 13.4(B) के अन्तर्गत AA वक्र मूल बिन्दु के निकट है। अतः वक्र BB से बेहतर स्थिति में है भले ही दोनों की ढाल समान है। BB की तुलना में AA वक्र यह दर्शाता है कि उतनी ही बेरोजगारी दर (OU) स्फीति की नीची दर (UC) पर प्राप्त होती है। (UC < UE) दूसरे शब्दों में OP स्फीति पर AA वक्र द्वारा PD



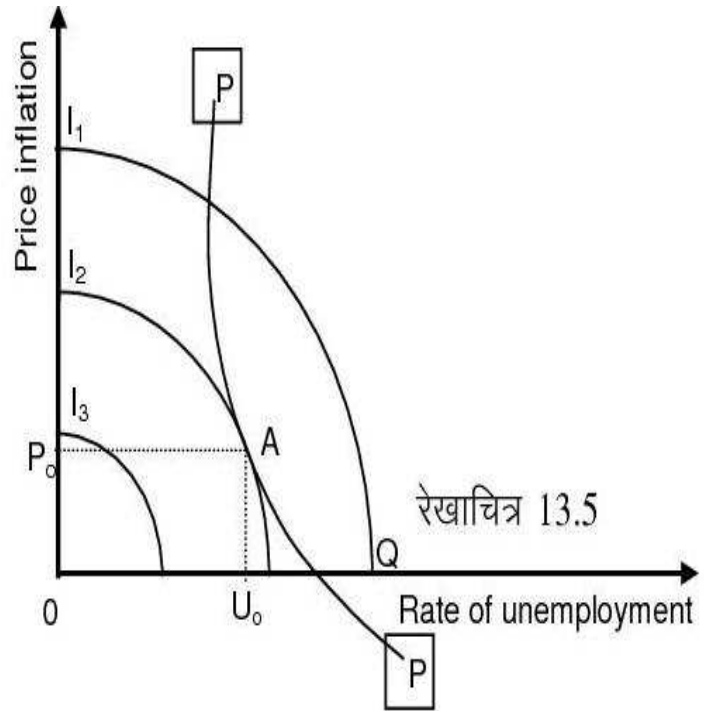
रेखाचित्र 13.4(B)

बेरोजगारी की दर प्रदर्शित होता है। जबकि BB वक्र से PE जो अधिक है (PD < PE)।

13.5 फिलिप्स वक्र में निहित नीति

फिलिप्स वक्र के आधार से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्फीति को रोकने के लिये मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है अन्य शब्दों में, बेरोजगारी का स्तर दिया होने पर, स्फीति की कितनी दर सहन की जा सकती है। इस वक्र के आधार पर यह संकेत मिलता है कि अधिक

बेरोजगारी एवं कीमत स्थिरता में किसी एक को ही चुनना होगा। अतः मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का किस प्रकार प्रयोग किया जाये यह इस वक्र के अध्ययन से पता चलता है। पर यह इतना आसान नहीं है। बेरोजगारी के एक विशेष स्तर से मेल खाती हुयी स्फीति की दर निर्धारित करने से अनेक प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ता है। अतः समस्या चुनाव को उत्पन्न होती है।



रेखाचित्र 13.5

एक तटस्था वक्र के माध्यम से अनुकूलतम स्फीति-बेरोजगारी संयोग के चुनाव के समस्या का विश्लेषण किया जा सकता है।

रेखाचित्र 13.5 में I_1 , I_2 , तथा I_3 तटस्थता वक्र मूल बिन्दु के नतोदर है। मूल बिन्दु को और बढ़ने पर ही अधिक उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है।

बिन्दु A पर स्फीति-बेरोजगारी संयोग का चुनाव करने पर विनिमय वक्र PPI_2 तटस्थता वक्र को स्पर्श करता है। यही सन्तुलन बिन्दु है। PP की R स्थिति पर बेरोजगारी स्तर OR है। A बिन्दु पर बेरोजगारी का स्तर u_0 जिसको प्राप्त करने के लिये P_0 स्फीति दर को स्वीकार किया जाता है। स्फीति की दर OP_0 का बेरोजगारी की Ou_0 दर में विनिमय है।

13.6 दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र फ्रीडमैन का विचार

फ्रीडमैन से पहले सेम्युल्सन एवं सोलों ने फिलिप्स के विश्लेषण को बढ़ाकर बेरोजगारी के स्तर और कीमतों के स्तर में परिवर्तन की दर के बीच वस्तु विनिमय तक पहुँचाया। अतः फिलिप्स वक्र से यह सुझाव दिया जा सकता है कि स्फीति को और बढ़ाकर हमेशा बेरोजगारी की दर को घटाया जा सकता है और बेरोजगारी को और बढ़ाकर स्फीति की दर घटायी जा सकती है।

अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि फिलिप्स वक्र अल्पकाल से संबंध रखता है और स्थिर नहीं रहता है। स्फीति की प्रत्याशाओं में परिवर्तन होने से यह वक्र सरक जाता है। जो विनिमय अल्पकाल में स्पष्ट दिखाई देती है वही दीर्घकाल में स्फीति तथा रोजगार में कोई वस्तु विनिमय नहीं रहता है।

फ्रीडमैन तथा फेल्लप्स ने इन मतों की स्थापना की है जोकि त्वरणवादी (accelerationist) अथवा अनुकूलित प्रत्याशाओं (adapted expectations) परिकल्पना के नाम से विख्यात है। फ्रीडमैन के अनुसार एक स्थिर नीचे दायीं और ढालू फिलिप्स वक्र की मान्यता की आवश्यकता नहीं है। बेरोजगारी और स्फीति के बीच विनिमय अल्पकाल में ही संभव है। जबकि दीर्घकाल में फिलिप्स वक्र अनेक चरों के प्रभाव में सरक जाता है।

स्फीति की प्रत्याशित दर वही महत्वपूर्ण चर है। स्फीति की वास्तविक दर तथा प्रत्याशित दर के बीच अंतर के कारण ही फिलिप्स वक्र नीचे दायीं और ढालू होता है। दीर्घकाल में जब यह अंतर समाप्त है तो फिलिप्स वक्र अनुलम्ब हो जाता है।

फ्रीडमैन आगे कहते हैं कि बेरोजगारी की दर के कारण नहीं है बल्कि प्राकृतिक दर से कम बेरोजगार के कारण ही मुद्रा मजदूरी बढ़ती है। यह बेरोजगारी की प्राकृतिक दर वह दर है जिस पर श्रम बाजार में बेरोजगारों की संख्या उतनी ही है, जितनी रोजगार दिया जा सकता है। रोजगार के अवसर मौजूद होने के बावजूद कुछ अपूर्णताओं के कारण कई लोगों को रोजगार सूचना, मानव शक्ति प्रशिक्षण में कमियाँ, श्रम गतिशीलता की लागतें आदि बेरोजगारी के प्राकृतिक दर के नीचे न तो स्फीति दर बढ़ती है और न ही इसके ऊपरी घटती है। यह बेरोजगारी की सन्तुलन दर है जोकि दीर्घकालीन में प्राप्त होती है। यह दर अर्थव्यवस्था में वस्तु बाजारों और क्षय की अनेक संरचनात्मक विशेषताओं द्वारा निर्धारित होती है।

यदि बेरोजगारी प्राकृतिक दर से कम होगी, तो फिलिप्स वक्र ऊपर की ओर मुड़ जायेगा और कीमत वृद्धि त्वरित होगी। यदि प्राकृतिक दर की अपेक्षा बेरोजगारी अधिक होगी, तो अल्पकालीन फिलिप्स वक्र नीचे को धूम जायेगा और कीमत वृद्धि मन्द पड़ जायेगी।

प्रस्तुत रेखाचित्र 13.6 में दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र की प्रक्रिया को समझाया गया है। यदि मान लिया जाय कि बेरोजगारी की प्राकृतिक दर 3 प्रतिशत है तथा स्फीति 2 प्रतिशत के निम्न स्तर पर है, तो इस स्थिति में लोग आशा करते हैं कि भविष्य में यही दर बनी रहेगी। इस आधार पर अल्पकालीन फिलिप्स वक्र का निर्माण किया गया है जो A बिन्दु द्वारा इस स्थिति को दर्शाया गया है।

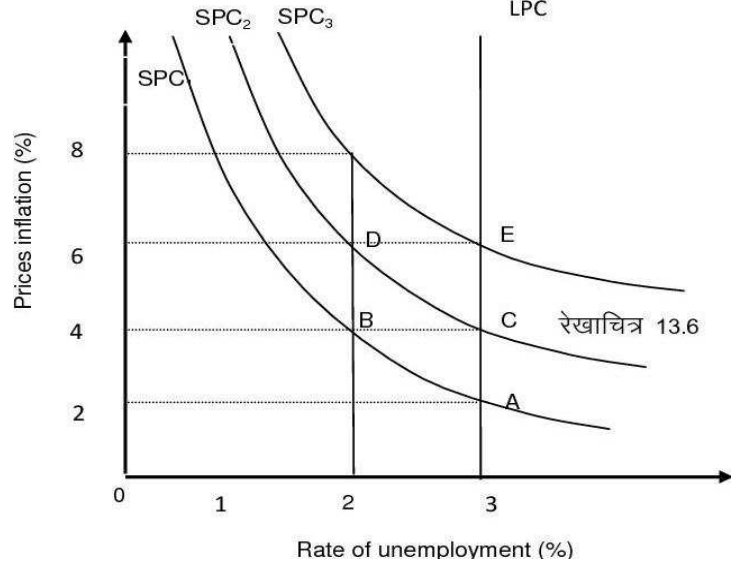
यदि किसी कारण जैसे मांग में वृद्धि के कारण ही बेरोजगारी 3 प्रतिशत से गिरकर 2 प्रतिशत हो जाती है तो स्फीति दर बढ़कर 4 प्रतिशत हो जायेगी। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था SP_1 वक्र पर A बिन्दु से खिसककर B बिन्दु पर आ जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 1 प्रतिशत बेरोजगारी में कमी करने से कीमतों में वृद्धि दर 4 प्रतिशत हो गयी। अब यह वास्तविक दर है जो श्रमिकों की प्रत्याशित दर बन जाती है। इस आधार पर ही श्रमिक ऊँची मजदूरी दरों की मांग की जाती है इसके फलस्वरूप अल्पकालीन फिलिप्स वक्र दायीं ओर हटकर SPC_2 हो जाती है और बेरोजगारी B बिन्दु (2%) से C बिन्दु (3%) को बढ़ेगी। C बिन्दु पर वास्तविक और प्रत्याशित स्फीति की दर यदि 4% तो बेरोजगारी की प्राकृतिक दर 3% होगी।

यदि किसी कारण जैसे मांग में वृद्धि के कारण ही बेरोजगारी 3 प्रतिशत से गिरकर 2 प्रतिशत हो जाती है तो स्फीति दर बढ़कर 4 प्रतिशत हो जायेगी। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था SP_1 वक्र पर A बिन्दु से खिसककर B बिन्दु पर आ जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 1 प्रतिशत बेरोजगारी में कमी करने से कीमतों में वृद्धि दर 4 प्रतिशत हो गयी। अब यह वास्तविक दर है जो श्रमिकों की प्रत्याशित दर बन जाती है। इस आधार पर ही श्रमिक ऊँची मजदूरी दरों की मांग की जाती है इसके फलस्वरूप अल्पकालीन फिलिप्स वक्र दायीं ओर हटकर SPC_2 हो जाती है और बेरोजगारी B बिन्दु (2%) से C बिन्दु (3%) को बढ़ेगी। C बिन्दु पर वास्तविक और प्रत्याशित स्फीति की दर यदि 4% तो बेरोजगारी की प्राकृतिक दर 3% होगी।

पुनः बेरोजगारी को 2% के स्तर तक घटाने से D बिन्दु पर संतुलन स्थापित होगा। जहाँ स्फीति की दर 6% है। इसे वास्तविक दर 6% है। इसे वास्तविक दर देखते हुये श्रमिक पुनः प्रत्याशित दर मानकर व्यवस्थित कर लेते हैं। और अल्पकालीन फिलिप्स वक्र SPC_3 हो जाता है। बेरोजगारी पुनः 3% पर आ जाती है। यदि इस अल्पकालीन वक्रों पर स्थित A, C, E को मिला दिया जाय तो बुरोजगार की प्राकृतिक दर पर दीर्घकालीन फिलिप्स LPC वक्र खींचा जा सकता है जोकि एक अनुलम्ब रेखा के रूप में है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बेरोजगारी की प्राकृतिक दर के नीचे कोई भी स्तर स्फीति का बढ़ाता है। यह तब तक चलता है जब तक स्फीति की वास्तविक तथा प्रत्याशित दरों में अंतर है। यह अंतर दीर्घकाल में समाप्त हो जाता है। और अर्थव्यवस्था प्राकृतिक बेरोजगारी दर पर बनी रहती है।

बेरोजगारी एवं स्फीति के बीच विनिमय सिर्फ अल्पकाल में ही होता है। इसे फ्रीडमैन ने “अनुकूलित प्रत्याशा परिकल्पना” (adaptive expectation) कहा है। इस परिकल्पना के अनुसार स्फीति की प्रत्याशित दर सैदव



वास्तविक दर के पीछे रहती है और जब वास्तविक दर स्थिर हो जाती है तो प्रत्याशित दर इसके बराबर हो जाती है। यह स्थिति दीर्घकाल में ही होता है और तब बेरोजगारी एवं स्फीति में विनिमय नहीं होता है।

13.7 फ्रीडमैन की आलोचना

फ्रीडमैन की आलोचना निम्न बिन्दुओं के आधार पर की गयी है।

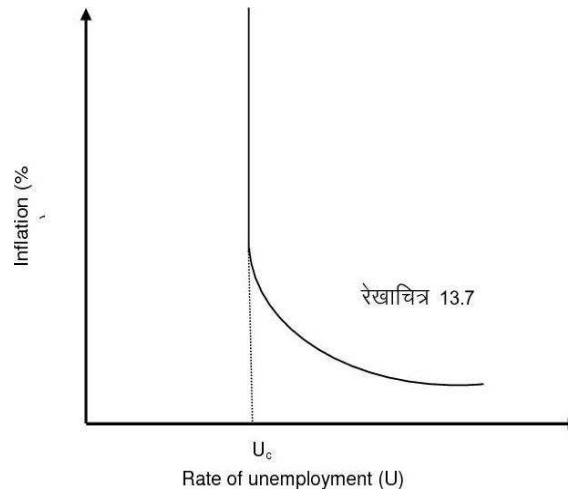
1. व्यावहारिक जीवन में कीमतें निरन्तर घटती-बढ़ती रहती है। ऐसी स्थिति में प्रत्याशाएँ विफल हो सकती है। जबकि दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र स्फीति की स्तत् दर से सम्बन्धित है।
2. कुछ अर्थशास्त्रियों को कहना है कि बेरोजगारी की ऊँची दर पर मजदूरी दरे नहीं बढ़ी है।
3. श्रमिक अपनी वास्तविक मजदूरी दरों की अपेक्षा अपनी मुद्रा मजदूरी दरों में वृद्धि से अधिक मतलब रखते हैं।
4. कुछ के अनुसार बेरोजगारी की प्राकृतिक दर एक छलावा के अलावा और कुछ नहीं है।
5. भविष्य की अनिश्चितताओं के कारण भविष्य में स्फीति क अनुमासन न लगाना मुश्किल है।
6. कई तरह के सैद्धान्तिक एवं सांख्यिकीय पक्षपातों के कारण प्रत्याशाओं के निर्धारण की स्थिति अस्पष्ट है।
7. सऊल हाइमन के अनुसार दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र अनुलम्ब नहीं होता वरन् ऋणात्मक रूप से ढाल होता है। वे कहते हैं कि यदि स्फीति दर में वृद्धि स्वीकार है तो बेरोजगारी की दर स्थायी रूप से घटाई जा सकती है।

13.8 फिलिप्स वक्र में संशोधन

13.8.1 टोबिन का मत

जेम्स टोबिन ने 1971 में American के सामने जो अध्यक्षी भाषण दिया उसमें उसने प्रस्तावित किया था कि ऋणात्मक ढालू और अनुलम्ब फिलिप्स वक्र के बीच समन्वय किया गया है।

टोबिन को फिलिप्स वक्र किंकित आकृति का होता जिसका एक भाग तो सामान्य फिलिप्स वक्र जैसा होता है और शेष भाग अनुलम्ब होता है। प्रस्तुत रेखाचित्र 13.7 में इसे दर्शाया गया है। U_c बेरोजगारी की क्रांतिक दर है। यहाँ पर फिलिप्स वक्र अनुलम्ब है और बेरोजगारी तथा स्फीति के बीच विनिमय नहीं होता।



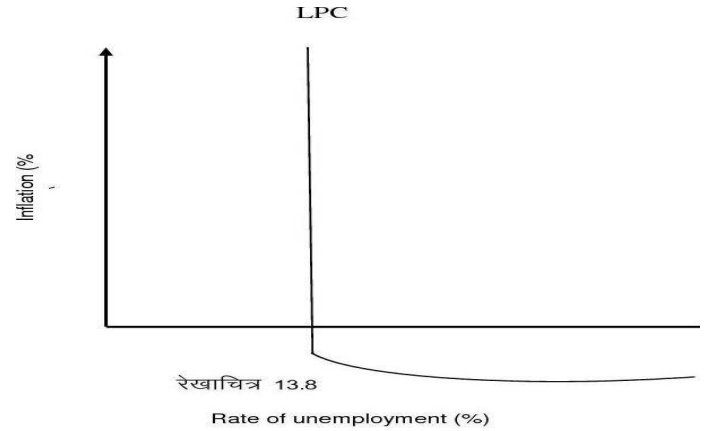
अनुलम्ब होने के पीछे कारण श्रम बाजार की अपूर्णताएँ हैं न कि मांग में वृद्धि जिससे कि मजदूरी में वृद्धि हो जाती है। U_c स्तर पर और अधिक रोजगार देना संभव नहीं है। फिलिप्स वक्र की ढलान ऋणात्मक है। इस सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि मजदूरी नीचे की ओर अनम्य है क्योंकि सापेक्ष मजदूरी में कटौती होने पर विरोध होता है। चित्र में U_c के दाईं ओर अपेक्षाकृत अधिक बेरोजगारी के क्षेत्र में जब समस्त मांग और स्फीति बढ़ती है और अनेच्छक बेरोजगारी घटती है।

13.8.2 सोलो का मत

सोलो ने भी टोबिन की भांति इस बात को स्वीकारा कि फिलिप्स वक्र अनुलम्ब नहीं होता है। उसके अनुसार यह वक्र स्फीति की धनात्मक दरों पर अनुलम्ब और स्फीति की ऋणात्मक दरों पर क्षैतिज होता है। रेखाचित्र 13.8 में इसे दर्शाया गया है।

LPC का आधार यह है कि भारी बेरोजगारी अथवा अवस्फीति में भी मजदूरी नीचे की ओर अमन्य होती है। परन्तु बेरोजगारी के एक विशिष्ट स्तर पर जब श्रम के लिये मांग बढ़ती तो प्रत्याशित स्फीति के रहते भी मजदूरी बढ़ती है। पर अनुलम्ब भाग में बेरोजगारी और स्फीति के बीच विनिमय नहीं होता।

निष्कर्ष:- अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकारा है कि बेरोजगारी की लगभग 4% दर पर फिलिप्स वक्र अनुलम्ब बन जाता है और बेरोजगारी तथा स्फीति के बीच विनिमय समाप्त हो जाता है।



13.9 विवेकपूर्ण प्रत्याशाएँ तथा फिलिप्स वक्र

अनुकूलित प्रत्याशा परिकल्पना ने इस बात को स्वीकार कि दीर्घकाल में

बेरोजगारी और स्फीति में विनिमय नहीं होता। ऐसी ही एक अन्य दृष्टिकोण विवेकपूर्ण प्रत्याशाओं के सिद्धान्त के रूप में नये प्रतिष्ठित समष्टि अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वाभाविक बेरोजगारी की दर की व्याख्या करता है। इसके अनुसार मौद्रिक मजदूरी दरों तथा कीमत स्तर में वृद्धि के बीच समायोजन होने में कोई समयान्तर नहीं होता है।

जैसे ही कीमत स्तर में सम्भावित परिवर्तन होता है, मजदूरी दरे बिना विलम्ब के समायोजित हो जाती है जिसके कि स्फीति तथा बेरोजगारी में विनिमय नहीं होता है। इसके समर्थक यह मानते हैं कि कुल मांग बढ़ने पर बेरोजगारी दर में कोई कोई कमी नहीं होती है। जैस ही प्रतीत होता है कि मांग बढ़ रही है, स्फीति का अंदाजा लगते हैं। उत्पादक उसी के अनुसार मजदूरी दरों की वृद्धि करना स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार, कीमत स्तर में तो वृद्धि होती है, पर वास्तविक उत्पादन तथा राजेगार का स्तर अपने स्वाभाविक स्तर पर अपरिवर्तित रहता है।

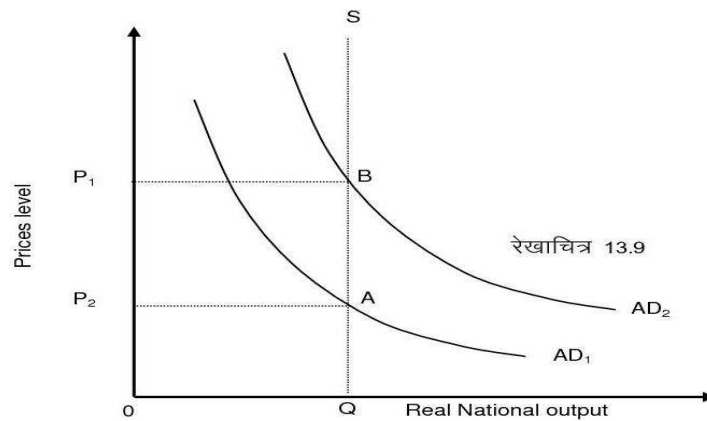
विवेकपूर्ण प्रत्याशाओं के सिद्धांत के अनुसार कुल पूर्ति वक्र पूर्ण रोजगार के स्तर पर अनुलम्ब रेखा के रूप में ही होता है। यह मान्यता दो बातों पर आधारित है :-

1. श्रमिक और उत्पादक इतने विवेकपूर्ण हैं कि वे सरकार की नीतियों के प्रभाव का पहले से अनुमान लगा लेते हैं और सह निर्णय लेते हैं।
2. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के समान यह सिद्धान्त भी यह मानता है कि सभी वस्तुओं तथा साधनों के बाजार काफी प्रति स्पर्धात्मक हैं, फलस्वरूप कीमते तथा मजदूरियां काफी लचकपूर्ण हैं।
3. नयी सन्तुलन कीमते तत्काल बदली हयी परिस्थितियों तथा नीतियों के साथ समायोजन प्राप्त कर लेती है।

रेखाचित्र 13.9 में OQ वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन का स्तर है जिस पर पूर्ण रोजगार प्राप्त है। AD_1 कुल मांग वक्र है जो कुल पूर्ति वक्र AS को A बिन्दु पर काटता है। और P_0 कीमत निर्धारित होती है।

यदि यह मान लिया जाये कि सरकार विस्तारवादी नीति अपनाती है जिससे कि उत्पादन और रोजगार में वृद्धि की जा सके। इसके फलस्वरूप मांग वक्र सरक कर AD_2 हो जाता है। विवेकपूर्ण प्रत्याशाओं के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में सभी वर्ग यह पूर्वानुमान लगा लेते हैं कि विस्तारवादी नीति से स्फीति उत्पन्न होगी और वे बचाव के उपाय कर लेते हैं। मजदूर अधिक मजदूरी के लिये दबाव डालते हैं और प्राप्त कर लेते हैं। व्यापारी कीमतें बढ़ा देते हैं निवेशक ब्याज दरों में वृद्धि कर लेते हैं।

कीमते बढ़कर P_1 हो जाती है। इस प्रकार कुल मांग में वृद्धि के प्रभाव में मजदूरी दरें, कीमते तथा ब्याज दरें स्फीति को प्रत्याशित वृद्धि के अनुपात में बढ़ती है। परिणामस्वरूप वास्तविक उत्पादन रोजगार, मजदूरी, ब्याज निवेश तथा उपभोग आदि का स्तर अपरिवर्तित रहता है।



विस्तारवादी मुद्रा नीति लोगों की विवेकपूर्ण प्रत्याशाओं के कारण आर्थिक चरों को प्रभावित नहीं कर पाती है। पूर्ति वक्र अनुलम्ब होने के कारण स्फीति तथा बेरोजगारी के बीच विनिमय होता है।

13.10 फिलिप्स वक्र की आलोचना

1. प्रो. जॉनसन के अनुसार “फिलिप्स के दृष्टिकोण का मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने रोजगार तथा स्फीति के अस्पष्ट एवं सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर बेरोजगारी के प्रतिशत तथा मुद्रास्फीति की दर के सम्बन्ध में एक तथ्यपरक एवं आनुभाविक विवेचन प्रस्तुत किया।”
2. अमरीका में देखा गया कि स्फीति में वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारों का स्तर ऊँचा था जो फिलिप्स वक्र की मान्यता के विरुद्ध है।
3. व्यावहारिक अनुभव स्थिर फिलिप्स वक्र की मान्यता के विपरीत होने के लिये दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की गयी। पूर्ति पक्षों के अर्थशास्त्रियों ने इनके लिये “प्रतिकूल पूर्ति झटकों” को उत्तरदायी माना है। 1970 में तेल की कीमतों में वृद्धि ने लागतों को प्रभावित किया जिस कारण पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठ गया। इसे ही प्रतिकूल पूर्ति वक्र और दी हुयी मांग रेखा के बीच स्थापित हुआ जहाँ कीमतों में वृद्धि और उत्पादन में कमी दिखायी दी।

4. फ्रीडमैन न अपना मत प्रस्तुत करते हुये कहा कि फिलिप्स वक्र अल्पकाल में नीचे की ओर गिरता हुआ होता है। परन्तु स्थिर होने के बजाय यह दायीं अथवा बायीं ओर हट सकता है। और दीर्घकाल में स्फीति एवं बेरोजगारी में विनिमय की मान्यता समाप्त हो जाती है।
 5. विवेकापूर्ण प्रत्याशाओं के सिद्धान्त ने तो फिलिप्स वक्र की सत्यता को पूर्णतया स्वीकार दिया।
 6. प्रो. पेचमैन के अनुसार संख्यात्मक तथ्यों से पूर्ण रूप से यह पुष्टि नहीं होती कि ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी और मजदूर दर के बीच प्रो. फिलिप्स का सिद्धान्त पूर्णतया सही है।
 7. फेलप्स के अनुसार स्फीति तथा बेरोजगारी के बीच सदैव ऐसा ऋणात्मक सम्बन्ध नहीं होता जैसा कि फिलिप्स वक्र में दिखायी दिया है।
 8. फ्रीडमैन ने आगे बताया कि बेरोजगारी की एक सामान्य दर होती है जिसमें घर्षणात्मक बेरोजगारी प्रमुख है। सामान्य से कम बेरोजगारी की स्थिति में अल्पकालीन फिलिप्स वक्र ऊपर की धूमंगा और कीमतों में तेजी से वृद्धि होगी। विपरीत दशा में फिलिप्स वक्र नीचों की ओर जायेगा।
 9. टॉबिन ने व्याख्या दी कि अर्थव्यवस्था में विस्तार के साथ फिलिप्स वक्र के आकार में परिवर्तन होता है और निश्चित समय के बाद उसका आकार लम्बरूप हो जाता है। यहाँ पर बेरोजगारी की दर काफी नीचे होता है। जहाँ पर फिलिप्स वक्र व्यकुचित हो जाती है, वहाँ पर बेरोजगारी और स्फीति के मध्य सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।
 10. आर्थिक नीतियों के निर्धारण में भी फिलिप्स वक्र की आलोचना हुयी है क्योंकि यह वक्र एक सांख्यिकीय विवरण है जो श्रम बाजार के समायोजन पर आधारित है। परन्तु कोई मौद्रिक नीति का आधार यहाँ पर नहीं है।
 11. आर्थिक उच्चावचनों की स्थिति में श्रम बाजार प्रभावित होता है, जिसमें फिलिप्स वक्र की व्यावहारिता अथवा नीतिगत प्रयोज्यता संदेहपूर्ण हो जाती है।
- यह भी देखा गया है 1970 के दशक के बाद बेरोजगारी और स्फीति के मध्य के कोई निश्चित संबंध नहीं रहा है। ऊँची स्फीति दर और ऊँची बेरोजगारी ने Stagflation की स्थिति उत्पन्न की है। जिसका फिलिप्स वक्र बताने में असमर्थ है।

13.11 सारांश

1958 में प्रकाशित अपने लेख में फिलिप्स ने "**Relations between unemployment and the rate of change in money wages in the U.K. 1861-1957**" में इसी काल में ब्रिटेन के अध्ययन के अर्न्तगत मजदूरी दर तथा बेरोजगारी के बीच सम्बन्ध की व्याख्या की। एकत्रित किये गये आँकड़ों के विश्लेषण से यह स्पष्ट किया कि मौद्रिक एवं बेरोजगारी की दर में विपरीत सम्बन्ध होता है। क्योंकि यह सम्बन्ध फिलिप्स द्वारा बताया गया अतः इससे प्राप्त वक्र को फिलिप्स वक्र की संज्ञा दी गयी। फिलिप्स वक्र बेरोजगारी की दर तथा मुद्रा मजदूरी परिवर्तनों की दर में सम्बन्ध का निरीक्षण करती है कि बेरोजगारी और मौद्रिक मजदूरी दरों के बीच सम्बन्ध अति आरेखीय होता है। एक स्थिर फिलिप्स वक्र बेरोजगारी दर में स्थायी कमी को दर्शाता है जिसका स्फीति दर में स्थायी वृद्धि से विनिमय किया जा सकता है।

फिलिप्स वक्र के आधार से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्फीति को रोकने के लिये मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है अन्य शब्दों में, बेरोजगारी का स्तर दिया होने पर, स्फीति की कितनी दर सहन की जा सकती है। बेरोजगारी के एक विशेष स्तर से मेल खाती हुयी स्फीति की दर निर्धारित करने से अनेक प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ता है। अतः समस्या चुनाव को उत्पन्न होती है। एक तटस्था वक्र के माध्यम से अनुकूलतम स्फीति-बेरोजगारी संयोग के चुनाव के समस्या का विश्लेषण किया जा सकता है।

फ्रीडमैन तथा फेल्लप्स ने त्वरणवादी अथवा अनुकूलित प्रत्याशाओं परिकल्पना की। फ्रीडमैन के अनुसार एक स्थिर नीचे दायीं और ढालू फिलिप्स वक्र की मान्यता की आवश्यकता नहीं है। स्फीति की वास्तविक दर तथा प्रत्याशित दर के बीच अंतर के कारण ही फिलिप्स वक्र नीचे दायीं और ढालू होता है। दीर्घकाल में जब यह अंतर समाप्त है तो फिलिप्स वक्र अनुलम्ब हो जाता है। फिलिप्स वक्र में संशोधन टोबिन एवं सोलो ने प्रस्तुत किए। अनुकूलित प्रत्याशा परिकल्पना ने इस बात को स्वीकार कि दीर्घकाल में बेरोजगारी और स्फीति में विनिमय नहीं होता। विवेकपूर्ण प्रत्याशाओं के सिद्धांत के अनुसार कुल पूर्ति वक्र पूर्ण रोजगार के स्तर पर अनुलम्ब रेखा के रूप में ही होता है।

13.12 शब्दावली

1. **घर्षणात्मक** :- जहाँ श्रमिक एक कार्य से हटकर दूसरे कार्य में लग जाते हैं।)
2. **आरेखीय** :- Non linear जो सरल रेखा में न हो।
3. **बेरोजगारी की प्राकृतिक दर** :- वह दर जिस पर श्रम बाजार में बेरोजगारों की संख्या उतनी है जितनों को रोजगार दिया जा सकता है।
4. **अनुकूलित प्रत्याशा परिकल्पना** :- इस के अनुसार स्फीति की प्रत्याशित दर सदैव वास्तविक दर से पीछे रहती है।
5. **प्रतिकूल पूर्ति झटकार** :- कुल पूर्ति रेखा को लागत में वृद्धि से बायी ओर उठ जाना

13.13 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. मूल रूप में फिलिप्स वक्र कौन से तत्वों के बीच विनिमय व्यक्त करता है।
 - a) मजदूरी दर तथा स्फीति
 - b) बेरोजगारी तथा मजदूरी दर
 - c) बेरोजगारी तथा स्फीति
 - d) उपयुक्त सभी
2. फिलिप्स वक्र के सम्बन्ध में सही क्या है?
 - a) स्फीति तथा बेरोजगारी के बीच सीधा सम्बन्ध।
 - b) स्थायी फिलिप्स वक्र की धारणा।
 - c) मजदूरी दर तथा बेरोजगारी के बची आरेखीय सम्बन्ध।
 - d) मजदूरी दर तथा बेरोजगारी के बीच रेखीय सम्बन्ध।
3. मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार फिलिप्स वक्र -
 - a) केवल एक कल्पना मात्र है।
 - b) दीर्घकाल में सही है।

- c) अल्पकाल में संभव है। d) बेरोजगारी की नही स्वाभाविक दर से संबंधित है।
4. फिलिप्स वक्र व्यकुंचित आकार का हो सकता है, किसने ऐसा नाम है?
- a) लिप्से b) फेलप्स
c) टॉबिन d) सोलो
5. किसके अनुसार फिलिप्स वक्र को लम्बरूप अधिक मजदूरी के कारण नहीं, वरन् श्रम बाजार की अपूर्णता के कारण होता है?
6. 'स्टेगफ्लेशन' की स्थिति फिलिप्स वक्र को -
- a) प्रमाणित करता है b) खण्डन करती है
c) आंशिक रूप से स्वीकार करती है। d) कोई नहीं

13.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- 1) b, 2) c 3) c 4) c 5) टोबिन 6) b

13.15 संदर्भ सहित ग्रन्थ

- डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डा० टी०टी० सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

13.16 कुछ सहयोगी पुस्तकें

- Dwivedi, D.N. (1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
- Ahuja, H. L. ((1910) Principles of Macro Economics, S&Chand Publishing House .
- Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House

13.17 निबन्धात्मक प्रश्न

- फिलिप्स वक्र क्या है? इसकी विवेचना कीजिये और इसके नीति निहित तत्वों की व्याख्या कीजिये।
- फिलिप्स वक्र किस प्रकार बेरोजगारी और स्फीति में विनिमय की व्याख्या करता है? इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये
- फिलिप्स वक्र के संबंध में मिल्टन फ्रीडमैन की विचारों की समीक्षा कीजिये।

इकाई-14 केन्द्रीय बैंक के मौद्रिक नीति के यंत्र

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति अथवा साख नियन्त्रण का अर्थ

14.4 केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के उद्देश्य -

14.6 केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियों के यंत्र

14.6.1 परिणामत्मक नियन्त्रण

14.6.2 साख नियन्त्रण

14.7 परिमाणात्मक एवं गुणात्मक रीतियों का समन्वित उपयोग

14.8 गुणात्मक साख नियन्त्रण की सीमाएं

14.9 साख नियन्त्रण की कठिनाइयां

14.10 सारांश

14.11 शब्दावली

14.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

14.13 संदर्भ सहित ग्रन्थ

14.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.15 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत अध्याय में केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति पर प्रकाश डाला गया है। मुद्रा में चलन एवं साख दोनो ही शामिल है। आज के आधुनिक समय में साख मुद्रा का प्रयोग अधिक होने से साख की मात्रा में होने वाले परिवर्तन का देश की अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

केन्द्रीय बैंक सम्पूर्ण मुद्रा बाजार पर अधिकार रखता है अतः अपनी मौद्रिक नीतियों के माध्यम से वह अर्थव्यवस्था पर मुद्रा की मांग का अनुमान लगा सकता है। एवं उन्हें व्यवस्थित एवं समायोजित करने का दायित्व भी केन्द्रीय बैंक का होता है।

आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने के लिये केन्द्रीय बैंक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य कमर्शियल बैंको की साख निर्माण शक्ति को नियन्त्रित करना है ताकि अर्थव्यवस्था के भीतर स्फीतिकारी तथा अवस्फीतिकारी दबावों को नियंत्रण में रखा जा सके।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकेंगे कि -

1. मौद्रिक नीति के यंत्र क्या है?
2. साख नियन्त्रण का अर्थ क्या है?
3. साख नियन्त्रण की रीतियों के गुण एवं दोष क्या है?
4. साख नियन्त्रण अथवा मौद्रिक नीति के यंत्र अर्थव्यवस्था में कितने प्रभावशाली है।

14.3 केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति अथवा साख नियन्त्रण का अर्थ

साख नियन्त्रण का अर्थ है केन्द्रीय बैंक द्वारा कमर्शियल बैंको की उधार देने की नीति को नियन्त्रित करना। प्रो. रॉबर्टसन का प्रसिद्ध कथन है कि "मुद्रा जो मानव जाति के लिये अनेक सुखो का स्रोत है", नियन्त्रण के बिना संकट एवं उलझनों का कारण भी बन सकती है।

देश में आर्थिक क्रिया को बनाए रखने के लिये केन्द्रीय बैंक कमर्शियल बैंको के साख निर्माण को प्रभावित करता है एवं उसे नियन्त्रित भी करता है जिससे कि अर्थव्यवस्था में सन्तुलन बनाया जा सके।

14.4 केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के उद्देश्य

साख नियन्त्रण को नियन्त्रित करना नितान्त आवश्यक है। समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार साख को नियन्त्रित करने के उद्देश्यों में परिवर्तन होते गये। जहाँ स्वर्णमान के पतन के पूर्व मुद्रा प्रणाली में स्वयं संचालनकता का गुण होने के कारण विनिमय दरों में स्थिरता को उद्देश्य बनाया गया जिससे कि कीमत स्तर में स्थिर स्वयं ही

आ जायेगी। परन्तु 1930 का महामन्दी ने विनिमय स्थिरता की अपेक्षा मूल्य स्थिरता देश के आर्थिक हितों के लिये अधिक आवश्यक है।

आधुनिक विचारधारा के अन्तर्गत विनिमय स्थिरता एवं कीमत स्थिरता दोनों ही आवश्यक है। निम्नलिखित उद्देश्य की पूर्ति के लिये केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करता है।

1. **देश में कीमत स्थिरता को बनाए रखना-** कीमतों में बार-बार होने वाले परिवर्तन से अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्फीतिकारी अथवा अवस्फीतिकार प्रवृत्तियों को रोकना आवश्यक है। साख नियन्त्रण की नीति द्वारा इन्हें पाया जा सकता है।
2. **विदेशी विनिमय दर को स्थिर बनाना-** कीमतों के गिरने से निर्यातों में वृद्धि होती है और आयतों में घरेलू करेन्सी की मांग बढ़ती है और इसकी विनिमय दर बढ़ जाती है और विलोमशः चूंकि साख मुद्रा की मात्रा ही कीमतों को प्रभावित करती है, इसलिये बैंक साख को नियन्त्रण करके केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की दर को स्थिर बना सकता है।
3. **सोने के बाह्य प्रवाह को रोकना -** आयात बढ़ जाने से और भुगतान संतुलन की स्थिति प्रतिकूल हो जाने से यह आवश्यक हो जाता है कि अन्य देशों को सोने का निर्यात किया जाय। इस तरह होने वाले सोने के बाह्य प्रवाहों को रोकने के लिये केन्द्रीय बैंक को साख पर नियन्त्रण करना पड़ता है।
4. **व्यापार चक्रों को नियन्त्रित करना -** "स्मृति तथा मन्दी की अवधियों में बैंक साख की मात्रा घटाकर और बैंक साख का विस्तार करके क्रमशः केन्द्रीय बैंक चक्रीय उतार चढ़ावों की रोकथाम कर सकता है।"
5. **व्यापार की जरूरतें पूरी करना -** बर्जेस के मतानुसार साख नियन्त्रण के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक यह है कि "आख की मात्रा का व्यापार" जैसे-2 व्यापार बढ़ता है वैसे-2 अधिक मात्रा में साख की जरूरत यह तो है और विलोमशः।
6. **स्थिरता पूर्वक वृद्धि करना -** साख नियन्त्रण का लक्ष्य है पूर्ण रोजगार उपलब्ध करना और अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी दबावों क्षेत्र भुगतान शेष घाटो से रहित स्थिरतापूर्वक तीव्र वृद्धि लाना।

मौद्रिक नीति के यंत्र या साख नियन्त्रण नीति का उद्देश्य स्थिरता प्राप्त करने के साथ साथ आर्थिक विकास में सहायक होना भी है।

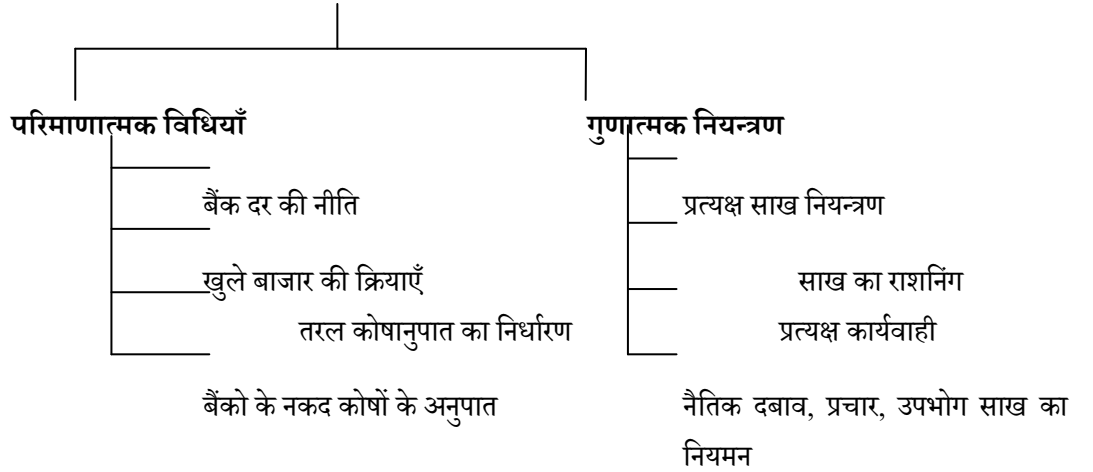
साख नियन्त्रण की आवश्यकता के संबंध में सभी अर्थशास्त्री एकमत ही है इसके उद्देश्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। विनिमय दरों में स्थिरता, आन्तरिक मूल्यों की स्थिरता, आय एवं रोजगार की उच्च स्तर पर स्थिरता एवं आर्थिक विकास की गति में स्थिरता जैसे उद्देश्यों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध क्योंकि एक की प्राप्ति के लिये दूसरे को ध्यान रखना आवश्यक है।

एक अच्छी मौद्रिक एवं साख नीति वही है जो स्थिरता एवं विकास के उद्देश्यों में समन्वय स्थापित कर सके। इस दृष्टि से इसका निर्धारण तथा प्रयोग अत्यन्त सावधानी सर्तकता एवं कुशलता से करना चाहिये।

प्रत्येक केन्द्रीय बैंक अपनी अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों के अनुरूप साख नियन्त्रण की अलग-2 रीतियां अपनाता है। इस नियन्त्रण को एक चार्ट के माध्यम से दर्शाया जा सकता है-

14.6 केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियों के यंत्र

केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियों के यंत्र



1. **परिमाणात्मक विधियों** का सम्बन्ध साख की मात्रा तथा उसकी कीमत अर्थात् ब्याज दर के नियन्त्रण से होता है। इस प्रकार का उपाय बैंक के नकद कोषों को नियमन करके उनकी साख निर्माण की शक्ति को प्रभावित करते है। इनके अन्तर्गत जो रीतियाँ आती है उनका उद्देश्य साख का परिणामत्मक नियन्त्रण करना होता है।

2. **गुणात्मक नियन्त्रण** - वे विधियाँ साख के प्रयोग और दिशा की नियंत्रित करते है। बैंक की साख निर्माण की शक्ति को बिना प्रभावित किये इन उपायो के अन्तर्गत साख का प्रयोग केवल उन्ही कार्यों के लिये करने की अनुमति दी जाती है। जिन्हें केन्द्रीय बैंक स्वीकार्य समझता है। इन रीतियों का प्रयोग विशेष रूप से अमेरिका में अधिक किया गया है।

14.6.1 परिमाणात्मक नियन्त्रण

1. **बैंक दर नीति:-** बैंक दर से अभिप्राय उस ब्याज दर से जिस पर केन्द्रीय सदस्य बैंक के साथ श्रेणी के बिलों की पुर्नकटौती करता है अथवा स्वीकार्य प्रतिभूतियों पर ऋण देता है। कई देशों में इसे कटौती दर भी कहा जाता है।

बैंक दर के अलावा एक बाजार दर भी होती है। ब्याज की बाजार दर वह दर है जिस पर वाणिज्यिक बैंक तथा अन्य संस्थायें बिलों की कटौती करती है। साधारण रूप से बाजार दर बैंक दर से सम्बन्धित है। बैंक दर में वृद्धि

से बजार दर देने पर वाणिज्यिक बैंक अपने ग्राहकों से भी ऊँची ब्याज पर वसूल करती है। परन्तु जब वाणिज्यिक सस्ती ब्याज दरें केन्द्रीय बैंक को अदा करती है तो वह ग्राहकों को भी सस्ती दर पर ऋण उपलब्ध कराती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि बैंक दर के बढ़ जाने से और घटने से बाजार दर घट जाती है। बाजार दर बढ़ने से ऋण लेना मंहगा हो जाता है। जिसके फलस्वरूप व्यापार की ऋणों के लिये मांग पहले की अपेक्षा कम हो जाती है तथा साख का संकुचन होता है। इसके विपरित होने पर साख का प्रसार होता है।

अतः बैंक दर का सिद्धान्त यह है कि बैंक दर बढ़ाने से साख का संकुचन होता है और बैंक दर घटाने से साख का विस्तार होता है।

अतएव अर्थव्यवस्था में जैसी स्थिति लानी हो, वैसी ही क्रिया की जाती है। व्यापार क्रिया को प्रोत्साहन देने के लिये साख का विस्तार किया जाता है जिसके लिये बाजार दर को कम करना होता है। अर्थात् बैंक दर को कम करके केन्द्रीय बैंग साख में नियन्त्रण ला सकती है।

जब स्फीति सीमा से परे हो गयी हो, तो साख को घटाना होता है। तब केन्द्रीय बैंक बैंक दर को बढ़ा देती है। और उधार लेना मंहगा हो जाता है। आगे में वाणिज्यिक बैंक उपभोक्ताओं को उधार लेना मंहगा हो जाता है। जिससे नये कर्जों के लिये उत्साह इससे व्यापार क्रिया हतोत्साहित होती है।

इस प्रकार बैंक दर कम होने से अवस्फीतिकारी प्रवृत्तियों की क्षतिपूर्ति हो जाती है तथा बैंक दर बढ़ने से स्फीति रूक जाती है।

बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव:-

- i. साख संकुचन एवं प्रसार
- ii. आन्तरिक कीमत स्तर तथा रोजगार पर प्रभाव बैंक दर में वृद्धि से निवेश गिर जाता है और उत्पादन में कमी होती है। जिसका असर रोजगार पर पड़ता है। दोनों में कमी होने से लोगों की मौद्रिक आय में कमी हो जाती है, जिसका असर मांग पर पड़ता है। और संकुचन की कीमते गिरने लगती है। संक्षेप में मुद्रा संकुचन का क्रम चल पड़ता है और विलोमशः।
- iii. विदेशी पूँजी प्रवाह पर प्रभाव-बैंक दर बढ़ने से जो बाजार दर में वृद्धि होती है उससे अल्पकालीन विदेशी पूँजी के आगमन को प्रोत्साहन मिलता है ऊँची ब्याज दरें आकर्षित करती है। विदेशों में धनराशि का आयात होने पर देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति में बिना स्वर्ण कोषों को निर्यात किये सुधार होने लगता है। इसके विपरीत बैंक दर के कम होने से अल्पकालीन पूँजी देश के बाहर जाने लगती है।
- iv. विनिमय दर पर प्रभाव- जब बैंक दर में वृद्धि होती है और विदेशी पूँजी देश में आने लगती है तो देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जाता है और विनिमय दर भी अनुकूल हो जाता है। जब स्थितियां विपरीत होती है तो भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाती है।
- v. व्यावसायिक सम्भावना पर प्रभाव-बैंक दर की वृद्धि होने पर व्यापारियों को यह संकेत मिलता है कि व्यापारिक क्रियाओं के विस्तार के लिये भविष्य में परिस्थितयां अनुकूल नहीं है। जबकि बैंक दर गिरने के अर्थ है कि भविष्य निरापद है और व्यावसायिक क्रियाओं का विस्तार करने का खतरा नहीं है।

डी० कॉक के अनुसार बैंक दर नीति का प्रभाव कुछ विशेष दशाओं में ही होता है। वे हैं:-

1. बैंक द्वारा बैंक दर में किये गये परिवर्तनों का बाजार की मुद्रा एवं साख की अन्य दरों पर तत्काल प्रभाव पडना चाहिए। यह उस समय और भी अधिक आवश्यक होता है जब केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य बैंक दर की वृद्धि के द्वारा साख संकुचन करना होता है।
2. देश की आर्थिक व्यवस्था प्रयाप्त मात्रा में लोच होना भी आवश्यक है जिससे मुद्रा एवं साख की दरों में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप कीमते, मजदूरी, लगान, उत्पादन तथा रोजगार सभी प्रभावित हो सके।
3. पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण नहीं होना चाहिए।

बैंक दर नीति क अन्तर्गत सिद्धान्त -

बैंक दर में परिवर्तन काफी महत्वपूर्ण होता है। परन्तु यह विवाद का विषय है कि इस के कारण विनियोग तथा आर्थिक क्रियाओं की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस संबंध में दो विचारधारा प्रस्तुत है:-

1. **हॉट्ट की विचारधारा** जिसके अन्तर्गत उन्होंने। Art of Central Banking and a Century of Bank Rate में यह उल्लेख किया कि बैंक दर में परिवर्तन ब्याज की अल्पकालीन दरों तथा कार्यशील पूँजी के माध्यम से अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालते है। बैंक दर में होने वाले परिवर्तन ब्याज की अल्पावधि दरों के परिवर्तनों को प्रभावित करते है जो आगे व्यापारियों और उत्पादकों को क्रियाओं को प्रभावित करती है।

2. **केन्ज का मत**-केन्ज को अपनी Trading on Money के अनुसार बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव ब्याज की दीर्घकालीन दरों तथा स्थिर पूँजी के माध्यम से पड़ता है। ब्याज की अल्पकालीन दरों में परिवर्तन दीर्घकालीन दरों को प्रभावित करते है। अल्पकालीन दरों में वृद्धि के कारण दीर्घकालीन पूँजी बाजार में पूँजी लगाना कम आकर्षक होगा। केन्ज की विवेचना के अनुसार बैंक दर उसी दशा में प्रभावित करेगी जब उसके लिये समुचित वातावरण हो, अर्थात् लोगों की मनोवृत्ति उसके अनुकूल हो।

हॉट्टे व केन्स के विचारों का समन्वित रूप

हॉट्टे तथा केन्स के विचारों में बैंक दर के परिवर्तन का प्रभाव सबसे पहले ब्याज की अल्पकालीन बाजार दरों पर पड़ता है। पर जहाँ हॉट्टे का जोर अल्पकालीन ब्याज दरों पर था वही केन्स के अनुसार अल्पकालीन ब्याज दरें पहले दीर्घकालीन ब्याज दरों को प्रभावित करती है।

अंतिम विश्लेषण में यह मानना पड़ेगा कि अनुकूल परिस्थितियों में अल्पकालीन तथा ब्याज दरें दोनों ही आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है, अन्यथा दोनों ही प्रभावित हो सकती है। अतः दोनों विचार धाराओं को बहुत कुछ एक-दूसरे के पूरक समझे जा सकते है।

रेडक्लिफ विचाराधारा: -

रेडक्लिफ समिति 1959, ने व्यापार क्रिया पर बैंक दर के दो प्रभावों का विश्लेषण किया था। पहला ब्याज प्रोत्साहन प्रभाव से संबंध रखता है, जबकि दूसरा सामान्य तरलता से संबंध रखता है। जबकि दूसरा सामान्य तरलता प्रभाव से।

ब्याज की दर में परिवर्तन से बाजार दरें प्रभावित होती है जिसके फलस्वरूप फर्मों के निवेश व्ययों में परिवर्तन को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु रेडक्लिफ समिति ने ब्याज प्रोत्साहन प्रभाव को इसलिये अंसगत ठहराया क्योंकि व्यापार संबंधी निर्णय प्रमुख तौर से ब्याज दरों में होने वाले परिवर्तनों से स्वतंत्र होते है।

इस समिति का मत है कि बैंक दर में परिवर्तन का ब्याज प्रोत्साहन प्रभाव बहुत ही कम होता है, इसलिये "मूल्यन प्रभाव" अथवा "सामान्य तरलता प्रभाव" पड़ सकता है। बैंक दर में परिवर्तनों की वास्तविक शक्ति उसके उन प्रभावों में निहित है जो वह बाजार ब्याज दरों के माध्यम से वित्तीय संस्थानों के विभिन्न वर्गों की तरलता पर डालती है और जो तरलता आगे दूसरों की तरलता को प्रभावित करती है यही बैंक दर में परिवर्तन का सामान्य तरलता प्रभाव प्रभाव है इस प्रभाव का विश्लेषण करते समय समिति ने अल्प, मध्य तथा दीर्घाविधि ब्याज दरों के परस्पर संबंध को ध्यान में रखा है।

बैंक दर नीति की सीमाएँ:-

1. इस नीति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि इस दर में परिवर्तन का प्रभाव मुद्रा बाजार में अन्य ब्याज दरें पर भी पड़े। यह तभी मुमकिन है जब मुद्रा बाजार सुसंगठित एवं विकसित हो।
2. देश में वाणिज्यिक बैंको की केन्द्रीय बैंक पर अंतिम ऋणदाता के रूप में निर्भरता भी आवश्यक है।
3. एक विकसित बिल बाजार भी होना आवश्यक है।
4. अर्थव्यवस्था लोचपूर्ण होना चाहिये ताकि बैंक दरें बढ़ने या घटने पर कीमत स्तर, लागत, रोजगार, उत्पादन आदि में वांछित परिवर्तन हो सके। यह भी आवश्यक है कि बैंक दर में वृद्धि होने पर बैंको की जमा राशियों में वृद्धि हो।
5. जहाँ अधिकांश निवेश सार्वजनिक क्षेत्र का होता है तथा सरकार द्वारा नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपाय अपनाये जाते हैं, बैंक दर की नीतिका महत्व कम हो जाता है।
6. तेजी के काल में लाभ में होने वाले निरन्तर वृद्धि को बैंक दर में वृद्धि न तो साख संकुचन कर पाती और न विनियोग में कमी। मंदी काल में तो यह नीति और भी असफल हो जाती है।
7. बैंक दर की नीति की प्रभाविता व्यापारियों की आशावादिता अथवा निराशावादित की लहरों पर भी निर्भर करती है।

बैंक दर नीति का विकास:-

इस नीति का सर्वप्रथम प्रयोग बैंक ऑफ इंग्लैण्ड ने सन् 1839 में किया था। 1900 तक बैंक दर में इंग्लैंड ने 400 बार तथा फ्रान्स ने 111 बार परिवर्तन किये। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड का अनुभव यह था कि बैंक दर का प्रयोग मन्दी अथवा तेजी की प्रवृत्तियों के प्रारम्भ में ही प्रभावपूर्ण हो सकता है, आगे जाने पर नहीं। दूसरा, बैंक दर को सामान्यतः ब्याज दर से ऊँचा रखा जाय जिससे कि केन्द्रीय बैंक की सहायता अन्य बैंको द्वारा केवल संकट काल में ही प्राप्त की जाय।

प्रथम महायुद्ध के बाद जब स्वर्णमान को पुनः अपनाया गया वो बैंक दर के प्रयोग में कमी आ गयी जिससे अन्य साधनों का प्रचलन आरम्भ हुआ। 1929 की महामन्दी एवं 1931 में स्वर्णमान के परित्याग के बाद तो बैंक दर का प्रयोग तथा महत्व बिल्कुल ही घट गया।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् 1950 के बाद बैंको द्वारा बैंक दर को फिर से साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है।

भारत में रिजर्व बैंक द्वारा नवम्बर 1935 के बाद सर्वप्रथम 1951 में बैंक दर को 3 प्रतिशत वार्षिक से बढ़ाकर 3½ कर दिया गया।

वर्ष	बैंक दर (प्रतिशत)
1935	3½
1951	3½
1965	6
1974	9
1981	10
3 July, 1991	11
4 Oct, 1991	12
1998	8
1900	7
16 Feb, 1901	7.5
1 Mar, 1901	7
22 Oct, 1901	6.5
1903	6.0
1911	N.A.
1912	N.A.

रिपो रेट:- मुद्रा बाजार में ब्याज दरों के संबंध में रिपो दर निम्नतम सीमा तथा बैंक दर उच्चतम सीमा का निर्देशन करती है। रिजर्व बैंक द्वारा तरलता घटाने के लिये रिवर्स रिपो तथा बढ़ाने के लिये रिपो का प्रयोग किया जाता है। रिजर्व बैंक की तरलता समायोजन सुविधा के अन्तर्गत स्थिर रिपोदर को जुलाई 1906 से 6% किया गया। और रिपो दर 100 मूल बिन्दु अधिक पर 7% रखा गया है।

2. खुले बाजार की क्रियाएँ:- मात्रात्मक साख नियन्त्रण की एक रीति है जहाँ केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार में किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है। सीमित अर्थ में इसका तात्पर्य केवल सरकारी सिक्योरिटियों तथा बांडों का क्रय-विक्रय है।

खुले बाजार के दो प्रमुख उद्देश्य हैं।

1. वाणिज्यिक बैंकों की आरक्षितियों को प्रभावित करना ताकि उनकी साख निर्माण की शक्ति पर नियन्त्रण रखा जा सके।

2. ब्याज की बाजार दरों की प्रभावित करना ताकि वाणिज्यिक बैंक साख पर नियन्त्रण रखा जा सके।

साख एवं मुद्रा के संकुचन अथवा प्रचार पर जहाँ बैंक दर का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है, वही खुले बाजार के नीति का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं तत्काल होता है। बैंक दर के अप्रभावी होने की दशा में एक सहायोगी के रूप में खुले

बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया जा सकता है इस क्रियाओं को उद्देश्य सरकार की ऋण-नीति की पुष्टि करना भी हो सकता है।

मंदी काल में केन्द्रीय बैंक विस्तारात्मक नीति अपनाता है और वाणिज्यिक बैंको और प्रतिभूतियों का व्यापार करने वाली वित्तीय संख्याओं से प्रतिभूतियां खरीदता है। इन विक्रेताओं को वह अपने नाम का चैक देता है। विक्रेता जब इन चैकों को वाणिज्यिक बैंको में जमा करते हैं तो वाणिज्यिक बैंका के रिजर्व बढ़ जाते हैं। स्फीति काल में इसका विपरीत होता है।

जब खुले बाजार प्रचालनों के परिणाम स्वरूप मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होता है तो ब्याज की बाजार दरें भी परिवर्तन होती हैं तो ब्याज की बाजार दरें भी परिवर्तित होती हैं। जब प्रतिभूतियों के विक्रय से बैंक मुद्रा घटेगी तो उसका परिणाम यह होगा कि ब्याज की बाजार दरें बढ़ जायेगी। दूसरी ओर यदि प्रतिभूतियों के क्रय के माध्यम से बैंक मुद्रा की पूर्ति बढ़ेगी तो परिणामतः ब्याज की दरें घट जायेगी।

खुले बाजार प्रचालनों की सीमाएं -

1. मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों की मांग तथा पूर्ति न रहने पर केन्द्रीय बैंक की खुली बाजार क्रिया कभी सफल नहीं हो सकती।
2. वाणिज्यिक बैंक अपने नगद कोषों में होने वाले परिवर्तन के अनुसार घटी-बढ़ी होना आवश्यक है।
3. खुले बाजारों की क्रियाओं के लिये मुद्रा बाजार का सुसंठित होना आवश्यक है।
4. देश की परिस्थितियां अनुकूल होनी चाहिए क्योंकि प्रतिकूल राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण जमाकर्ताओं एवं ऋणियों के आचरण में असाधारण परिवर्तन हो सकते हैं।
5. केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने व बेचने की शक्ति पर भी खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता निर्भर करती है।
6. इस नीति की सफलाता प्राप्ति के लिये केन्द्रीय बैंक का प्रतिभूतियों में विनियोग पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है।

खुले बाजार नीति का विकास:-प्रथम महायुद्ध के पूर्व बैंक ऑफ इंग्लैंड तथा जर्मनी केवल कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों का कभी-कभी विक्रय कर लेते थे। युद्ध काल में खुले बाजार की प्रक्रिया को प्रयोग युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से किया गया। स्वतन्त्र रूप से इसका नियमित प्रयोग 1930 के बाद ही आरम्भ हुआ।

इस खुले बाजार की क्रियाओं का व्यापक स्तर पर प्रयोग अमेरिका तथा कनाडा में ही होता है। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा यह नीति उतनी प्रभावी ढंग से प्रयोग में नहीं लाई जा रही है। परन्तु वर्तमान मौद्रिक सुधारों के अन्तर्गत इस नीति को महत्व दिया गया है। सरकारी प्रतिभूमियों के बाजार का विस्तार एवं विकास करने के अनेक उपाय हैं। रिजर्व बैंक द्वारा चल निधि के प्रबन्ध के लिये खुले बाजार की क्रियाओं का सक्रिय रूप से प्रयोग किया जाना लगा है और इनका महत्व बढ़ गया है।

3. नकद कोषानुपात में परिवर्तन (Variation in the cash reserve ratio)

इसे आवश्यक रिजर्व अनुपात अथवा न्यूनतम कानूनी आवश्यकता भी कहा जाता है। इसका सुझाव सर्वप्रथम केन्स ने अपनी (Treatise on money) पुस्तक में दिया था और 1935 में अमरीका के Federal Reserve System ने अपनाया था।

प्रत्येक सदस्य बैंक के लिये यह आवश्यक होता है कि वे अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास नकद कोष के रूप में जमा रखे। इस अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करके बैंको की साख निर्माण की शक्ति को केन्द्रीय बैंक नियन्त्रित करता है। यदि प्रतिशत अनुपात में वृद्धि होती है तो उनके पास नकद की मात्रा कम हो जाती है। और उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरित यदि केन्द्रीय बैंक के पास जमा नगद कोषों के अनुपात में कमी करने पर बैंको की साख निर्माण शक्ति बढ़ जाती है।

एक उदाहरण के माध्यम से इसे समझाया जा सकता है। भारत में सभी अनुसूचित बैंक को अपना फुल जमाओं का 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक में रखना होता है, अब यदि यह न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात 3 प्रतिशत से बढ़कर 6 प्रतिशत कर दिया जाय तो बैंको को तत्काल ही रिजर्व बैंक के पास दुगुना नगद कोष जमा करना होगा जिससे साख निर्माण में उनकी शक्ति कम हो जायेगी।

परवर्ती रिजर्व अनुपात की सीमाएँ:-

1. वाणिज्यिक बैंको के पास बड़ी मात्रा में अतिरिक्त नकद कोष होने पर कोषानुपात परिवर्तन उनकी साख निर्माण करने की शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती।
2. अकेले नगद कोषों के आधार पर नहीं, अपितु वाणिज्यिक बैंक अपनी साख नीति का निर्धारण विदेशी कोषों अथवा ऋण जमा अनुपात के आधार पर भी किया जा सकता है।
3. साख की मांग का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मांग कम है तो कोषानुपात में कमी दर कर देने पर साख का विस्तार नहीं हो पायेगा।
4. कोषानुपात में परिवर्तन बार-बार संभव नहीं।
5. इस तकनीक की सफलता रिजर्व अनुपात की स्थिरता की कोटि पर निर्भर करती है।
6. यह पद्धति मात्र वाणिज्यिक बैंकों पर ही लागू होती है, न कि गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं पर अतः उद्देश्य की सफलता में संशय हो सकता है।
7. केन्द्रीय बैंक कोई भी परिवर्तन करने से पूर्व सोच विचार कर निर्णय करें।
8. बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास रखे गये नकद कोषों पर ब्याज नहीं दी जाती। इस घाटे की पूर्ति के लिये बैंक ऋणों पर ब्याज दर में वृद्धि कर सकते हैं।

नीति का विकास:- इस नीति का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिका में किया गया 1933 में थमकमतंस त्मेमतअम ठवंतक को यह अधिकार दिया गया कि संकट काल में च्त्तमेंपकमदज की अनुमति से सदस्य बैंको से नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन कर सके और 1935 में यह अधिकार स्थायी हो गया जहाँ की च्त्तमेंपकमदज की अनुमति भी आवश्यकता नहीं थीं 1936 में न्यूजीलेण्ड तथा 1940 के पश्चात् ऐशिया और दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों के केन्द्रीय बैंको को यह अधिकार दिया गया है। 1953 के पश्चात्, रोडेशिया, न्यासालैण्ड, नार्थ, भारत, दक्षिण

अफ्रीका, कनाडा के केन्द्रीय बैंको को विधान द्वारा तथा नीदरलैण्ड और स्विटजरलैण्ड में पारस्परिक समझौते द्वारा यह अधिकार प्रदान किया गया है।

भारत में यह प्रतिशत आवश्यकता पड़ने पर 15 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। वर्तमान में यह 5 प्रतिशत है।

4. गौण कोष की मांग:-केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको को यह आदेश देता है कि वे अपनी जमाओं का एक निश्चित अनुपात (जो न्यूनतम नकद कोषानुपात के अतिरिक्त होता है) सरकारी प्रतिभूतियों तथा अन्य तरल आदेशों में लगाये। इसके फलस्वरूप बैंको की साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है।

सन् 1945 में सर्वप्रथम अमेरिका में Federal Reserve System के संचालन बोर्ड ने यह मांग की थी कि साख नियन्त्रण के लिये उन्हें बोर्ड ने यह मांग की थी कि साख नियन्त्रण के लिये उन्हें यह अधिकार दिया जाये कि वे वाणिज्यिक बैंको की मांग निक्षेपों का 25 प्रतिशत तथा काल निक्षेपों का 10 प्रतिशत गौण का 25 प्रतिशत रूप में रखने का आदेश दे सके। जहाँ बेल्जियम ने यह रीति 1964 में अपनायी तत्पश्चात अन्य देश जैसे मेंक्सिका, हॉलैण्ड, स्वीडिस, भारत ने भी इस रीति को अपनाया। भारत में वैधानिक तरल कोषानुपात 1992 तक 38.5 प्रतिशत रहा जो चरणबद्ध तरीके से कम करते-2 25 प्रतिशत रह गया है।

डी0 कॉक की विचारधारा के अनुसार “युद्ध सशक्तीकरण अथवा अन्य असमान्य स्थितियों से उत्पन्न असाधारण मुद्रास्फीतिक स्थितियों में मुद्रास्फीति रोकने की निश्चित मौद्रिक नीति में काफी महत्वपूर्ण भाग ले सकती है।”

14.6.2 साख नियन्त्रण (Selective Credit Control Qualitative Controls)

साख नियन्त्रण के चयनात्मक या गुणात्मक तरीकों का प्रयोजन साख के प्रयोक्ताओं और प्रयोगों में साख पूर्ति को नियमित एवं नियन्त्रण करना है। जहाँ एक और मात्रात्मक तरीके साख की लागत एवं मात्रा को नियन्त्रित करते हैं वही यह गुणात्मक साधन साख की कुल राशि को नहीं बल्कि उतनी ही राशि को प्रभावित करते हैं, जो अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र में प्रयुक्त की जा रही है।

उद्देश्य-यह साधन बैंक साख के प्रवाह को सद्भात्मक तथा अन्य अवांछनीय उद्देश्यों से हटाकर सामाजिक दृष्टि से वांछनीय तथा आर्थिक दृष्टि से उपयोगी प्रयोगों की ओर मोड़ना है। मुद्रा की मांग को नियन्त्रित करने के लिये उधार वालों नियम एवं शर्तें लगा देते हैं।

प्रो. चेण्डलर के अनुसार “जो साख के आवंटन को कम से कम उस सीमा तक प्रभावित करते हैं कि चुने हुये उद्देश्यों के लिये प्रयोग होने वाली साख तो कम हो जाये और सए उद्देश्यों के लिये साख की पूर्ति घटाने और साख की लागत बढ़ाने की जरूरत न पड़े।”

1. ऋण की सीमाओं में परिवर्तन करना- (Regulation of Margin Requirement)

यह चयनात्मक साधन साख की कुल राशि को प्रभावित नहीं करते हैं जो नहीं करते, वरन् उस राशि को प्रभावित करते हैं जो अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र में प्रयोग में लाई जा रही है। वास्तव में यह प्रतिभूतियों के मूल्य का वह प्रतिशत है जो कि उधार लिया था या दिया जा सकता है। अन्य शब्दों में, यह कर्ज की वह अधिकतम राशि है जो उधार लेने वाला प्रतिभूमियों के आधार पर बैंको से ले सकता है।

इसका साधारण तरीका यह होता है कि धाराओं के रूप में रखे गये माल के मूल्य तथा ऋण की राशि में अन्तर की सीमाओं ;डंतहपद त्मुनपतमउमदजद्ध को बढ़ा दिया जाता है।

उदाहरण के लिये यदि केन्द्रीय बैंक 1900 ₹0 की प्रतिभूति के मूल्य की 10 प्रतिशत सीमा नियत करता है तो कमर्शियल बैंक उस प्रतिभूति के धारणकर्ता को केवल 1800 ₹0 उधार दे सकता है और शेष 190 ₹0 अपने पास रख सकता है। यदि केन्द्रीय बैंक इस सीमा को बढ़ाकर 19 प्रतिशत कर दे, तो वाणिज्यिक बैंक 1900 ₹0 की प्रतिभूति पर केवल 1600 ₹0 उधार दे सकता है।

इस साधन का विशेष गुण यह है कि यह भेदमूलक नहीं है अर्थात् उधार लेने वालों और देने वालों पर समान रूप से लागू होता है। साथ ही साथ वाणिज्यिक बैंको एवं गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं पर समान रूप से लागू होती है। यह एक प्रभावशाली प्रतिस्फिति युक्ति है क्योंकि ये अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रों में साख का विस्तार को नियन्त्रण करती है जो स्फीति का पोषण करते हैं। यह एक अत्यन्त सुगम एवं सरल नीति है। यहाँ मात्र ध्यान देने की बात इतनी है कि स्टोरियों को बेमतलब दिये जाने वाले ऋणों के रूप में बैंक साख का रिसाव न हो।

2. उपभोक्ता साख का नियमन - जैसा द्वितीय युद्ध काल में सभी यूरोपीय देशों द्वारा उपभोक्ता साख पर नियन्त्रण लगाया गया था। अधिकतम विकसित देशों में अपभोग की मूल्यवान वस्तुएं जैसे वाशिंग मशीन, ए0सी0 आदि आसान किस्तों पर खरीद ली जाती है (Margin Requirement)।

इस साधन का उद्देश्य साख अथवा किराया खरीद वित्त का नियम है। इससे अधिक स्थिरता के निमित्त टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की मांग नियमित की जाती है। इसके लिये केन्द्रीय बैंक दो युक्तियां काम में लाता है - न्यूनतम नगद भुगतान और पुर्नभुगतान की अधिकतम अवधियां। यदि एक टेलीविजन का मूल्य 1900 ₹0 है तो इसे खरीदने के लिये वाणिज्यिक बैंक के पास साख उपलब्ध है। केन्द्रीय बैंक यह तय करता है कि 50 प्रतिशत कीमत नकद चुकाई जाय और शेष राशि का भुगतान अधिकतम 10 महीनों में किया जाय तो उपभोक्ता को 1000 ₹0 खरीदते समय बैंक को देने होंगे और शेष 1000 रुपये दस महीनों में 100 रुपये की मांग बढ़ जायेगी।

इसी प्रकार जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि अर्थव्यवस्था में तेजी की स्थिति आ गई है तो केन्द्रीय बैंक नकद भुगतानों की राशि बढ़ा देता है और पुर्नभुगतान की अधिकतम अवधियां घटा देता है।

परन्तु यह उपाय तकनीकी दृष्टि से दोषपूर्ण है और इसे अमल में लाना कठिन है क्योंकि इसका आधार संकुचित है। अर्थात् इस एक विशेष वर्ग पर आधार होता है। स्फीति आय वाले लोग तो इससे प्रभावित होते हैं। सीमित आय वाले लोग तो इससे प्रभावित होते हैं किन्तु उच्च आय वर्ग वाले नहीं। यह आय संसाधनों का कुविभाजन करता है क्योंकि यह साख नियमों के अर्न्तगत आने वाले उद्योगों से संसाधनों को हटाता है और जहाँ पर साख पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसे उद्योगों का विस्तार करता है।

- I. **ऋणों की प्राप्ति पर नियमन** - कुछ विशेष दोन्तो मेंवही साख को सीमित करना है तो एक निश्चित राशि से अधिक मात्रा में ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और इसके लिये केन्द्रीय बैंक से पूर्व अनुमति भी लेनी पड़ती है।
- II. **आयात पूर्व जमा** - विदेशों से आयातों को निरूत्सहित करने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक ऐसे नियम बना देता है कि आयातकर्ता को आयात लाइसेन्स के लिये प्रार्थना पत्र देते समय ही आयात मूल्य का एक भाग केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य किसी अधिकृत संस्था के पास जमा करना पड़ता है जिस पर ब्याज नहीं दिया जाता है।

3. साख की राशनिंग (Rationing of Credit):-जब केन्द्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में अन्य बैंको की मांग की पूर्ण रूप से पूरा नहीं कर पाता है तो इसे राशनिंग कहते है। यह राशनिंग सामान्यता दो प्रकार को होते है।

A.परिवर्ती निवेश सूची सीमा (Variable Portfolio Ceiling) - इस उपाय के अनुसार केन्द्रीय बैंक वाणिज्यिक बैंको के सकल निवेश सूचियों की अधिकतम सीमा नियम कर देता है और वे उस सीमा से अधिक कर्जे नहीं दे सकते है।

B.परिवर्ती निवेश सूची सीमा अनुपात (Variable capital assets ratio :- यह अनुपात है जिसे केन्द्रीय बैंक किसी वाणिज्यिक बैंक की कुल परिसम्पत्तियों से उसकी पूँजी के संबंध में नियत करता है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख की राशनिंग के विभिन्न तरीके है - (1) किसी बैंक की पुनः कटौती की सुविधा को समाप्त कर देना। (2) सभी बैंको की पुनः कटौती की सुविधा को सीमित कर देना अथवा उसके साख का कोटा निश्चित कर देना (3) विभिन्न बैंको द्वारा विभिन्न उद्योगों अथवा व्यवसायों को दिये जाने वाले ऋणों की सीमा अथवा कोटा निश्चित कर देना आदि।

यह तरीका अत्यन्त प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण है। किन्तु केन्द्रीय बैंक को इसे लागू करने में कठिनाई होती है। देश की अर्थव्यवस्था के एक बहुत बड़े भाग पर सरकारी नियन्त्रण का अभाव रहना भी इस रीति के प्रयोग में एक बहुत बड़ी कठिनाई होती है। यह पद्धति नियोजित अर्थव्यवस्था के लिये अधिक उपयुक्त होती है। तथा इसके प्रयोग से देश में सुव्यवस्थित साख व्यवसाय का निर्माण हो सकता है।

वैजमैन के शब्दों में, "अधिक पिछड़ी आर्थिक स्थितियों में साख का कोटा निर्धारित कर देना ही केवल एक ऐसी निर्णयात्मक विधि है" जो केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यवसाय की ओर से अधिक साख की मांग को रोकने के लिये प्रयोग में लायी जा सकती है।

यह उपाय रूप एवं मेंक्सिको में बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग में लाया गया है। इसलिये यह योजनाबद्ध अर्थव्यवस्थाओं में अपनाई गयी गहन एवं व्यापक आयोजन का तार्किक सहवर्ती है।

4. प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) :- केन्द्रीय बैंक के पास यह अधिकार होता है कि वह अन्य बैंको को अपनी नीति का अनुकरण करने के लिये बाध्य कर सके। जो बैंक इसके विरुद्ध जाता है उसके साथ केन्द्रीय बैंक सीधी अथवा प्रत्यक्ष कार्यवाही करता है जिसके अनुसार वह इन वाणिज्यिक बैंको को पुनः कटौती की सुविधा देना बन्द कर देता है। या ऊँची दर पर देता है। इसके सफलता के लिये हय आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक शक्तिशाली हो, मुद्रा बाजार में उसका नेतृत्व हो तथा बैंक किसी वाणिज्यिक बैंक को यह धमकी भी दे सकता है कि यदि वे उसकी नीतियों और आदेशों का पालन नहीं करेगा, तो केन्द्रीय बैंक उसे अपने हाथ में ले लेगा।

परन्तु इस नीति की कुछ सीमाएं होती है -

1. व्यावहारिक रूप से ये संतोषजनक नहीं होता।
2. वाणिज्यिक बैंक साधारण रूप से ऐसे अवसर नहीं देते।
3. यह जानना सरल नहीं होता कि कब कोई बैंक अनुचित प्रयोग के लिये साख का प्रसार कर रहा है।

4. स्वयं बैंक भी साख के वास्तविक प्रयोग पर नियन्त्रण नहीं रख पाते न ही आवश्यक और अनावश्यक प्रयोगों में अन्तर कर पाते हैं।

5. नैतिक दबाव (Moral Suasion):-

नैतिक दबाव या प्रबोधन वह उपाय है जिसे केन्द्रीय बैंक प्रायः वाणिज्यिक बैंकों का समझाने बुझाने, निवेदन करने, अनौपचारिक सुझाव और परामर्श देने के लिये अपनाते हैं। यह साधन बहुत कुछ प्रत्यक्ष कार्यवाही से मिलता जुलता है, अंतर केवल इतना है कि इसमें केन्द्रीय बैंक द्वारा शक्ति को प्रयोग नहीं किया जाता और मनोविज्ञानिक रूप से यह विधि वाणिज्यिक बैंकों को अरुचिकर नहीं होती।

समय-समय पर भारत, न्यूजीलैण्ड, कनाडा और आस्ट्रेलिया में इस रीति का प्रयोग किया गया प्रो. क्लार्क के अनुसार, साख नियन्त्रण की पद्धति के रूप में समझाने की नीति को अधिक सफलता प्राप्त नहीं डाले है किन्तु विस्तार की शक्तियों बिना भय अथवा दबाव के चेतावनी के लिये काफी शक्तिशाली सिद्ध हुयी है।

बर्जेस के अनुसार यह ऐसा प्रभाव है जो काफी सूझ-बूझ के निर्णय के बाद प्रयोग करना चाहिए।

नैतिक दबाव की नीति की सफलता मुख्यता तीन बातों पर निर्भर करती है।

1. केन्द्रीय बैंक का मुद्रा बाजार पर पूरा अधिकार होना चाहिए।
2. केन्द्रीय को इस सम्बन्ध में पर्याप्त अधिकार प्राप्त होना चाहिये।
3. केन्द्रीय बैंक और अन्य बैंकों के बीच सहयोग एवं सदभावना होनी चाहिए।

6. प्रचार (Publicity)- विज्ञापन तथा प्रचार के द्वारा केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अपनी नीति के प्रति प्रभावशाली जनमत (effective public opinion) तैयार करना होता है। प्रचार की रीति का प्रयोग अमेरिका में थमकमतंस त्मेमतअम ठंदा द्वारा बहुत अधिक किया जाता है। भारत में भी रिजर्व बैंक दरों की महत्वपूर्ण समस्याओं की स्थिति के सम्बन्ध में नियमित रूप से विवरण प्रकाशित करता है।

केन्द्रीय बैंक जनता की सूचना के लिये वाणिज्यिक बैंकों की परिसम्पत्तियों और देयताओं के साप्ताहिक अथवा मासिक विवरण प्रकाशित करता है। वह मुद्रा पूर्ति, कीमतों, उत्पादन और रोजगार और पूँजी तथा मुद्रा बाजार आदि से सम्बन्धित सांख्यिकीय आंकड़े भी प्रकाशित करता है। यह भी वाणिज्यिक बैंकों पर नैतिक दबाव डालने का एक तरीका है।

इस नीति की सफलता के बारे में कुछ भी कहना मुश्किल है। जनता का शिक्षित होना एक मौद्रिक तत्वों की जानकारी होना आवश्यक है। अमेरिका में इसको साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है। एक अमेरिका विचारक के शब्दों में “साख में प्रधान तत्व मस्तिष्क की दशा होती है और आप साख का नियन्त्रण उस समय तक नहीं कर सकती जब तक आप लोकतंत्र को नियन्त्रित नहीं कर सकेंगे।” बर्जेस के अनुसार ये साधन दीर्घकाल में महत्वपूर्ण हो सकता है।

14.7 परिमाणात्मक एवं गुणात्मक रीतियों का समन्वित उपयोग

(Coordinated use of Quantitative and Qualitative controls)

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है और कौन सी कम हकीकत में यह देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था तथा समस्याओं के स्वरूप पर निर्भर करता है कि कौन सी रीति किस देश के लिये अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है।

एक समुचित एवं संतुलित प्रयोग करने से दोनों रीतियां साख नियन्त्रण में कारगर सिद्ध हो सकती है। एक अकेले नीति साख का नियन्त्रण नहीं कर पाती अन्य रीतियों के सहयोग से ही यह प्रभावी होती है। अन्य रीतियों के सहयोग से ही यह प्रभावी होती है। जिस देश में मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा संकुचन के कुप्रभावों को दूर करना हो, वहाँ परिणात्मक साख नियन्त्रण का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है। और यदि किसी देश में आर्थिक विकास करना हो तो गुणात्मक साख नियन्त्रण को विशेष महत्व देना चाहिये।

वास्तव में दोनों रीतियों को अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपनाया जाता है। सम्मिलित रूप से निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत है:-

1. कोई भी परिमाणात्मक रीति मौदिक नियन्त्रण के लिये अकेले प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती है।
2. प्रभावपूर्ण साख नियन्त्रण के लिये सभी रीतियों का समन्वित रूप से प्रयोग करना आवश्यक है।
3. जैसी परिस्थिति हो वैसी रीति अपनानी चाहिये।
4. साख नियन्त्रण के परिमाणात्मक उपाय एक स्वंत्र आर्थिक प्रणाली के लिये गुणात्मक उपायों की अपेक्षा अधिक सामजस्यपूर्ण होते हैं।
5. इस रीतियों के प्रयोग से अर्थव्यवस्था के बचत् एवं विनियोग प्रभावित है।

14.8 गुणात्मक साख नियन्त्रण की सीमाएं

1. ये साधन केवल वाणिज्यिक बैंको पर ही लागू होते हैं न कि गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं पर नहीं।
2. ये नियन्त्रण केवल बैंक साख को नियन्त्रित करते हैं मुद्रा बाजार के अन्य अंगों से साधन प्राप्त किया जा सकता है।
3. बैंक केन्द्रीय बैंक की निर्धारित नियमों की अवहेलना करने हेतु कुछ अन्य उपाय अपना सकता है।
4. प्रायः ठीक समय न लागू करने से इनका प्रभाव क्षीण हो सकता है और स्थितियों परिवर्तित हो सकती है।
5. ऋण के अंतिम अथवा वास्तविक अपयोग को नियन्त्रित करना कठिन होता है।
6. आर्थिक लाभ कमाने के लिये वाणिज्यिक बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित उद्देश्यों से भिन्न उद्देश्यों के लिये भी कर्ज दे देते हैं।
7. चयनात्मक नियंत्रण उधार लेने और देने वालों की स्वतंत्रता को अनावश्यक रूप से रोक देते हैं।
8. ये नियन्त्रण कुछ विशिष्ट क्षेत्र, भाग और उद्योगों पर लागू किये जाते हैं और अन्य क्षेत्रों, भागों तथा उद्योगों को स्वतंत्रता से कार्य करने दिया जात है। तो परिणामस्वरूप संसाधनों को कुविभाजन हो जाता है क्योंकि वे उनकी स्वतंत्रता पर अनुचित प्रतिबन्ध लगा देते हैं और उनके उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

14.9 साख नियन्त्रण की कठिनाइया

1. **मौद्रिक संस्थाओं पर अपूर्ण नियन्त्रण** - देशों के सभी मौद्रिक संस्थानों पर पूर्ण नियन्त्रण होने पर ही साख का सफल नियन्त्रण संभव हो पाता है। यदि ऐसा नहीं है तो कठिनाई आती है जैसे भारत में देशी बैंकर तथा पाश्चात्य देशों में विक्रय साख कम्पनियां आदि केन्द्रीय बैंको के नियन्त्रण के बाहर हैं।
 2. **अव्यवस्थित बैंक व्यवस्था** - बैंको का प्रयाप्त विकास न होने पर और संगठित अवस्था न होने पर साख नियन्त्रण विफल हो जाता है। जब बैंको में पारस्परिक सहयोग न हो न ही केन्द्रीय बैंक से उनका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध हो तो ऐसी परिस्थितियों में नीतियां सफल नहीं हो पाती।
 3. **सम्बन्धित बैंको का सहयोग** - अधिक लाभ कमाने के लिये अथवा बैंको के संचालकों के निजी हितों की पूर्ति करने में बैंक केन्द्रीय बैंक के नियमों का उल्लंघन करने के तरीके ढूंढ ही लेता है। जब वाणिज्यिक बैंको का सहयोग नहीं मिल पाता तो केन्द्रीय बैंक नीति में सफल नहीं हो पाती।
 4. **साख की विभिन्न किस्में** - केन्द्रीय बैंक केवल बैंक साख को नियन्त्रित करता है, अन्य प्रकार की साख को नहीं जैसे किताबी साख, वाणिज्य साख आदि इन साखों का भी अर्थव्यवस्था पर बैंक साख जैसा ही प्रभाव पड़ता है।
 5. **मुद्रा एवं पूंजी बाजार की स्थिति** - यदि केन्द्रीय बैंक का प्रभाव मुद्रा एवं पूंजी बाजार की स्थितियों पर नहीं पड़ता या फिर वह खुद इनके पीछे चलता है, तो साख नियन्त्रण सफल नहीं हो पाता।
 6. **परम्पराओं का प्रभाव** - ब्रिटिश बैंको की परम्परा ऐसी है कि केन्द्रीय बैंक को अपनी साख नीति को केवल संकेत देना होता है और अन्य बैंक उसका तत्काल पालन करते हैं। परन्तु जिन देशों में ऐसी परम्पराएं नहीं हैं, वहाँ साख नियन्त्रण करना एक कठिन कार्य है।
 7. साख के अंतिम अपयोग पर नियन्त्रण की कठिनाई यह भी संभव है कि ग्राहक व्यापारिक कार्यों के लिये गये ऋण को सट्टा कार्यों में लगाएँ जिसके लिये केन्द्रीय बैंक रोक लगाएँ हो तब उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।
- निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि साख नियन्त्रण का प्रयाप्त अधिकार केन्द्रीय बैंक को दिया जाना चाहिये एवं वह भी इनका प्रयोग अर्थव्यवस्था की स्थितियों को परखते हुये आवश्यकतानुसार एवं कुशलतापूर्वक करें।

14.10 सारांश

साख नियन्त्रण का अर्थ है केन्द्रीय बैंक द्वारा कमर्शियल बैंको की उधार देने की नीति को नियन्त्रित करना। आधुनिक विचारधारा के अन्तर्गत विनिमय स्थिरता एवं कीमत स्थिरता दोनों ही आवश्यक हैं। एक अच्छी मौद्रिक एवं साख नीति वही है जो स्थिरता एवं विकास के उद्देश्यों में समन्वय स्थापित कर सके। प्रत्येक केन्द्रीय बैंक अपनी अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों के अनुरूप साख नियन्त्रण की अलग-2 रीतियां अपनाता है। परिमाणात्मक विधियों का सम्बन्ध साख की मात्रा तथा उसकी कीमत अर्थात् ब्याज दर के नियन्त्रण से होता है। गुणात्मक नियन्त्रण विधि साख के प्रयोग और दिशा की नियंत्रित करते हैं। बैंक दर की नीति, खुले बाजार की क्रियाएँ, तरल कोषानुपात का निर्धारण, एवं नकद कोषानुपात में परिवर्तन परिमाणात्मक विधियों से सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्यक्ष साख नियन्त्रण,

साख का राशनिंग, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक दबाव, प्रचार, एवं उपभोग साख का नियमन गुणात्मक नियन्त्रण से सम्बन्ध रखते हैं।

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है और कौन सी कम हकीकत में यह देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था तथा समस्याओं के स्वरूप पर निर्भर करता है कि कौन सी रीति किस देश के लिये अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है। एक अकेले नीति साख का नियन्त्रण नहीं कर पाती अन्य रीतियों के सहयोग से ही यह प्रभावी होती है। साख नियन्त्रण के परिमाणात्मक उपाय एक स्वंत्रत आर्थिक प्रणाली के लिये गुणात्मक उपायों की अपेक्षा अधिक सामंजस्यपूर्ण होते हैं। जैसी परिस्थिति हो वैसी रीति अपनानी चाहिये।

बैंको का प्रयास विकास न होने पर और संगठित अवस्था न होने पर साख नियन्त्रण विफल हो जाता है। जब वाणिज्यिक बैंको का सहयोग नहीं मिल पाता तो केन्द्रीय बैंक नीति में सफल नहीं हो पाती। यह भी संभव है कि ग्राहक व्यापारिक कार्यों के लिये ऋण को सट्टा कार्यों में लगाएँ जिसके लिये केन्द्रीय बैंक रोक लगाएँ हो तब उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। साख नियन्त्रण का प्रयोग अर्थव्यवस्था की स्थितियों को परखते हुये आवश्यकतानुसार एवं कुशलतापूर्वक करें।

14.11 शब्दावली

मौद्रिक नीति :- वह नीतियां जिनका सम्बन्ध मुद्रा एवं पूँजी बाजार से हो।

ब्याज की बाजार दर :- वह दर जिस पर वाणिज्यिक बैंक किसी जनमत के आधार पर ऋण देती है।

प्रोत्साहन प्रभाव :- इसका सम्बन्ध वस्तुओं तथा पूँजीगत पदार्थों के स्टॉक रखने की लागत से है जो ब्याज दर में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं।

सामान्यतः तरलता प्रभाव :- इसका सम्बन्ध ऋणदाताओं के व्यवहार से है।

खुले बाजार की क्रिया :- केन्द्रीय बैंक द्वारा बाजार में प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय से सम्बन्धित।

14.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बैंक दर का अर्थ है।

- बैंको द्वारा ऋणों पर ली जाने ब्याज दर।
- केन्द्रीय बैंक द्वारा अन्य बैंको के बिलों पर ली जाने वाली कटौती दर।
- बैंको द्वारा जमाओं पर दी जाने वाली ब्याज दर।
- बैंको में परस्पर लेन देने पर ब्याज की दर।

2. खुले बाजार को क्रियाओं के लिये क्या आवश्यक नहीं।

- मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों की निरन्तर मांग एवं पूर्ति।
- चलन की मात्रा तथा बैंको के नकद कोषों में निरन्तर परिवर्तन।
- केन्द्रीय बैंक द्वारा पर्याप्त मात्रा में प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय।
- सुसंगठित मुद्रा बाजार।

3. परिणामात्मक उपायों की विभिन्न रीतियां क्या है?
4. कौन सा चयनात्मक साख नियन्त्रण नहीं है?
 - a. गौण कोषों का अनुपात निर्धारित करना।
 - b. विभिन्न ब्याज अथवा कटौती दर।
 - c. ऋणों की प्राप्ति पर नियन्त्रण
 - d. ऋणों की सिमाओं में परिवर्तन करना।
5. बैंक दर ब्याज की बाजार दर से सम्बन्धित है अथवा नहीं ?

14.13 संदर्भ सहित ग्रन्थ

1. डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
2. डा० टी०टी० सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

14.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- Dwivedi, D.N.(1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
- Ahuja ,H. L. ((1910) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
- Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

14.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बैंक दर एवं खुले बाजार प्रचालनों की साख नियन्त्रण की विधियों में से कौन सी अधिक प्रभावकारी है। कारण दीजिए।
2. एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय बैंक की आन्तरिक कीमत स्तर को नियन्त्रित करता है, विनिमय दर में स्थिरता लाता है तथा वित्ति और औद्योगिक संकट होने से रोकता है। केन्द्रीय बैंक यह किस प्रकार करता है।
3. केन्द्रीय बैंक की मात्रात्मक एवं गुणात्मक सम्बन्धी साख नियन्त्रण की विधियों में अंतर समझाएँ। कोष की अधिक उपयुक्त है।
4. चयनात्मक साख नियन्त्रण में के महत्वको समझाइये। वे किस प्रकार काय करता है और कहाँ तक सफल हो पाते है।

इकाई-15 राजकोषीय नीति के यंत्र

इकाई की रूपरेखा

- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 उद्देश्य
- 15.3 राजकोषीय नीति का अर्थ
- 15.4 राजकोषीय नीति के उद्देश्य
- 15.5 राजकोषीय नीति के यंत्र अथवा उपकरण
- 15.6 विभिन्न परिस्थितियों में राजकोषीय नीति
- 15.7 सारांश
- 15.8 शब्दावली
- 15.9 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 15.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 15.11 संदर्भ सहित ग्रन्थ
- 15.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 15.13 निबन्धात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में हमने मौद्रिक नीति से सम्बन्धित तथ्यों का अवलोकन किया। जहाँ इन मौद्रिक नीति का सम्बन्ध केन्द्रीय बैंक से है जो विभिन्न रीतियों द्वारा इन नीतियों का प्रतिपादन करते हैं एवं अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं, वही दूसरी और राजकोषीय नीति सरकार द्वारा तय की जाती है और इसका सम्बन्ध सार्वजनिक आय, व्यय तथा ऋण सम्बन्धी क्रियाओं से होता है।

राजकोषीय नीति सरकार के उन कार्यों का उल्लेख करते हैं जो सरकार की प्राप्ति तथा व्ययों को प्रभावित करते हैं। जैसे सभी निर्णय जो कि सरकारी व्यय के स्तर, रचना अथवा समय में परिवर्तन से अथवा कर भुगतान के भार, ढाँचे अथवा आकृति से सम्बन्धित हो राजकोषीय नीति के अन्तर्गत आते हैं।

राजकोषीय नीति अर्थव्यवस्था में कुल मांग को प्रभावित करने का एक महत्वपूर्ण उपाय है, आर्थिक स्थिरता एवं आर्थिक विकास जैसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राजकोषीय नीति के विभिन्न यंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह जान सकेंगे कि:-

- (1) राजकोषीय नीति का अर्थ क्या है।
- (2) राजकोषीय नीति के उद्देश्य क्या हैं।
- (3) राजकोषीय नीति के विभिन्न उपकरण क्या हैं।
- (4) विभिन्न परिस्थितियों में राजकोषीय नीति किस प्रकार प्रयोग की जाती है।

15.3 राजकोषीय नीति का अर्थ

सरकार द्वारा अपानयी गयी वो नीति जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक आय, व्यय तथा ऋण सम्बन्धी क्रियाओं से होता है, राजकोषीय नीति कहलाती है। यह नीति अर्थव्यवस्था में कुल मांग को प्रभावित करने का एक महत्वपूर्ण उपाय है। केन्सियन अर्थशास्त्र में राजकोषीय नीति को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आर्थिक स्थिरता एवं आर्थिक विकास की प्राप्ति के लिये एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में राजकोषीय नीति का प्रयोग 1930 की महामन्दी के पश्चात् व्यापक रूप से किया जाने लगा।

प्र०0 आर्थर स्मिथीज के अनुसार राजकोषीय नीति ऐसी नीति है जिसके अन्तर्गत सरकार अपने व्यय तथा राजस्व कार्यक्रमों को राष्ट्रीय आय, उत्पादन, तथा रोजगार पर अपने अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने और अनपेक्षित प्रभाव रोकने के लिये प्रयोग करती है।

ऑटो अक्सटीन ने राजकोषीय नीति को परिभाषित करते हुये कहा कि यह करों तथा व्ययों में परिवर्तन है जिनका लक्ष्य पूर्ण रोजगार तथा कीमत स्तर स्थिरता के अल्पकालीन उद्देश्यों को पूरा करना है। यहाँ ऋणों की अपेक्षा की गयी है।

बाइस तथा निकलस की दी हुयी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है, "राजकोषीय नीति सरकारी व्यय तथा करों के प्रबंध और सार्वजनिक कर्जों को ऐसे ढंग से संचालन करने से संबंध रखती है कि कुछ निश्चित उद्देश्य पूरे हो जाये।

सार्वजनिक आय, व्यय तथा ऋण सम्बन्धी क्रियाओं में अपने आप स्थायित्व लाने वाले तत्व अन्तर्निहित (built-in automatic stabilizers) होते हैं परन्तु मन्दी और तेजी की स्थिति में कुल मांग को प्रभावित करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा विवेकाधीन राजकोषीय नीति (discretionary fiscal policy) का निर्धारण किया जाता है।

15.4 राजकोषीय नीति के उद्देश्य

किसी देश की अर्थव्यवस्था एवं उसकी आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही राजकोषीय नीति के उद्देश्य निहित होते हैं। इसके मुख्य उद्देश्य आर्थिक स्थिरता एवं आर्थिक विकास के प्रोत्साहित करना है।

1) आर्थिक स्थिरता एक संकुचित उद्देश्य माना जाता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक स्थिरता का तात्पर्य कीमतों में स्थिरता करने से है। सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता यदि बनी रहे या आर्थिक स्थिरता का लक्ष्य प्राप्त माना जाता है। चूंकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार की स्थिति को सदैव विद्यमान मान कर चलते थे इसलिये रोजगार आय एवं उत्पादन की स्थिरता प्रश्न से परे थी। 1930 की महामन्दी ने इस भ्रम को तोड़ा और यह केन्स द्वारा ज्ञात हुआ कि पूर्ण रोजगार एक सामान्य स्थिति न होकर एक ऐसी आदर्श स्थिति है जिसको प्राप्त करने तथा बनाये रखने के लिये हरेक अर्थव्यवस्था को निरन्तर प्रयासरत रहना चाहिये। यहाँ पर राजकोषीय नीति एक साधन के रूप में प्रयुक्त की जानी चाहिये।

2) पूर्ण रोजगार स्तर पर आर्थिक स्थिरता- राजकोषीय नीति कीमतों में अल्पकालीन अथवा चक्रीय उतार चढ़ावों को रोकने में सक्षम सिद्ध हो सकती है। अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण मांग में होने वाली अल्पकालीन परिवर्तनों को सरकार अपनी बजट नीति से उचित परिवर्तनों के द्वारा निष्प्रभाव कर सकती है। इसे क्षतिपूरक राजकोषीय नीति कहते हैं।

अल्पकालीन स्थिरता प्राप्त हो जाने पर आर्थिक क्रियाओं का स्तर आने आप ऊँचा उठ जाता है और फिर दीर्घकाल में पूर्ण रोजगार स्तर पर स्थिरता प्राप्त हो जायेगा। केन्स अल्पकाल को ही महत्व देते थे। पर आगे चलकर हेरोड तथा डोमर ने उल्लेख किया कि विकसित अर्थव्यवस्था में भी दीर्घकालीन असन्तुलन उत्पन्न होने की संभावना होती है अतएव राजकोषीय नीति के उद्देश्य दीर्घकालीन स्थिरता को प्राप्त करना भी होना चाहिये।

केन्स के अनुसार उपभोग में वृद्धि करने में राजकोषीय नीति सहायक है। इसके फलस्वरूप मन्दी पर काबू पा सकेगें और इस बात पर जोर देना चाहिये कि निवेश में कमी न हो जिससे आय बनती रहें और मांग प्रभावित न हो।

व्यावहारिक रूप में, स्थिर कीमत स्तर तथा पूर्ण रोजगार परस्पर अंसगत विचार हैं। यदि पूर्ण रोजगार चाहिये तो थोड़ी बहुत कीमतों में उच्चावचन तो सहन करना पड़ेगा।

3) **आर्थिक विकास-** आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिये राजकोषीय नीति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक विकासशील देश में राजकोषीय नीति का कार्य क्षतिपूरक क्रिया” से अधिक होता है। जहाँ एक सार्वजनिक ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्धन की नीतियों का प्रयोग करके वित्तीय साधन जुटाए जा सकते हैं जिससे आर्थिक विकास का कार्य न रुके वहीं दूसरी ओर ऐसे उपाय अपनाने होते हैं कि उपभोग के लिये बढ़ती हुयी मांग को नियंत्रित किया जा सके ताकि बचतों में वृद्धि हो और पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिले। निवेश में वृद्धि करना हो, धन एवं आय के वितरण की असमानताएं कम करनी हो, रोजगार के अवसर को बढ़ाना हो, स्फीति का प्रतिकार करना हो आदि, इन सब लक्ष्यों की प्राप्ति में राजकोषीय नीति अति महत्वपूर्ण है।

संक्षेप में विकासशील देशों में राजकोषीय नीति का प्रयोग निम्नलिखित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है:-

- (1) आर्थिक विकास के लिये आवश्यक वित्तीय साधन जुटाना।
- (2) उपभोग को नियंत्रित करना जिससे आर्थिक साधन उपभोग से हटाकर निवेश में लगाया जा सके।
- (3) बचत एवं निवेश के उपाय करना।
- (4) आर्थिक साधनों को जनता से लेकर सरकार को हस्तान्तरित करना जिससे सार्वजनिक निवेश प्रोत्साहित हो।
- (5) निवेश के ढांचे को समुचित रूप में बदलना।
- (6) आर्थिक विषमताओं को कम करना।
- (7) आन्तरिक तथा विदेशी प्रभाव से कीमतों में होने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित करना और क्रय शक्ति के प्रभाव को नियंत्रित करना।
- (8) राष्ट्रीय आय को बढ़ाना तथा पुनर्वितरण करना।
- (9) स्फीति का प्रतिकार करना
- (10) रोजगार के अवसर बढ़ाना।

उपर्युक्त उद्देश्य से यह विदित है कि एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता एवं आर्थिक विकास दोनों को ही प्राप्त करना आवश्यक है। एक विकासशील देश में राजकोषीय नीति की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि यहाँ पर समस्याएं और जटिल हो जाती हैं जहाँ विकसित देश में मुद्रास्फीति की स्थिति में बचत वाले बजट कारगर होते हैं वहीं विकासशील देशों में स्फीतिक दबाव के बावजूद सरकारी व्यय तथा निवेश में कमी करना न तो सम्भव होगा और न हो वांछित होगा।

ऐसी स्थितियों में राजकोषीय नीति का समझदारी से सक्रिय प्रयोग करना होता है। क्रियाशील वित्त के सिद्धान्त के अन्तर्गत सार्वजनिक आय तथा व्यय की नीतियों का स्वरूपक्रियाशील होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि इनका प्रयोग निश्चित उद्देश्यों को सामने रखकर किया जाना चाहिए। सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य केवल प्रत्यक्ष लाभ कमाना नहीं वरन् उत्पादन, आय तथा रोजगार पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ध्यान रखना आवश्यक है। आवश्यकता पड़ने पर घाटे का बजट बनाना पूर्णतः उचित है। अतिरिक्त व्यय के लिये साधन सार्वजनिक ऋण को बढ़ाकर प्राप्त किये जा सकते हैं।

15.5 राजकोषीय नीति के यंत्र अथवा उपकरण

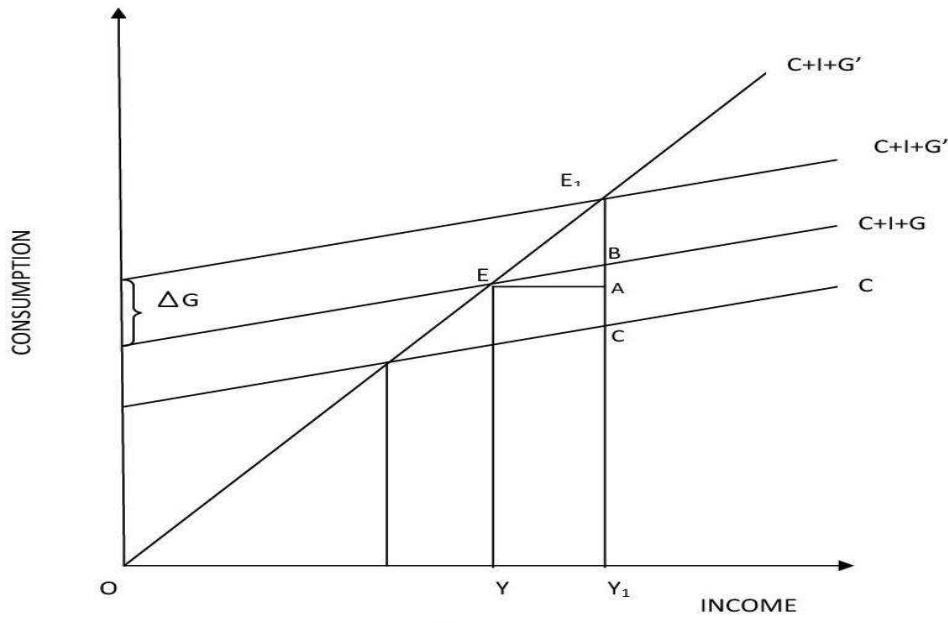
राजकोषीय नीति के विभिन्न उपकरणों को विभिन्न उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त किया जाता है। हर यंत्र आर्थिक क्रियाओं के स्तर को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस सम्बन्ध में देश का बजट, कर, सार्वजनिक व्यय तथा ऋण महत्वपूर्ण उपकरण है।

1) बजट नीति-

(I) बजट घाटा- यदि अर्थ व्यवस्था में मंदी की स्थिति हो, तो घाटे का बजट एक अत्यन्त उपयोगी यंत्र सिद्ध हो सकता है। जब सरकारी व्यय इसकी प्राप्ति से बढ़ जाता है तो राष्ट्रीय आय को पूरा करने के लिये उसमें अतिरिक्त मात्राएं डाली जाती हैं।

घाटा सरकार के शुद्ध व्यय को व्यक्त करता है जो राष्ट्रीय आय को शुद्ध व्यय का गुणक गुणा बढ़ाती है। घाटे को बजट कुल मांग पर विस्तारक प्रभाव डालता है। इसे चित्र 15.1 के माध्यम से दर्शाया जा सकता है।

C उपभोग फलन है $C+I+G$ बजट प्रस्तुत करने से पहले उपभोग, निवेश, तथा सरकारी व्यय को व्यक्त करता है, इसे कुल व्यय फलन भी कहते हैं। सरकारी व्यय G बढ़ने पर कुल व्यय ऊपर की ओर खिसक कर $C+I+G_1$ हो जाता है। और आय OY से बढ़कर OY_1 हो जाती है। नया सन्तुलन से E_1 हो जाता है। सरकारी व्यय के हुयी वृद्धि $\Delta C_1 (=E_1B)$ की अपेक्षा कुल समय में वृद्धि yy_1 हो जाती है जो अधिक है। ठा उपयोग में वृद्धि को व्यक्त करता है।

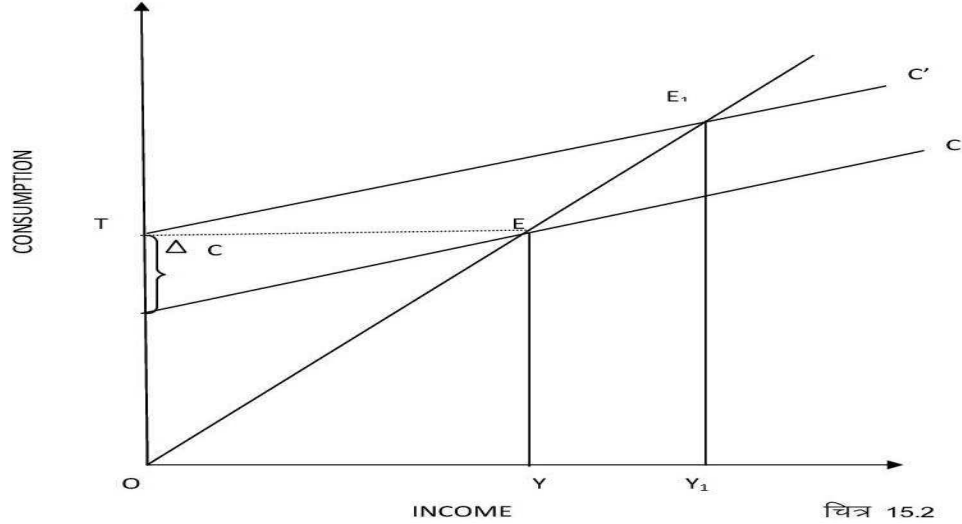


चित्र 15.1

इस प्रकार घाटे का बजट हमेशा विस्तारक होता है क्योंकि वास्तविक सरकारी व्यय की मात्रा को अपेक्षा राष्ट्रीय आय में अधिक वृद्धि होती है। यहाँ पर करों को जैसे का तैसा रखा जाता है।

करों में कमी के माध्यम से भी बजट घटा प्राप्त किया जा सकता है। जब कर कम कर दिये जाते हैं तो प्रयोज्य आय अपेक्षाकृत अधिक बच जाती है जो उपभोग व्यय को प्रेरित करती है। यह आगे चलकर कुल मांग, उत्पादन आय तथा रोजगार में वृद्धि कर देता है। इसे चित्र 15.2 द्वारा दर्शाया जा सकता है।

C उपभोग फलन है। यह मान लिया जाय कि ET कर को मात्रा घटा दी जाती है जिससे उपभोग फलन ऊपर की ओर सरक कर पर पहुँच जाता है जिससे आय OY से बढ़कर OY₁ हो जायेगी।



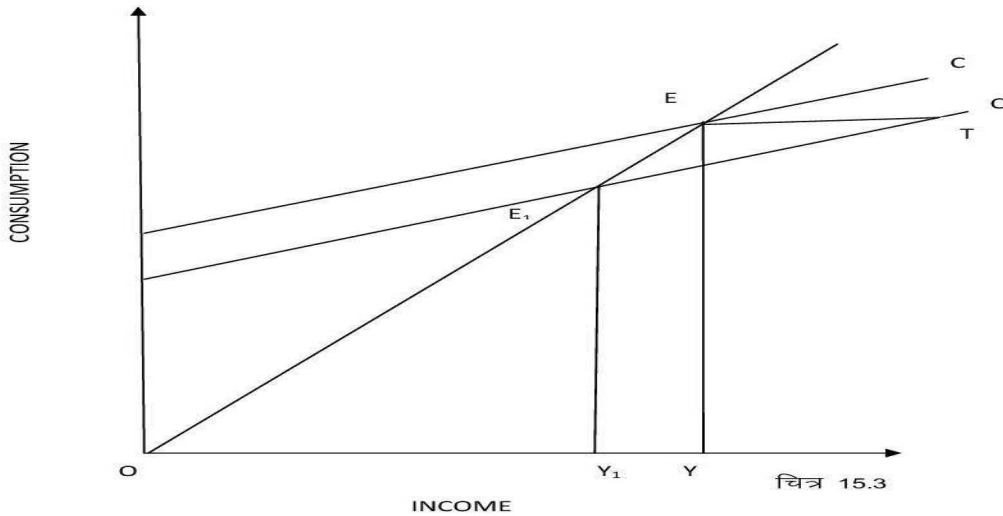
करों में कमी बड़े हुये उपभोग व्यय के मार्ग में बहुत विस्तारक नहीं होती क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि करों में राहत उपभोग को प्रोत्सहित ही करे। यह भी सम्भव है कि उसे बचा लिया जाये। व्यापार में निवेश मंदी के कारण भी प्रोत्सहित न हो।

अतः ऐसी स्थिति में सरकार की नीति यह होनी चाहिये कि वह करों में कमी करने के साथ-साथ सरकारी व्यय को निति का भी अनुसरण करे जिसका गुणक प्रभाव उपभोग और निवेश पर पड़कर अर्थव्यवस्था को मंदी की स्थिति से उबार सके।

(ii) **बचत का बजट-** यदि अर्थव्यवस्था में तेजी अथवा अन्त स्फीति की स्थिति बन रही हो तो ऐसे में बचत का बजट उपयोगी होता है। इससे स्फीति कारी दबावों पर नियन्त्रण रहता है। यह करावान में वृद्धि अथवा सरकारी व्यय में कमी करके किया जा सकता है। यह कराधान में वृद्धि अथवा सरकारी व्यय में कमी करके किया जा सकता है। इसका प्रभाव यह होगा कि आय तथा कुल मांग में क्यों होगी जो कि बड़े हुये करों के परिणामस्वरूप सरकारी अथवा/तथा निजी उपभोग व्यय में कमी का गुणक गुणा के बराबर होगी।

चित्र 1 में मान लें कि अर्थव्यवस्था E₁ पर संतुलन में है। यदि ΔG सरकारी व्यय में कमी कर दी जाय तो अब E नयी संतुलन स्थिति है जो सरकारी व्यय में E₁B की कमी हो जाने के परिणामस्वरूप आय OY₁ से गिरकर OY

हो गयी है। आय में होने वाली कमी $Y_1Y = AE > E_1B$. जो कि व्यय में हुर्यो कमी है, क्योंकि उपभोग में भी BA की कमी हो गयी है।



जब करो में वृद्धि होती है तो सरकारी व्यय के रहते हुये भी बचत का बजट हो सकता है। इससे लोगों के प्रयोज्य आय घट जाते है और उपभोग व्यय में कमी हो जाती है। इसके फलस्वरूप कुल मांग उत्पादन, आय तथा रोजगार में क्यो हो जाती है। चित्र 15.3 में C कर लगाने से पहले उपभोग फलन हैं। ET के बराबर कर लगाने पर उपभोग फलन नीचे की ओर सरक कर C' पर आ जाता है। नई सन्तुलन स्थिति E₁ है। आय गिरकर OY से OY₁ हो जाती है।

(iii) सन्तुलित बजट गुणक- यह एक अन्य विस्तारवादी राजकोषीय नीति है। इस नीति में करो में वृद्धि तथा सरकारी व्यय में वृद्धि की मात्रा समान होती है। इसका परिणाम यह होता है कि शुद्ध राष्ट्रीय आय बढ़ती है। इसका कारण यह है कि कर लगाने के कारण उपभोग में कमी सरकारी व्यय के बराबर नहीं होती है।

सन्तुलित बजट राजनीतिक दृष्टिकोण से उचित माना गया है क्योंकि इससे राजनीतियों द्वारा फिजूलखर्ची पर रोक लगती है। सन्तुलित बजट का विचार मान्यता के अनुरूप था कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार पर सन्तुलित मुद्रा स्फीति के बिना तभी सम्भव है जब सरकार द्वारा करो से प्राप्त राशि सरकारी व्यय से न कम हो और न अधिक हो। पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के इन विचारो का खण्डन किया गया। सन्तुलित बजट के विस्तारात्मक प्रभाव भी हो सकते है। इसका विचार आर्थिक स्थिरता के उद्देश्य के विरुद्ध है।

संक्षेप में, समृद्धि काल में आधिक्य के बजट तथा मंदकील में घाटे के बजट बनाने का प्रयास किया जाता है। दोनो ही स्थितियों में सार्वजनिक ऋण के माध्यम से वांछित उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

2. क्षतिपूरक रोजकोषीय नीति (Compensatory Fiscal Policy)- सार्वजनिक व्ययों तथा करो का जोड़तोड़ करके स्फूर्ति तथा अवस्फीति के प्रति चिरकालिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध अर्थव्यवस्था की क्षतिपूर्ति करना ही क्षतिपूरक रोजकीषीय नीति का लक्ष्य माना जाता है।

जब अर्थव्यवस्था में अवस्फीतिकारी प्रवृत्तियाँ हो तो सरकार की चाहिये कि घाटे के बजट तथा करों में कमी के माध्यम से अपने व्यय घटाएँ। दूसरी ओर जब स्फीतिकारी प्रवृत्तियाँ हो तो सरकार बचत का बजट बनाकर और करों को बढ़ाकर अपने व्यय घटाए ताकि पूर्ण रोजगार स्तर पर अर्थव्यवस्था स्थिर बनाई जा सके। क्षतिपूरक राजकोषीय नीति के तीन मार्ग हैं।

- (i) आभ्यन्तरिक नम्यता (built in flexibility)
- (ii) सूत्र नम्यता (formula flexibility)
- (ii) स्व निर्णयात्मक कार्य (discretionary action)

(i) आभ्यन्तरिक नम्यता

इसका अर्थ है सरकार की ओर से किसी कार्य के बिना अर्थव्यवस्था के भीतर चक्रीय उतार चढ़ावों की प्रतिक्रिया में व्ययों तथा करों का अपने आप समायोजन। इसके अन्तर्गत बजट में अपने आप परिवर्तन होते हैं। अतः इस स्वचलित स्थिरकरण की तकनीक भी कहा जाता है। चाहे व्यापार चक्र की गिरती हुयी अवस्था हो या अधोमुखी अवस्था, सरकारी व्ययों एवं करों में स्वतः समायोजन हो जाता है। राष्ट्रीय आय कम होने पर कर आय कम हो जाती है, बेरोजगारी राहत तथा सामाजिक सुरक्षा हितों पर सरकारी व्यय अपने आप बढ़ जाते हैं। और राष्ट्रीय आय बढ़ने पर कर दरों में वृद्धि हो जाती है और बेरोजगारी राहत तथा सामाजिक सुरक्षा हितों पर सरकारी व्यय अपने आप घट जायेंगे।

(ii) सूत्र नम्यता

इसके अन्तर्गत नीतिकार कर दरों तथा सरकारी व्यय की किसी अभिहित सूचक के व्यवहार के आधार पर परिवर्तित करते हैं। यदि सूचक एक निश्चित बिन्दु से बढ़ जाता है तो उसे पूर्व निर्धारित सूत्र के अनुसार सरकारी व्यय में स्वचलित कमी तथा कर देश में वृद्धि की अपेक्षा रहेगी। और विलोमशः। व्यापार के उतार चढ़ाव की तेजी को नियन्त्रित करने में आभ्यन्तरिक नम्यता की अपेक्षा सूत्र नम्यता अधिक सशक्त है।

(iii) स्व निर्णयात्मक कार्य

यह रोजकोषीय नीति के लिये बजट में ऐसे कार्यों द्वारा परिवर्तन लाने का आवश्यकता होती है जैसे कि कर दरों अथवा सरकारी व्यय अथवा दोनों में परिवर्तन करना। यह सामान्य तौर से तीन रूप ले सकता है।

- करों में परिवर्तन जबकि व्यय स्थिर रहता है
- व्यय में परिवर्तन जब कर स्थिर रहते हैं व्यय तथा
- कर दोनों में एक साथ परिवर्तन।

स्फीतिकारी अथवा अवस्फीतिकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिये अन्य दोनों तरीकों की अपेक्षा तीसरा तरीका कहीं अधिक प्रभावशाली तथा श्रेष्ठ है।

(3) करारोपण (Taxation)

करारोपण ऐसा यंत्र है जोकि स्वायत्त आय, उपभोग तथा निवेश की प्रभावित करता है।

मन्दी की स्थिति में करों में कमी करने से लोगों का उपलब्ध स्वायत्त आय में वृद्धि होती है तथा उनके द्वारा अधिक व्यय किया जाता है। उपभोग में वृद्धि के लिये वस्तुओं पर कर कम कर दिये जाते हैं। निवेश का प्रोत्साहन करने हेतु उपाय किये जाते हैं।

पर जैसा कि कालकी ने अपना मत प्रस्तुत किया कि यह आवश्यक नहीं कि करों में कमी निवेश को प्रोत्साहित ही करे। स्फीति विरोधी कर नीति का उद्देश्य स्फीतिक अन्तर को कम करना होता है। अतिरिक्त को नियान्त्रित करने के उद्देश्य से व्यय कर तथा उत्पाद शुल्क में वृद्धि काफी सहायक होती है। इस नीति को अपनाते समय यह ध्यान देना आवश्यक है कि लोगो को स्वायत्त आय में इतना कमी न हो जाय कि इसके प्रभाव में शिथिलता की स्थिति उत्पन्न हो जाये।

फिर भी आर्थिक स्थिरता तथा विकास प्राप्त करने का यह एक महत्वपूर्ण उपाय है।

(4) सार्वजनिक व्यय- इसके द्वारा होने वाले परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। व्यय में वृद्धि का आय, उत्पादन तथा रोजगार पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जैसा कि निवेश में वृद्धि का प्रभाव होता है। इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय में कमी आर्थिक क्रियाओं के स्तर को उल्टी दिशा में प्रभावित करती है। सार्वजनिक व्यय दो प्रकार के होते हैं

1. पम्प अपक्रामण
2. क्षतिपूरक व्यय

1. पम्प अपक्रामण- इसके अन्तर्गत आय की धारा में सरकार द्वारा कुछ व्यय का अन्तर्क्षेप किया जाता है जिसके प्रभाव में साधनों का पूर्ण उपयोग होने लगता है। पम्प अपक्रामण अथवा समुद्रीपन इस मान्यता पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था में समायोजन में होने की समस्या अस्थायी है। सरकार अपने आप समायोजन प्राप्त कर लेती है। इससे आर्थिक क्रिया अपने प्रेरक शक्ति से परिचालित होने लगेगी और बिना और सार्वजनिक व्यय के अर्थ व्यवस्था को स्थिर आर्थिक वृद्धि के पथ पर ले आयेगी।

2. क्षतिपूरक व्यय की धारणा तब विकसित हुई जब 1930 की महामंदी को पम्प अवक्रमण द्वारा भी नियन्त्रित नहीं किया जा सका। यह आभास हो गया कि आय उत्पादन तथा रोजगार को उचित स्तर पर बनाये रखने के लिये सरकार निरन्तर प्रयत्नशील रहे। निजी निवेश व्यय में जो कमी होती है उसे सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर सार्वजनिक व्यय तथा राहत उपाय पूरा कर देते हैं। इससे न सिर्फ श्रमिकों को रोजगार मिलेगा वरन् गुणक प्रक्रिया के माध्यम से कुल माँग, उत्पादन तथा आय में वृद्धि होगी।

जब अर्थव्यवस्था में पुनरूतथान के चिह्न प्रकट हो, तो सार्वजनिक निर्माण कार्यों तथा राहत उपायों पर व्यय धीरे-धीरे घटा दिया जाये न कि एक दम से रोका जाये।

नई मुद्रा का निर्माण करके तथा बजट घाटे के लिये उधार लेकर क्षतिपूरक व्यय का वित्त प्रबन्धन किया जाता है। जबकि स्फीति के दौरान बचत का बजट बनाया जाता है।

(5) सार्वजनिक ऋण- इसके द्वारा बजट के घाटे की पूर्ति सम्भव हो जाती है। इसके चार रूप होते हैं-

1. गैर बैंक जनता से लिये गये ऋण।
2. बैंकिंग व्यवस्था से लिये गये ऋण।

3. खजाने से निकासी।

4. मुद्रा छापना।

(1) **बॉण्डों की बिक्री द्वारा जनता से ऋण** लिये जाते हैं जिनका भुगतान उपभोग बचत निजी अथवा संचय में से किया जाता है। इसका प्रभाव अस्फीति कारक होता है। इसके विपरीत बॉण्डों की खरीद संचित धन से की जाती है तो व्यय के चक्रिय प्रवाह में वृद्धि होती है जिसका प्रभाव स्फीतिकारी होता है।

सामान्यतया जनता से प्राप्त किया गया ऋण स्फीति काल में लाभपूर्ण होता है जबकि मंदी काल में हानिकारक।

(2) **बैंकिंग व्यवस्था से ऋण**- बैंको को अतिरिक्त कोषों से सरकार ऋण प्राप्त करती है जिससे चक्रीय प्रवाह एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। जब तेजी होती है तो अन्य साधन न होने के कारण, सरकार को ऋण देने के लिये उन्हें अपने अन्य ऋणों में कमी करनी पड़ती है जिससे निजी निवेश में कमी करनी पड़ती है।

(3) **खजाने से निकासी**- यदि खजाने में रखे शेषों में से बजट के घाटे की पूर्ति से की जाती है तो निष्क्रिय साधन सक्रिय हो जाते हैं। इनका प्रभाव स्फीतिकारी होता है। सामान्यतया इस प्रकार के शेषों की आकार अधिक नहीं होता है, इसलिये इस प्रकार के ऋणों का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता है।

(4) **मुद्रा छापना**- नोट छापना सरकार का ब्याज रहित दायित्व होता है। नई मुद्रा से चक्रीय प्रवाह बढ़ता है जिसका प्रभाव स्फीति कारक होता है। कई बातों पर इसका प्रभाव निर्भर करता है- मुद्रापूर्ति की दर, अर्थव्यवस्था में खपत की क्षमता, दो निर्गमों के बीच समयान्तर, लोगों की बचत तथा व्यय करने की प्रवृत्तियाँ इत्यादि। स्फीतिकाल में अतिरिक्त मुद्रा छापना हानिकारक है परन्तु मंदी काल में इसके उपयोग को नकारा नहीं जा सकता। इसके मौद्रिक प्रभावों को मौद्रिक उपायों से नियन्त्रित किया जा सकता है।

15.6 विभिन्न परिस्थितियों में राजकोषीय नीति

1. **मन्दीकाल में राजकोषीय नीति**- मन्दी के उपचार के लिये राजकोषीय नीति के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं:-

- I. लोक व्यय में वृद्धि करना जिसके लिये घाटे की वित्त व्यवस्था करके अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करना।
- II. निजी निवेशों को प्रोत्साहित करना जिसके लिये नये उपक्रमों के लिये वित्तीय प्रोत्साहन, नयी औद्योगिक वस्तियों के निर्माण आदि जैसे कार्य किये जायें।
- III. आय को पुनर्वितरण करने के उद्देश्य से उपयुक्त कर नीति अपनायी जाय जिससे निर्धनों को व्यय के लिये अधिक साधन उपलब्ध हो सकें।
- IV. मंदी काल में राजकोषीय नीति अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होती है।

2. **स्फीतिकाल में राजकोषीय नीति**:-

- I. सरकारी व्यय में कमी करना और इसी के बराबर करों में कमी करना।
- II. सरकारी व्यय में दृढ़ता तथा कर की दरों में वृद्धि।
- III. सरकारी व्यय में कमी तथा कर की दरों में कोई परिवर्तन न करना।
- IV. सरकारी व्यय में कमी तथा कर की दरों में वृद्धि।

15.7 सारांश

राजकोषीय नीति सरकार के उन कार्यों का उल्लेख करते हैं जो सरकार की प्राप्ति तथा व्ययों को प्रभावित करते हैं। किसी देश की अर्थव्यवस्था एवं उसकी आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही राजकोषीय नीति के उद्देश्य निहित होते हैं। राजकोषीय नीति कीमतों में अल्पकालीन अथवा चक्रीय उतार चढ़ावों को रोकने में सक्षम सिद्ध हो सकती है। आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिये राजकोषीय नीति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। निवेश में वृद्धि करना हो, धन एवं आय के वितरण की असमानताएं कम करनी हो, रोजगार के अवसर को बढ़ाना हो, स्फीति का प्रतिकार करना हो आदि, इन सब लक्ष्यों की प्राप्ति में राजकोषीय नीति अति महत्वपूर्ण है।

जहाँ विकसित देश में मुद्रास्फीति की स्थिति में बचत वाले बजट कारगर होते हैं वहीं विकासशील देशों में स्फीतिक दबाव के बावजूद सरकारी व्यय तथा निवेश में कमी करना न तो सम्भव होगा और न हो वांछित होगा। राजकोषीय नीति के विभिन्न उपकरणों को विभिन्न उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त किया जाता है। हर यंत्र आर्थिक क्रियाओं के स्तर को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस सम्बन्ध में देश का बजट, कर, सार्वजनिक व्यय तथा ऋण महत्वपूर्ण उपकरण हैं।

क्षतिपूर्क राजकोषीय नीति के तीन मार्ग हैं (1) आभ्यन्तरिक नम्यता (2) सूत्र नम्यता (3) स्व निर्णयात्मक कार्य। करारोपण ऐसा यंत्र है जोकि स्वायत्त आय, उपभोग तथा निवेश को प्रभावित करता है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का आय, उत्पादन तथा रोजगार पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जैसा कि निवेश में वृद्धि का प्रभाव होता है। इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय में कमी आर्थिक क्रियाओं के स्तर को उल्टी दिशा में प्रभावित करती है। सार्वजनिक ऋण के द्वारा बजट के घाटे की पूर्ति सम्भव हो जाती है। इसके चार रूप होते हैं- गैर बैंक जनता से लिये गये ऋण, बैंकिंग व्यवस्था से लिये गये ऋण, खजाने से निकासी, मुद्रा छापना।

15.8 शब्दावली

- **क्षतिपूर्क राजकोषीय नीति-** अर्थव्यवस्था में प्रभावी मांग में होने वाले परिवर्तनों की सरकार अपनी बजट नीति के द्वारा निष्प्रभाव करना।
- **क्षतिपूर्क व्यय-** कुल मांग में कमी क्षतिपूर्ति के लिये सरकार द्वारा अतिरिक्त के लिये सरकार द्वारा अतिरिक्त व्यय करना।
- **पम्प अपक्रमण-** आय की धारा में सरकार द्वारा कुछ व्यय का अन्तर्क्षेप, जिसके प्रभाव में साधनों का पूर्ण उपयोग होना।
- **घाटे का बजट-** सरकारी व्यय का आय की तुलना में अधिक होना।
- **क्रियाशील वित्त-** सार्वजनिक व्यय और आय की नीतियों का स्वरूप क्रियाशील होना।

15.9 लघु उत्तरीय प्रश्न

1) केन्स के अनुसार राजकोषीय नीति का उद्देश्य क्या है

- a) निवेश में वृद्धि का उपाय करना
 b) बचत के अनुपात में
 c) पूर्ण रोजगार के स्तर प्राप्त करना
 d) कीमतों में स्थिरता
- 2) मन्दीकाल में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत कौन सा उपाय अपनाया गलत होगा?
 a) सरकारी व्यय में वृद्धि b) करों में वृद्धि
 c) घाटे की वित्त व्यवस्था d) आत्र के वितरण में समानता
- 3) क्राउडिगं आउट प्रभाव क्या है।
 a) उद्योगों को हटसा b) निवेश में कमी करना
 c) निवेश में वृद्धि कसा d) सरकारी व्यय में वृद्धि के प्रभाव में निजी व्यय में कमी होना
- 4) राजकोषीय नीति किस स्थिति में अधिक महत्वपूर्ण है?
 a) मंदी काल b) स्फीतिकाल
- 5) सरकारी व्यय के दो रूप बताइये?
 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 1) b 2) b 3) d 4) a 5) पम्प अपक्रामण एवं क्षतिपूरक व्यय।

15.10 संदर्भ सहित ग्रन्थ

1. डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
 2. डा० टी०टी० सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

15.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- Dwivedi, D.N. (1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
- Ahuja, H. L. ((1910) Principles of Macro Economics, S&Chand Publishing House .
- Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

15.12 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1) राजकोषीय नीति के मन्दी की स्थिति तथा स्फीति की स्थिति में महत्व की विवेचना कीजिये।
 2) राजकोषीय नीति के विभिन्न यंत्रों की विवेचना कीजिये।
 3) राजकोषीय नीति का विकसित एवं विकासशील देशों में कौन-कौन से उद्देश्य होते हैं, व्याख्या कीजिये?

इकाई-16 साख निर्माण एवं नियन्त्रण

इकाई की रूपरेखा

- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 उद्देश्य
- 16.3 बैंक जमाओं के प्रकार
 - 16.3.1 प्रारम्भिक जमा
 - 16.3.2 व्युत्पन्न जमा
- 16.4 साख निर्माण का प्रक्रिया
 - 16.4.1 एक बैंक बैंकिंग प्रणाली
 - 16.4.2 बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली
- 16.5 मुद्रा गुणक
- 16.6 साख मुद्रा के निर्माण की सीमाएँ
 - 16.6.1 परिमाणात्मक विधियां
 - 16.6.2 चयनात्मक साख नियन्त्रण
- 16.7 साख नियन्त्रण की कठिनाइयां
- 16.8 सारांश
- 16.9 शब्दावली
- 16.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
- 16.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें (सहयोगी)
- 16.12 निबन्धात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में हमने केन्द्रीय बैंक के द्वारा निर्गत मौद्रिक नीति और विभिन्न रीतियों का अवलोकन किया। प्रस्तुत इकाई बैंको द्वारा साख मुद्रा के निर्माण का विस्तृत उल्लेख करेगी एवं उसे नियन्त्रण करने के उपायों की चर्चा भी होगी।

साख मुद्रा अथवा बैंक मुद्रा का संबन्ध बैंको के पास जमा की गयी उस राशि से होता है जिसे चेक के द्वारा निकाला जा सकता है। अतः मुद्रा की पूर्ति में विधिग्राह मुद्रा के अतिरिक्त साख मुद्रा की भी अहम् भूमिका होती है। जहाँ विधिग्राह का निर्माण सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा होता है, वही साख मुद्रा का निर्माण वाणिज्यिक बैंको द्वारा किया जाता है।

चूँकि साख मुद्रा मांग पर देय होती है अतः इसे मांग जमा अथवा जमा मुद्रा भी कहा जाता है। इस प्रकार की बैंक जमा बढ़ने पर हो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है।

16.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकेंगे कि -

1. साख मुद्रा के निर्माण की क्या प्रक्रिया है।
2. एक तथा बहु बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत साख मुद्रा का निर्माण कैसे किया जाता है।
3. साख मुद्रा निर्माण की क्या सीमाएँ हैं?
4. साख निर्माण के नियन्त्रण के क्या उपकरण हैं?

16.3 बैंक जमाओं के प्रकार

वाणिज्यिक बैंकों के लिये साख अथवा जमाओं का निर्माण करना अति महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है। बैंको का उद्देश्य लाभ कमाना होता है जिस कारण वह मांग जमाओं में वृद्धि करना चाहते हैं और अपने ग्राहकों को साख पर ऋण उपलब्ध कराते हैं।

बैंक जमा दो प्रकार के होते हैं :-

1. जब ग्राहक वाणिज्यिक बैंक में करेन्सी जमा करते हैं।
2. जब बैंक ऋण देते हैं, हुडियाँ भुनाते हैं, ओवर ड्राफ्ट सुविधाएँ प्रदान करते हैं और बांडो तथा प्रतिभूतियों के माध्यम से निवेश करते हैं।

प्रथम जमा को प्रारम्भिक जमा करते हैं जबकि दूसरी को व्युत्पन्न जमा कहा जाता है।

16.3.1 प्रारम्भिक जमा - से अभिप्राय उन जमाराशियों से है जो नकदी अथवा वास्तविक मुद्रा के रूप में जमाकर्ताओं द्वारा बैंक में जमा की जाती है। इन्हें निष्क्रिय जमा कहा जाता है। क्योंकि इस जमा का निर्माण बैंक द्वारा नहीं होता। अतः इन्हें प्रत्यक्ष जमा भी कहा जाता है क्योंकि ग्राहक प्रत्यक्ष रूप से बैंक में जमा करता है।

16.3.2 व्युत्पन्न जमा - किसी वाणिज्यिक बैंक द्वारा ऋण देने पर अथवा प्रतिभूतियों का खरीद कर अपने धन का विनियोग किया जाता है। यहीं ऋण अथवा विनियोग की राशि बैंको में जमा कर दी जाती है। इन साख खातों से रकम बैंक द्वारा निकाली जाती है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाली जमा राशियां व्युत्पन्न जमा, साख जमा अथवा गौण जमा कही जाती है। बैंक इस तरह की जमाओं का सक्रिय रूप से निर्माण करती है। अतः इन्हें सक्रिय जमा भी कहते हैं। चूंकि ये प्रारम्भिक जमाओं से उत्पन्न होती हैं इसलिए इन्हें व्युत्पन्न जमाएँ कहते हैं। निष्कर्ष रूप से कहा जाता है कि व्युत्पन्न जमा का निर्माण ही साख मुद्रा का निर्माण है। अर्थात् ऋण जमाका निर्माण करते हैं (Loans create deposit)। इस संदर्भ में दो मत प्रस्तुत किये गये :

1. हॉर्टले विद्वर्ज का मत

2. वाल्टर लीफ का मत

जहाँ विद्वर्ज के अनुसार बैंक हर बार कर्जा देते समय जमा खाता खोलकर साख का निर्माण कर सकते हैं वही लीफ का कहना है कि बैंक हल्की हवा में मुद्रा का निर्माण नहीं कर सकते हैं। उनके अनुसार बैंक मुद्रा का न तो निर्माण कर सकते हैं, और न ही निर्माण।

पर सेम्युल्सन ने लक्ष्य किया है जो काम हर छोटा बैंक नहीं कर सकता, वह काम सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था कर सकती है।

जब बैंक कर्जा देता है तो वह ग्राहक के नाम खाता खोल देता है। उसे पता होता है (अनुभव द्वारा) कि ग्राहक पैसा बैंक के द्वारा ही निकालेगा जिन्हें उसके ऋणदाता उसी बैंक में अथवा किसी अन्य बैंक में, जहाँ उनका खाता होगा, जमा करा देंगे। इस तरह सभी बैंकों का निपटारा समाशोधन गृह करता है अन्य बैंक द्वारा भी यही तरीका अपनाया जाता है। इस प्रकार थोड़ी सी नकदी रिजर्व में रखकर तथा बाकी उधार में देकर बैंक साख या जमाओं का निर्माण कर सकते हैं।

16.4 साख निर्माण का प्रक्रिया

साख मुद्रा के निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन क्रमशः एक तथा बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत किया जा सकता है।

16.4.1 एक बैंक बैंकिंग प्रणाली - सरल रूप में साख निर्माण की प्रक्रिया समझने के लिये हम यह मान ले कि देश में एक ही बैंक है। चूंकि एक ही बैंक होने के कारण इसकी समस्त चुकता पूँजी बैंक के भवन, फर्नीचर आदि में लगी हुयी है अतः इसे अपनी नकद जमा राशि पर ही व्यवसाय चलाना पड़ता है।

उदाहरण के लिये मान लेता है कि बैंक को मांग जमा के रूप में 1,000 रुपये की राशि प्राप्त होता है। सम्पूर्ण राशि नकद कोष के रूप में अपने पास रख लेने पर साख मुद्रा का निर्माण नहीं होगा। आधुनिक बैंक शत प्रतिशत नकदी रिजर्व नहीं रखते।

वास्तविक स्थिति यह है कि कोई भी बैंक अपने पास शत-प्रतिशत नकद कोष रखने की आवश्यकता नहीं समझता। उन्हें कानूनी तौर से अपनी जमाओं की एक स्थित प्रतिशतता नगदी में रखनी पड़ती है। जैसे 10, 15 या 19 प्रतिशत। अतः साख का निर्माण आधार है।

$$\text{आवश्यक रिजर्व अनुपात - } RR_r = \frac{RR}{D}$$

$$\text{या } RR = RR_r \times D$$

$$D = \frac{RR}{RR_r}$$

$$\frac{D}{RR_r} = \frac{1}{RR_r}$$

D= बैंक की जमाएं, RR= आवश्यक नकदी रिजर्व, RR_r = आवश्यक रिजर्व अनुपात

जमा गुणक है जो एक बैंक द्वारा जमा प्रसार की सीमाओं को निर्धारित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि बैंक के पास रुपये 1000 जमाओं में है और इसका कानूनी न्यूनतम अनुपात या आवश्यक रिजर्व अनुपात प्रतिशत है तो यह ₹0 5000 तक साख निर्माण कर सकता है।

$$\frac{1}{RR_r} \times D = \frac{1}{0.20} \times 1000 = \text{Rs, } 5000$$

प्रथम चरण में बैंक अपने पास ₹0 190 नकद कोष में रखकर शेष ₹0 800 की राशि को ऋणों तथा निवेश में लगा कसता है। बैंक का स्थिति विवरण निम्न प्रकार से होगा -

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
नकद कोष = ₹0 190	प्रारम्भिक जमा ₹0 1000
ऋण एवं निवेश = ₹0 800	
कुल = ₹0 1000	कुल ₹0 = 100

इस ₹0 800 ऋण देने पर लोगों को चैकों के प्रयोग के द्वारा इतनी बैंक मुद्रा का उपयोग करने का अधिकार मिल जाता है।

क्या यह संभव है कि नकद जमा के रूप में प्राप्त की गयी 1000 ₹0 की सम्पूर्ण राशि को अपने पास नकद कोष में रखकर इसके आधार पर 4000 ₹0 की साख मुद्रा अथवा व्युत्पन्न जमाओं का निर्माण कर सके? यदि ऐसा होता है तो बैंक की स्थिति विवरण में कुल परिसम्पत्तियों तथा कुल दायित्व समान (5000 ₹0) होंगे। 19 प्रतिशत की नकद कोष की शर्त भी पूरी होगी।

व्यावहारिक रूप में यह तभी संभव है जब लोग चैकों के बदले में नकदी मांगते और सम्पूर्ण रकम बैंक में जमा पड़ी रहने देते हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि लिये हुये ऋण का उपयोग भी किया जाता है।

स्पष्ट है कि व्यावहारिक रूप में एक व्यक्तिगत बैंक नकद कोष में 1 ₹0 रखकर 5 ₹0 की बैंक जमा अथवा 4 ₹0 की व्युत्पन्न जमा का निर्माण नहीं कर पायेगा।

यदि एक एकाधिकार बैंक का उदाहरण लिया जाय जिसकी कई शाखाएं देश में हो तो एक शाखा से ली गयी नकद राशि पुनः उसकी किसी अन्य शाखा में जमा हो जायेगी और वह अपने नकद कोष अनुपात से अधिक ऋण देने का सामर्थ्य रख सकेगा।

तालिका I-एकाधिकार बैंक का प्रारम्भिक चिट्ठा -

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 1000	जमाएं ₹0 1000
कुल ₹0 1000	कुल ₹0 1000

ऊपर दी गयी तालिका से यह कि एकाधिकार बैंक के पास प्रारम्भिक जमाएं ₹0 1000 है। आवश्यक रिजर्व अनुपात 19 प्रतिशत होने पर ₹0 4000 के बराबर अतिरिक्त साख निर्माण हो सका है। फलस्वरूप जमाएं बढ़कर ₹0 5000 हो जाती है।

तालिका II- एकाधिकार बैंक का अंतिम चिट्ठा -

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 1000	जमाएं ₹0 5000
कुल ₹0 4000	-
कुल ₹0 5000	कुल ₹0 5000

परन्तु आज के समय में कोई भी बैंक एकाधिकार बैंक नहीं होनी चाहिये। साख निर्माण की प्रक्रिया बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत समझी जा सकती है।

16.4.2 बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली (Multiple Banks Banking System):-

1. बैंकिंग प्रणाली में A, B & C आदि अनेक बैंक है।
2. प्रत्येक बैंक को अपनी जमाओं का 19 प्रतिशत रिजर्व में रखना पड़ता है। अर्थात् आवश्यकता रिजर्व अनुपात 19 प्रतिशत है।
3. प्रथम बैंक की। जमाएं 1000 ₹0 है।
4. एक बैंक के ग्राहक द्वारा लिया गया कर्जा पूर्ण रूप से दूसरे बैंक में जमा कर दिया जाता है और दूसरे बैंक का तीसरे बैंक में और इसी तरह आगे अन्य बैंक में।
5. प्रत्येक बैंक दूसरे बैंक के ऋणी द्वारा जमा करायी गयी राशि के प्रारम्भ करता है जो उसकी प्रारम्भिक जमा होती है।

बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत एक बैंक द्वारा किये गये साख निर्माण का श्रृंखलाबद्ध प्रभाव अन्य बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख निर्माण पर पड़ता है। कोई एक बैंक अपनी नकद जमा का केवल एक ही भाग ऋण कर सकता है। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि अन्य बैंक भी साख का निर्माण नहीं कर लेते है।

बैंक की स्थिति विवरण तालिका के माध्यम से उपर्युक्त प्रक्रिया को समझाया जा सकता है।

तालिका III -बैंकA की प्रारम्भिक जमा -

यदि ₹0 800 का कर्जा ग्राहक द्वारा बैंक B में जमा करवाया जाता है जिसका प्रारम्भिक और अंतिम चिट्ठे क्रमशः तालिका V & IV में दिखाया गया है।

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 1000	जमाएं ₹0 1000
कुल ₹0 1000	कुल ₹0 1000

तालिका IV यह स्पष्ट करती है कि बैंक रुपये 800 के ऋण देता है जो इसकी जमाओं (₹0 1000) के 4/5 या 80 प्रतिशत है और ₹0 190 रिजर्व में रखता है जो 1/5 या 19 प्रतिशत है।

तालिका IV - बैंक A का अंतिम चिह्न -

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 190	जमाएं ₹0 1000
ऋण ₹0 800	-
कुल ₹0 800	कुल ₹0 1000

तालिका V - बैंक B का प्रारम्भिक विवरण -

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 800	जमाएं ₹0 800
कुल ₹0 800	कुल ₹0 800

बैंक A द्वारा दिये गये साख मुद्रा के निर्माण के आधार पर द्वितीय श्रंखला के B बैंक ने भी साख मुद्रा का निर्माण किया है। बैंक B रुपये 800 के जमा से प्रारम्भ करता है, इसका 19 प्रतिशत अर्थात् नकद ₹0 160 रिजर्व में रखता है और बागी 80 प्रतिशत या ₹0 640 ऋण दे दिया गया है।

तालिका VI - बैंक B का अंतिम चिह्न

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 160	जमाएं ₹0 800
ऋण ₹0 640	-
कुल ₹0 800	कुल ₹0 800

अब बैंक B द्वारा दिये गये ₹0 640 के ऋण तथा विनियोग बैंक C के पास प्रारम्भिक जमा के रूप में पहुँच जायेंगे। अब यह बैंक C भी अपने पास नकद जमा के 1/5 भाग (₹0 128) नकद कोष में रखकर शेष 4/5 भाग (₹0 512) ऋण तथा निवेश के रूप में देगा।

तालिका VII - बैंक C का अंतिम चिह्न -

परिसम्पत्तियां (Assets)	देयताएं (Liabilities)
रिजर्व ₹0 128	जमाएं ₹0 640
ऋण ₹0 512	-
कुल ₹0 640	कुल ₹0 640

बैंक C द्वारा निर्मित साख मुद्रा की राशि अगले बैंक के पास प्रारम्भिक जमा के रूप में पहुँच जाने पर वह भी अन्य बैंको की तरह इसके आधार पर साख मुद्रा का निर्माण करेगा। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि बैंको को अपने पास 19 प्रतिशत नकद कोष रखने के लिये जमा प्राप्त होती रहती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगा जब तक 60 वां बैंक इसमें नही आ जाता जबकि अंतिम जमा राशि इतनी थोड़ी होती है कि कोई नया ऋण नही दिया जा सकता अन्त में A, B, C और अन्य बैंको के अंतिम विवरणों क आधार पर बैंकिंग प्रणाली में ₹0 5000 तक की राशि को नई जमाओं का निर्माण हो सकता है। जैसा कि तालिका IX में दिखया गया है।

तालिका VIII बैंकिंग प्रणाली में साख –

निर्माण की प्रक्रिया			
(1)	(2)	(3)	(4)
बैंक	नयी जमाराशियों (₹0)	नकद कोष (₹0)	नये ऋण एवं निवेश (₹0)
A	1000	190	800
B	800	160	640
C	640	128	512
-	512	102	409
-	-	-	-
सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की जोड़	-	-	-

ऊपर की तालिका के स्तम्भ 2 को इस प्रकार भी हल किया जा सकता है:-

$$(1000 + 800 + 640 + 512 + \dots)$$

बीजगणित के अनुसार इस क्रम को इस प्रकार व्यक्त किया जाता है:-

$$\text{Rs.} = 1000 \left[1 + \frac{4}{5} + \left(\frac{4}{5}\right)^2 + \left(\frac{4}{5}\right)^3 + \left(\frac{4}{5}\right)^4 \right]$$

$$\text{Rs.} = 1000 \left(\frac{1}{1 - \frac{4}{5}} \right) = 1000 \times 5 = \text{Rs. } 5000$$

बैंकिंग प्रणाली द्वारा किये जमा विस्तार के क्रम को निम्न समी0 के द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है।

$$\Delta D = \frac{1}{RRr} \Delta a$$

$\Delta D =$ बैंकिंग प्रणाली में जमाओं में हुयी कुल वृद्धि

$RRr =$ नगद कोष अनुपात

$\frac{1}{RRr} =$ जमा गुणक

$\Delta a =$ बैंक जमाओं में हुयी आरम्भिक वृद्धि है।

(प्रथम बैंक को प्राप्त हुयी वृद्धि)

उपयुक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक बैंक एक रूपये की नगद जमा प्राप्त होन पर 5 रू की बैंक मुद्रा का निर्माण नहीं कर सकता है। परन्तु सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में सभी बैंक मिलकर यह कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं, जबकि व्यक्तिगत रूप से सभी बैंकों ने अपनी प्रारम्भिक जमाओं का केवल 4/5 भाग ऋण तथा विनियोग के रूप में उपयोग किया है।

निम्नलिखित शर्तों के होने पर ही बैंक साख का निर्माण करने में सक्षम होती है।

बैंक मुद्रा के निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया केवल एक आदर्श स्थिति को व्यक्त करती है।

- i. बैंको की समस्त जमाराशियों मांग जमाराशियों के रूप में हो।
- ii. बैंको द्वारा अपनी लाभोपार्जन वाली परिसम्पत्तियों का उपयोग केवल व्यावसायिक ऋण देने के लिये किया जाता है।
- iii. औसत तथा सीमान्त करेन्सी-जमा अनुपात (Currency deposit ratio) स्थिर रहता है। अधिक मात्रा में चलन का वर्हिप्रवाह (Currency drawn) बैंको की साख निर्माण शक्ति को कम करता है।
- iv. बैंकों के बदले में एक बैंक से नकदी प्राप्त करने के बाद उसे दूसरे बैंक में जमा करा दिया जाता है। यदि नकदी का प्रयोग बढ़ा दिया जाये तो बैंको की साख निर्माण की शक्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।
- v. बैंको द्वारा अपने नकद कोषों के अनुपात में कोई कमी अथवा वृद्धि नहीं की जा सकती है।
- vi. जनता बैंको से बैंकों की अधिकतम ऋण देने की शक्ति तक ऋण लेने के मांग रखती है।
- vii. बैंक अपनी अधिकतम ऋण देने की शक्ति तक जनता को ऋण देने के लिये तैयार है।

इस शर्तों के पूरा होने पर मात्र इतना ही ज्ञात हो पाता है कि अनुकूल परिस्थितियों में बैंकिंग प्रणाली अपने नकद कोषों को आधार पर अपनी प्रारम्भिक जमाराशियों से अधिक मात्रा में बैंक मुद्रा अथवा मांग पर देय जमाराशियों का निर्माण कर सकती है।

इस गुणक प्रक्रिया में निश्चित रूप से समय लगता है। वर्तमान अथवा अल्पकाल में जो कुछ बैंक जमाओं तथा ऋणों के आकार है, यह पहले के अनेक कालों में हुयी वृद्धि का संचयी प्रभाव है।

16.5 मुद्रा गुणक

बैंक द्वारा साख निर्माण के रूप में हुआ मुद्रा गुणक (Money Multiplier) मुख्य रूप से तीन व्यावहारिक परिसम्पत्ति अनुपातों (behaviourial asset ratio) पर निर्भर करता है -

1. करेन्सी का जमा राशियां से अनुपात (c)
2. मियादी जमा राशियों का मांग जमाराशियों से अनुपात (t)
3. आरक्षित कोषों का जमाराशियों से अनुपात (σ)

इन अनुपातों को मुद्रापूर्ति के प्रत्यक्ष अथवा निकटस्थ कारकों के रूप में माना जाता है।

16.6 साख मुद्रा के निर्माण की सीमाएँ

बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति असीमित नहीं होती। उन्हें कुछ नियन्त्रण में रह कर ही कार्य करने पड़ता है।

अतः साख के निर्माण की कुछ सीमाएँ भी हैं -

1. **नकदी का मात्रा** - साख की मात्रा मुद्रा की मात्रा पर आधारित होती है। यदि मुद्रा की मात्रा अधिक है तो बैंको की जमाराशियां बढ़ती हैं जिसे फलस्वरूप अधिक साख का निर्माण संभव होता है। मुद्रास्फीति काल में बैंको की जमाराशियां बढ़ जाती हैं। और मुद्रा संकुचन में इसमें कमी आ जाती है। इससे साख निर्माण की शक्ति भी कम हो जाती है।
2. **लोगों की नकदी रखने की आदत** - लोगों को यदि नकदी मुद्रा रखने की प्राथमिकता हो न कि भुगतान के लिये बैंक का प्रयोग करना, तो जैसे ही बैंक द्वारा ऋण दिया जायेगा, ऋणी बैंक से नगद रकम ले लेगा। और बैंको के नकद कोष कम हो जाने उनकी साख निर्माण की शक्ति भी घट जायेगी। पर इसके फलस्वरूप बैंको की साख निर्माण की शक्ति भी अधिक होगी।
3. **बैंको के नकद कोष** - केन्द्रीय बैंक द्वारा नियत किया गया जमा से नगदी को न्यूनतम कानूनी रिजर्व अनुपात भी एक महत्वपूर्ण कारण है जो बैंको की साख निर्माण भी एक महत्वपूर्ण कारण है जो बैंको की साख निर्माण की शक्ति को निर्धारित करता है। तत् जितना अधिक होगा, बैंका की साख निर्माण की शक्ति उतनी ही कम होगी और विलोमशः।
4. **बैंको के कन्द्रीय बैंक के पास रक्षित कोष** - प्रत्येक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास अपनी चालू तथा निश्चित कालीन जमाराशियां अथवा मांग तथा काल दायित्व का कुछ भाग रक्षित कोष के रूप में रखना पड़ता है। यह मात्रा जितनी अधिक होगी, बैंका की साख निर्माण की शक्ति उतनी ही अधिक सिमित होगी। नकद कोषानुपात साख गुणक के आकार का निर्धारण करता है। यह जितना अधिक होगा, साख गुणक का आकार उतना ही कम होगा और साख का संकुचन होगा।
5. **रिसाव** - कानूनी रिजर्व अनुपात के दिये हुये होने पर भी यदि बैंकिंग प्रणाली की साख निर्माण धारा से किसी प्रकार का रिसाव होता है तो साख का निर्माण उतना नहीं होगा, जितना होना चाहिए। जैसे प्राप्त किये गये चैक को यदि लोग बैंक में जमा न कराए बल्कि खर्च के लिये अथवा घर पर जमा करने के लिये मुद्रा को नकदी में निकला ले तो साख निर्माण की शक्ति सीमित हो जाती है।

6. **प्रारम्भिक जमाओं की मात्रा** - केन्स का विचार पूर्णतया सही है कि बैंको द्वारा जमाओं का निर्माण उनकी प्रारम्भिक जमाशियों की मात्रा पर निर्भर करता है, यदि यह अधिक होती है तो साख निर्माण भी अधिक होता है।
7. **व्यापारिक एवं औद्योगिक स्थिति** - यदि मंदीकाल है तो व्यापारी एवं उद्योगपति की ऋण की मांग भी कम हो जाती है जिस कारण बैंक अधिक साख का निर्माण नहीं कर पाते हैं। तेजी की स्थिति में यह संभव हो जाता है।
8. **जमानतों की श्रेष्ठता** - जमानते जितनी श्रेष्ठ होगी साख की निर्माण भी उतना ही अधिक होगा। सेथर्स के अनुसार बैंक अपनी नवनिर्मित मुद्रा को तत्काल हर किसी को नहीं दे डालते अपितु केवल उन्हे व्यक्तियों को देते हैं जो बैंक इस प्रकार के आदेय प्रस्तुत करते हैं जिन्हें बैंक आकर्षक समझते हैं।
9. **चैक समाशोधन** - वाणिज्यिक बैंको के चैकों का समाशोधन तुरन्त हो जाने पर और वाणिज्यिक बैंको के रिजर्व चैकों के लेनदेन के अनुरूप समान तौर बढ़ने या घटने पर ही साख विस्तार की प्रक्रिया आधारित है।
10. **केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति** - केन्द्रीय बैंक को यह नीति भी वाणिज्यिक बैंको की साख निर्माण की शक्ति को सीमित कर देती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार की प्रक्रिया तथा बदली सीमा आवश्यकताओं के द्वारा बैंको की नकदी रिजर्व राशि को प्रभावित करते हैं जिससे साख विस्तार व संकुचन प्रभावित होता है।
11. **अन्य बैंको का व्यवहार** - साख निर्माण के सफल संचालन के लिये कोई भी बैंक साख निर्माण के कार्य में अन्य बैंकों के आगे व पीछे अधिक समय तक नहीं रहा सकता है। अन्य बैंको द्वारा अपनाई गयी साख निर्माण सम्बन्धी नीति बैंक के साख निर्माण को प्रभावित करती है। यदि एक बैंक अन्य बैंकों की तुलना में अधिक साख निर्माण करता है तो इसके नकदी जल्दी समाप्त होती जायेगी क्योंकि वहाँ के चैक अन्य बैंको में जमा होंगे और उसे अन्य बैंकों को नकदी देकर भुगतान करना पड़ेगा। इसका विपरित जब अन्य बैंको की तुलना में साख निर्माण कम करेगा तो इस बैंक के नकद कोषों में वृद्धि होगी और साख विस्तार होगा।
12. **बैंक ऋणों की मांग** - मांग अधिक होने पर ही बैंक अधिक ऋण दे पायेंगे। पर यह मांग भी देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। पिछले कुछ वर्षों जो बैंक ऋण की मांग कम हुयी है उसकी विभिन्न कारण हैं जैसे औद्योगिक केन्द्रीयकरण, बैंक साख पर आधारित उद्योगों का सापेक्षिक पतन, साख सम्बन्धी विशिष्ट संस्थाओं का विकास, शेयर बाजार का विकास, फुटकर व्यापार में नकद भुगतान की वृद्धि।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वाणिज्यिक बैंको को साख की मात्रा का विस्तार करना या संकुचित करना केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति पर भी निर्भर करता है। यह केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व बनता है कि वह अर्थव्यवस्था की मौद्रिक तथा विनियोग सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा को नियन्त्रित करें।

16.6 साख नियन्त्रण की विधियां

वैधानिक रूप से केन्द्रीय बैंक के पास साख को नियन्त्रित करने के लिये विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं जिनका वह आवश्यकतानुसार अर्थव्यवस्था की स्थिति को देखकर प्रयोग करती है।

विभिन्न रीतियाँ जैसे बैंक दर, खुली बाजार की प्रक्रिया, न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात, आदि का प्रयोग कन्द्रीय बैंक स्थिति देखकर करती है। परन्तु साख की मांग में कमी होने पर केन्द्रीय बैंक की यह नीतियाँ इतनी प्रभावशील नहीं हो पाती।

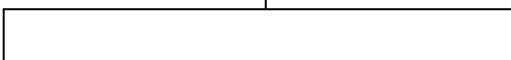
साख नियन्त्रण की विधियाँ

केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनायी गयी साख नियन्त्रण की विधियों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. परिमाणात्मक विधियाँ

2. गुणात्मक विधियाँ

केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण की विधियाँ



परिमाणात्मक विधियाँ

- बैंक दर की नीति
- खुले बाजार की क्रियाएँ
- तरल कोषानुपात का निर्धारण
- बैंको के नकद कोषों के अनुपात

गुणात्मक नियन्त्रण

- प्रत्यक्ष साख नियन्त्रण
- साख का राशनिंग
- प्रत्यक्ष कार्यवाही
- नैतिक दबाव, प्रचार, उपभोग साख का नियमन

1. **परिमाणात्मक विधियों** इस प्रकार का उपाय बैंकों के नकद कोषों को नियमन करके उनकी साख निर्माण की शक्ति को प्रभावित करते है। इनके अन्तर्गत जो रीतियाँ आती है उनका उद्देश्य साख का परिमाणात्मक नियन्त्रण करना होता है।
2. **गुणात्मक नियन्त्रण** - इन उपायो के अन्तर्गत साख का प्रयोग केवल उन्ही कार्यों के लिये करने की अनुमति दी जाती है जिन्हें केन्द्रीय बैंक स्वीकार्य समझता है। इन रीतियों का प्रयोग विशेष रूप से अमेरिका में अधिक किया गया है।

16.6.1 परिमाणात्मक विधियाँ

1. बैंक दर नीति:- बैंक दर से अभिप्राय उस ब्याज दर से जिस पर केन्द्रीय सदस्य बैंक के साथ श्रेणी के बिलों की पुर्नकटौती करता है अथवा स्वीकार्य प्रतिभूतियों पर ऋण देता है। कई देशों में इसे कटौती दर भी कहा जाता है। बैंक दर के अलावा एक बाजार दर भी होती है। ब्याज की बाजार दर वह दर है जिस पर वाणिज्यिक बैंक तथा अन्य संस्थायें बिलों की कटौती करती है। साधारण रूप से बाजार दर बैंक दर से सम्बन्धित है। बैंक दर में वृद्धि से बाजार दर देने पर वाणिज्यिक बैंक अपने ग्राहकों से भी ऊँची ब्याज पर वसूल करती है। परन्तु जब वाणिज्यिक सस्ती ब्याज दरें केन्द्रीय बैंक को अदा करती है तो वह ग्राहकों को भी सस्ती दर पर ऋण उपलब्ध कराती है। अतः यह कहा जा सकता है कि बैंक दर के बढ़ जाने से और घटने से बाजार दर घट जाती है। बाजार दर बढ़ने से ऋण लेना मंहगा हो जाता है। जिसके फलस्वरूप व्यापार की ऋणों के लिये मांग पहले की अपेक्षा कम हो जाती है तथा साख का संकुचन होता है। इसके विपरित होने पर साख का प्रसार होता है।

अतः बैंक दर का सिद्धान्त यह है कि बैंक दर बढ़ाने से साख का संकुचन होता है और बैंक दर घटाने से साख का विस्तार होता है।

अतएव अर्थव्यवस्था में जैसी स्थिति लानी हो, वैसी ही क्रिया की जाती है। व्यापार क्रिया को प्रोत्साहन देने के लिये साख का विस्तार किया जाता है जिसके लिये बाजार दर को काम करना होता है। अर्थात् बैंक दर को कम करके केन्द्रीय बैंक साख में नियन्त्रण ला सकती है।

जब स्फीति सीमा से परे हो गयी हो, तो साख को घटाना होता है। तब केन्द्रीय बैंक बैंक दर को बढ़ा देती है। और उधार लेना मंहगा हो जाता है। आगे में वाणिज्यिक बैंक उपभोक्ताओं को उधार लेना मंहगा हो जाता है। जिससे नये कर्जों के लिये उत्साह इससे व्यापार किया हतोत्साहित होती है।

इस प्रकार बैंक दर कम होने से अवस्फीतिकारी प्रवृत्तियों की क्षतिपूर्ति हो जाती है तथा बैंक दर बढ़ने से स्फीति रूक जाती है।

बैंक दर नीति की सीमाएँ:-

1. इस नीति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि इस दर में परिवर्तन का प्रभाव मुद्रा बाजार में अन्य ब्याज दरों पर भी पड़े। यह तभी मुमकिन है जब मुद्रा बाजार सुसंगठित एवं विकसित हो।
2. देश में वाणिज्यिक बैंको की केन्द्रीय बैंक पर अंतिम ऋणदाता के रूप में निर्भरता भी आवश्यक है।
3. एक विकसित बिल बाजार भी होना आवश्यक है।
4. अर्थव्यवस्था लोचपूर्ण होना चाहिये ताकि बैंक दरें बढ़ने या घटने पर कीमत स्तर, लागत, रोजगार, उत्पादन आदि में वांछित परिवर्तन हो सके। यह भी आवश्यक है कि बैंक दर में वृद्धि होने पर बैंको की जमा राशियों में वृद्धि हो।
5. जहाँ अधिकांश निवेश सार्वजनिक क्षेत्र का होता है तथा सरकार द्वारा नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपाय अपनाये जाते हैं, बैंक दर की नीति का महत्व कम हो जाता है।
6. तेजी के काल में लाभ में होने वाले निरन्तर वृद्धि को बैंक दर में वृद्धि न तो साख संकुचन कर पाती और न विनियोग में कमी। मंदी काल में तो यह नीति और भी असफल हो जाती है।
7. बैंक दर की नीति की प्रभाविता व्यापारियों की आशावादित अथवा निराशावादित की लहरों पर भी निर्भर करती है।

2. खुले बाजार की क्रियाएँ:- मात्रात्मक साख नियन्त्रण की एक रीति है जहाँ केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार में किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है। सीमित अर्थ में इसका तात्पर्य केवल सरकारी सिक्कोरिटियों तथा बांडों का क्रय-विक्रय है।

खुले बाजार के दो प्रमुख उद्देश्य हैं-

- I. वाणिज्यिक बैंको की आरक्षितियों को प्रभावित करना ताकि उनकी साख निर्माण की शक्ति पर नियन्त्रण रखा जा सके।
- II. ब्याज की बाजार दरों की प्रभावित करना ताकि वाणिज्यिक बैंक साख पर नियन्त्रण रखा जा सके।

साख एवं मुद्रा के संकुचन अथवा प्रचार पर जहाँ बैंक दर का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है, वही खुले बाजार के नीति का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं तत्काल होता है। बैंक दर के अप्रभावी होने की दशा में एक सहयोगी के रूप में खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया जा सकता है इस क्रियाओं को उद्देश्य सरकार की ऋण-नीति की पुष्टि करना भी हो सकता है।

मंदी काल में केन्द्रीय बैंक विस्तारात्मक नीति अपनाता है और वाणिज्यिक बैंको और प्रतिभूतियों का व्यापार करने वाली वित्तीय संख्याओं से प्रतिभूतियां खरीदता है। इन विक्रेताओं को वह अपने नाम का चैक देता है। विक्रेता जब इन चैकों को वाणिज्यिक बैंको में जमा करते हैं तो वाणिज्यिक बैंका के रिजर्व बढ़ जाते हैं। स्फीति काल में इसका विपरीत होता है।

जब खुले बाजार प्रचालनों के परिणाम स्वरूप मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होता है तो ब्याज की बाजार दरें भी परिवर्तन होती हैं तो ब्याज की बाजार दरें भी परिवर्तित होती हैं। जब प्रतिभूतियों के विक्रय से बैंक मुद्रा घटेगी तो उसका परिणाम यह होगा कि ब्याज की बाजार दरें बढ़ जायेगी। दूसरी ओर यदि प्रतिभूतियों के क्रय के माध्यम से बैंक मुद्रा की पूर्ति बढ़ेगी तो परिणामतः ब्याज की दरें घट जायेगी।

खुले बाजार प्रचालनों की सीमाएं -

1. मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों की मांग तथा पूर्ति न रहने पर केन्द्रीय बैंक की खुली बाजार क्रिया कभी सफल नहीं हो सकती।
2. वाणिज्यिक बैंक अपने नगद कोषों में होने वाले परिवर्तन के अनुसार घटी-बढी होना आवश्यक है।
3. खुले बाजारों की क्रियाओं के लिये मुद्रा बाजार का सुसंगठित होना आवश्यक है।
4. देश की परिस्थितियां अनुकूल होनी चाहिए क्योंकि प्रतिकूल राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण जमाकर्ताओं एवं ऋणियों के आचरण में असाधारण परिवर्तन हो सकते हैं।
5. केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने व बेचने की शक्ति पर भी खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता निर्भर करती है।
6. इस नीति की सफलता प्राप्ति के लिये केन्द्रीय बैंक का प्रतिभूतियों में विनियोग पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है।

3. नकद कोषानुपात में परिवर्तन (Variation in the cash reserve ratio)

इसे आवश्यक रिजर्व अनुपात अथवा न्यूनतम कानूनी आवश्यकता भी कहा जाता है। इसका सुझाव सर्वप्रथम केन्स ने अपनी (Treatise on money) पुस्तक में दिया था और 1935 में अमरीका के Federal Reserve System ने अपनाया था।

प्रत्येक सदस्य बैंक के लिये यह आवश्यक होता है कि वे अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंका के पास नकद कोष के रूप में जमा रखें। इस अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करके बैंको की साख निर्माण की शक्ति को केन्द्रीय बैंक नियन्त्रित करता है। यदि प्रतिशत अनुपात में वृद्धि होती है तो उनके पास नकद की मात्रा कम हो जाती है। और उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक के पास जमा नगद कोषों के अनुपात में कमी करने पर बैंको की साख निर्माण शक्ति बढ़ जाती है।

एक उदाहरण के माध्यम से इसे समझाया जा सकता है। भारत में सभी अनुसूचित बैंकों को अपना कुल जमाओं का 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक में रखना होता है, अब यदि यह न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात 3 प्रतिशत से बढ़कर 6 प्रतिशत कर दिया जाय तो बैंको को तत्काल ही रिजर्व बैंक के पास दुगुना नगद कोष जमा करना होगा जिससे साख निर्माण में उनकी शक्ति कम हो जायेगी।

परवर्ती रिजर्व अनुपात की सीमाएँ:-

1. वाणिज्यिक बैंको के पास बड़ी मात्रा में अतिरिक्त नकद कोष होने पर कोषानुपात परिवर्तन उनकी साख निर्माण करने की शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती।
2. अकेले नगद कोषों के आधार पर नहीं, अपितु वाणिज्यिक बैंक अपनी साख नीति का निर्धारण विदेशी कोषों अथवा ऋण जमा अनुपात के आधार पर भी किया जा सकता है।
3. साख की मांग का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मांग कम है तो कोषानुपात में कमी दर कर देने पर साख का विस्तार नहीं हो पायेगा।
4. कोषानुपात में परिवर्तन बार-बार संभव नहीं।
5. इस तकनीक की सफलता रिजर्व अनुपात की स्थिरता की कोटि पर निर्भर करती है।
6. यह पद्धति मात्र वाणिज्यिक बैंकों पर ही लागू होती है, न कि गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं पर अतः उद्देश्य की सफलता में संशय हो सकता है।
7. केन्द्रीय बैंक कोई भी परिवर्तन करने से पूर्व सोच विचार कर निर्णय करें।
8. बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास रखे गये नकद कोषों पर ब्याज नहीं दी जाती। इस घाटे की पूर्ति के लिये बैंक ऋणों पर ब्याज दर में वृद्धि कर सकते हैं।

4. गौण कोष की मांग:- केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको को यह आदेश देता है कि वे अपनी जमाओं का एक निश्चित अनुपात (जो न्यूनतम नकद कोषानुपात के अतिरिक्त होता है) सरकारी प्रतिभूतियों तथा अन्य तरल आदेशों में लगाये। इसके फलस्वरूप बैंको की साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है।

सन् 1945 में सर्वप्रथम अमेरिका में थमकमतंस त्मेमतअम ैलेजमउ के संचालन बोर्ड ने यह मांग की थी कि साख नियन्त्रण के लिये उन्हें यह अधिकार दिया जाये कि वे वाणिज्यिक बैंको की मांग निक्षेपों का 25 प्रतिशत तथा काल निक्षेपों का 10 प्रतिशत गौण का 25 प्रतिशत रूप में रखने का आदेश दे सके। जहाँ बेल्जियम ने यह रीति 1964 में अपनायी तत्पश्चात अन्य देश जैसे मैक्सिको, हॉलैण्ड, स्वीडन, भारत ने भी इस रीति को अपनाया। भारत में वैधानिक तरल कोषानुपात 1992 तक 38.5 प्रतिशत रहा जो चरणबद्ध तरीके से कम करते-2 25 प्रतिशत रह गया है।

16.6.2 चयनात्मक साख नियन्त्रण ; Selective Credit Control Qualitative Controls)

साख नियन्त्रण के चयनात्मक या गुणात्मक तरीकों का प्रयोजन साख के प्रयोक्ताओं और प्रयोगों में साख पूर्ति को नियमित एवं नियन्त्रित करना है। यह गुणात्मक साधन साख की कुल राशि को नहीं बल्कि उतनी ही राशि को प्रभावित करते हैं, जो अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र में प्रयुक्त की जा रही है।

उद्देश्य-यह साधन बैंक साख के प्रवाह को सद्वात्मक तथा अन्य अवांछनीय उद्देश्यों से हटाकर सामाजिक दृष्टि से वांछनीय तथा आर्थिक दृष्टि से उपयोगी प्रयोगों की ओर मोड़ना है। मुद्रा की मांग को नियन्त्रित करने के लिये उधार वालों नियम एवं शर्तें लगा देते हैं।

1. ऋण की सीमाओं में परिवर्तन करना- (Regulation of Margin Requirement)

यह चयनात्मक साधन साख की कुल राशि को प्रभावित नहीं करते है जो नहीं करते, वरन् उस राशि को प्रभावित करते है जो अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र में प्रयोग में लाई जा रही है। वास्तव में यह प्रतिभूतियों के मूल्य का वह प्रतिशत है जो कि उधार लिया था या दिया जा सकता है। अन्य शब्दों में, यह कर्ज की वह अधिकतम राशि है जो उधार लेने वाला प्रतिभूमियों के आधार पर बैंको से ले सकता है।

इसका साधारण तरीका यह होता है कि धाराओं के रूप में रखे गये माल के मूल्य तथा ऋण की राशि में अन्तर की सीमाओं (Margin Requirement)को बढ़ा दिया जाता है।

इस साधन का विशेष गुण यह है कि यह भेदमूलक नहीं है अर्थात् उधार लेने वालों और देने वालों पर समान रूप से लागू होता है। साथ ही साथ वाणिज्यिक बैंको एवं गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं पर समान रूप से लागू होती है। यह एक प्रभावशाली प्रतिस्फीति युक्ति है क्योंकि ये अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रों में साख का विस्तार को नियन्त्रण करती है जो स्फीति का पोषण करते है। यह एक अत्यन्त सुगम एवं सरल नीति है। यहाँ मात्र ध्यान देने की बात इतनी है कि स्टोरियों को बेमतलब दिये जाने वाले ऋणों के रूप में बैंक साख का रिसाव न हो।

2. उपभोक्ता साख का नियमन - जैसा द्वितीय युद्ध काल में सभी यूरोपीय देशों द्वारा उपभोक्ता साख पर नियन्त्रण लगाया गया था। अधिकतम विकसित देशों में उपभोग की मूल्यवान वस्तुएं जैसे वाशिंग मशीन, ए0सी0 आदि आसान किस्तों पर खरीद ली जाती है (Hire purchase)।

इस साधन का उद्देश्य साख अथवा किराया खरीद वित्त का नियम है। इससे अधिक स्थिरता के निमित्त टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की मांग नियमित की जाती है। इसके लिये केन्द्रीय बैंक दो युक्तियां काम में लाता है - न्यूनतम नकद भुगतान और पुर्नभुगतान की अधिकतम अवधियां। यदि एक टेलीविजन का मूल्य 1900 रू0 है तो इसे खरीदने के लिये वाजिणज्यिक बैंक के पास साख उपलब्ध है। केन्द्रीय बैंक यह तय करता है कि 50 प्रतिशत कीमत नकद चुकाई जाय और शेष राशि का भुगतान अधिकतम 10 महीनों में किया जाय तो उपभोक्ता को 1000 रू0 खरीदते समय बैंक को देने होंगे और शेष 1000 रूपये दस महीनों में 100 रूपये की मांग बढ़ जायेगी।

इसी प्रकार जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि अर्थव्यवस्था में तेजी की स्थिति आ गई है तो केन्द्रीय बैंक नकद भुगतानों की राशि बढ़ा देता है और पुनर्भुगतान की अधिकतम अवधियां घटा देता है।

परन्तु यह उपाय तकनीकी दृष्टि से दोषपूर्ण है और इसे अमल में लाना कठिन है क्योंकि इसका आधार संकुचित है। अर्थात् इस एक विशेष वर्ग पर आधार होता है। ऋणों की प्राप्ति पर नियमन - कुछ विशेष दोन्तो मेंवही साख को सीमित करना है तो एक निश्चित राशि से अधिक मात्रा में ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है और इसके लिये केन्द्रीय बैंक से पूर्व अनुमति भी लेनी पड़ती है।

3. साख की राशनिंग (Rationing of Credit) -

जब केन्द्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में अन्य बैंको की मांग की पूर्ण रूप से पूरा नहीं कर पाता है तो इसे राशनिंग कहते हैं।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख की राशनिंग के विभिन्न तरीके हैं - (1) किसी बैंक की पुनः कटौती की सुविधा को समाप्त कर देना। (2) सभी बैंको की पुनः कटौती की सुविधा को सीमित कर देना अथवा उसके साख का कोटा निश्चित कर देना (3) विभिन्न बैंको द्वारा विभिन्न उद्योगों अथवा व्यवसायों को दिये जाने वाले ऋणों की सीमा अथवा कोटा निश्चित कर देना आदि।

यह तरीका अत्यन्त प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण है। किन्तु केन्द्रीय बैंक को इसे लागू करने में कठिनाई होती है। देश की अर्थव्यवस्था के एक बहुत बड़े भाग पर सरकारी नियन्त्रण का अभाव रहना भी इस रीति के प्रयोग में एक बहुत बड़ी कठिनाई होती है। यह पद्धति नियोजित अर्थव्यवस्था के लिये अधिक उपयुक्त होती है। तथा इसके प्रयोग से देश में सुव्यवस्थित साख व्यवसाय का निर्माण हो सकता है।

यह उपाय रूस एवं मेंक्सिको में बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग में लाया गया है। इसलिये यह योजनाबद्ध अर्थव्यवस्थाओं में अपनाई गयी गहन एवं व्यापक आयोजन का तार्किक सहवर्ती है।

4. प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) - केन्द्रीय बैंक के पास यह अधिकार होता है कि वह अन्य बैंको को अपनी नीति का अनुकरण करने के लिये बाध्य कर सके। जो बैंक इसके विरुद्ध जाता है उसके साथ केन्द्रीय बैंक सीधी अथवा प्रत्यक्ष कार्यवाही करता है जिसके अनुसार वह इन वाणिज्यिक बैंको को पुनः कटौती की सुविधा देना बन्द कर देता है। या ऊँची दर पर देता है। इसके सफलता के लिये हम आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक शक्तिशाली हो, मुद्रा बाजार में उसका नेतृत्व हो तथा बैंक किसी वाणिज्यिक बैंक को यह धमकी भी दे सकता है कि यदि वे उसकी नीतियों और आदेशों का पालन नहीं करेगा, तो केन्द्रीय बैंक उसे अपने हाथ में ले लेगा।

परन्तु इस नीति की कुछ सीमाएं होती हैं -

1. व्यावहारिक रूप से ये संतोषजनक नहीं होता।
2. वाणिज्यिक बैंक साधारण रूप से ऐसे अवसर नहीं देते।
3. यह जानना सरल नहीं होता कि कब कोई बैंक अनुचित प्रयोग के लिये साख का प्रसार कर रहा है।
4. स्वयं बैंक भी साख के वास्तविक प्रयोग पर नियन्त्रण नहीं रख पाते न ही आवश्यक और अनावश्यक प्रयोगों में अन्तर कर पाते हैं।

5. नैतिक दबाव (Moral Suasion)- नैतिक दबाव या प्रबोधन वह उपाय है जिसे केन्द्रीय बैंक प्रायः वाणिज्यिक बैंकों का समझाने बुझाने, निवेदन करने, अनौपचारिक सुझाव और परामर्श देने के लिये अपनाते हैं। यह साधन बहुत कुछ प्रत्यक्ष कार्यवाही से मिलता जुलता है, अंतर केवल इतना है कि इसमें केन्द्रीय बैंक द्वारा शक्ति को प्रयोग नहीं किया जाता और मनोविज्ञानिक रूप से यह विधि वाणिज्यिक बैंको को अरुचिकर नहीं होती। बर्जेस के अनुसार यह ऐसा प्रभाव है जो काफी सूझ-बूझ के निर्णय के बाद प्रयोग करना चाहिए। नैतिक दबाव की नीति की सफलता मुख्यता तीन बातों पर निर्भर करती है।

1. केन्द्रीय बैंक का मुद्रा बाजार पर पूरा अधिकार होना चाहिए।

2. केन्द्रीय को इस सम्बन्ध में पर्याप्त अधिकार प्राप्त होना चाहिये।
3. केन्द्रीय बैंक और अन्य बैंकों के बीच सहयोग एवं सद्भावना होनी चाहिए।

6. प्रचार (Publicity):-

विज्ञापन तथा प्रचार के द्वारा केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अपनी नीति के प्रति प्रभावशाली जनमत तैयार करना होता है। प्रचार की रीति का प्रयोग अमेरिका में Federal Reserve Bank द्वारा बहुत अधिक किया जाता है। भारत में भी रिजर्व बैंक दरों की महत्वपूर्ण समस्याओं की स्थिति के सम्बन्ध में नियमित रूप से विवरण प्रकाशित करता है। केन्द्रीय बैंक जनता की सूचना के लिये वाणिज्यिक बैंकों की परिसम्पत्तियों और देयताओं के साप्ताहिक अथवा मासिक विवरण प्रकाशित करता है। वह मुद्रा पूर्ति, कीमतों, उत्पादन और रोजगार और पूँजी तथा मुद्रा बाजार आदि से सम्बन्धित सांख्यिकीय आंकड़े भी प्रकाशित करता है। यह भी वाणिज्यिक बैंकों पर नैतिक दबाव डालने का एक तरीका है।

इस नीति की सफलता के बारे में कुछ भी कहना मुश्किल है। जनता का शिक्षित होना एक मौद्रिक तत्वों की जानकारी होना आवश्यक है। अमेरिका में इसको साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है।

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है और कौन सी कम हकीकत में यह देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था तथा समस्याओं के स्वरूप पर निर्भर करता है कि कौन सी रीति किस देश के लिये अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है।

एक समुचित एवं संतुलित प्रयोग करने से दोनों रीतियाँ साख नियन्त्रण में कारगर सिद्ध हो सकती हैं। एक अकेले नीति साख का नियन्त्रण नहीं कर पाती। अन्य रीतियों के सहयोग से ही यह प्रभावी होती है। जिस देश में मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा संकुचन के कुप्रभावों को दूर करना हो, वहाँ परिणात्मक साख नियन्त्रण का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है। और यदि किसी देश में आर्थिक विकास करना हो तो गुणात्मक साख नियन्त्रण को विशेष महत्व देना चाहिये।

वास्तव में दोनों रीतियों को अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपनाया जात है। सम्मिलित रूप से निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत है:-

1. कोई भी परिमाणात्मक रीति मौद्रिक नियन्त्रण के लिये अकेले प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती है।
2. प्रभावपूर्ण साख नियन्त्रण के लिये सभी रीतियों का समन्वित रूप से प्रयोग करना आवश्यक है।
3. जैसी परिस्थिति हो वैसी रीति अपनानी चाहिये।
4. साख नियन्त्रण के परिमाणात्मक उपाय एक स्वंत्रत आर्थिक प्रणाली के लिये गुणात्मक उपायों की अपेक्षा अधिक सामंजस्यपूर्ण होते हैं।
5. इस रीतियों के प्रयोग से अर्थव्यवस्था के बचत् एवं विनियोग प्रभावित है।

16.7 साख नियन्त्रण की कठिनाइयां

1. **मौद्रिक संस्थाओं पर अपूर्ण नियन्त्रण** - देश के सभी मौद्रिक संस्थानों पर पूर्ण नियन्त्रण होने पर ही साख का सफल नियन्त्रण संभव हो पाता है। यदि ऐसा नहीं है तो कठिनाई आती है जैसे भारत में देशी बैंकर तथा पाश्चात्य देशों में विक्रय साख कम्पनियां आदि केन्द्रीय बैंको के नियन्त्रण के बाहर हैं।
2. **अव्यवस्थित बैंक व्यवस्था** - बैंको का प्रयाप्त विकास न होने पर और संगठित अवस्था न होने पर साख नियन्त्रण विफल हो जाता है। जब बैंको में पारस्परिक सहयोग न हो न ही केन्द्रीय बैंक से उनका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध हो तो ऐसी परिस्थितियों में नीतियां सफल नहीं हो पाती।
3. **सम्बन्धित बैंको का सहयोग** - अधिक लाभ कमाने के लिये अथवा बैंको के संचालकों के निजी हितों की पूर्ति करने में बैंक केन्द्रीय बैंक के नियमों का उल्लंघन करने के तरीके ढूंढ ही लेता है। जब वाणिज्यिक बैंको का सहयोग नहीं मिल पाता तो केन्द्रीय बैंक नीति में सफल नहीं हो पाती।
4. **साख की विभिन्न किस्में** - केन्द्रीय बैंक केवल बैंक साख को नियन्त्रित करता है, अन्य प्रकार की साख को नहीं जैसे किताबी साख, वाणिज्य साख आदि इन साखों का भी अर्थव्यवस्था पर बैंक साख जैसा ही प्रभाव पड़ता है।
5. **मुद्रा एवं पूँजी बाजार की स्थिति** - यदि केन्द्रीय बैंक का प्रभाव मुद्रा एवं पूँजी बाजार की स्थितियों पर नहीं पड़ता या फिर वह खुद इनके पीछे चलता है, तो साख नियन्त्रण सफल नहीं हो पाता।
6. **परम्पराओं का प्रभाव** - ब्रिटिश बैंको की परम्परा ऐसी है कि केन्द्रीय बैंक को अपनी साख नीति को केवल संकेत देना होता है और अन्य बैंक उसका तत्काल पालन करते हैं। परन्तु जिन देशों में ऐसी परम्पराएं नहीं हैं, वहाँ साख नियन्त्रण करना एक कठिन कार्य है।
7. **साख के अंतिम अपयोग पर नियन्त्रण की कठिनाई** यह भी संभव है कि ग्राहक व्यापारिक कार्यों के लिये गये ऋण को सद्दा कार्यों में लगाएँ जिसके लिये केन्द्रीय बैंक रोक लगाएँ हो तब उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।

निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि साख नियन्त्रण का प्रयाप्त अधिकार केन्द्रीय बैंक को दिया जाना चाहिये एवं वह भी इनका प्रयोग अर्थव्यवस्था की स्थितियों को परखते हुये आवश्यकतानुसार एवं कुशलतापूर्वक करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न -

1. जमा गुणक क्या है?

- a) $R = \frac{1}{RRr}$
- b) $R = 1 \times RRr$
- c) $1 = \frac{R}{RRr}$
- d) $RRr = \frac{1}{R}$

2. बैंकों की साख निर्माण की शक्ति किस तत्व से सीमित नहीं होती।

- a) करेन्सी की मात्रा
 - b) बैंको के नकद कोष
 - c) प्रारम्भिक जमाओं की मात्रा
 - d) ब्याज दर
3. एक बैंक प्रणाली के अर्न्तगत किसी बैंक के लिये सही कथन क्या है?
- a) ऋणों से जमाराशियों का निर्माण होता है।
 - b) जमाराशियों ऋणों का निर्माण करती है।
 - c) जमाराशियों ऋणों का निर्माण करती है तथा ऋण जमाराशियों का निर्माण करते है।
 - d) उपर्युक्त से कोई नहीं
4. ऋणों से जमा का सृजन होता है और जमा से ऋण का - यह सही है या गलत
5. प्रारम्भिक जमा एवं व्युत्पन्न जमाओं के अन्य नाम बताये -

16.8 सारांश

साख मुद्रा अथवा बैंक मुद्रा का संबन्ध बैंको के पास जमा की गयी उस राशि से होता है जिसे चेक के द्वारा निकाला जा सकता है। चूंकि साख मुद्रा मांग पर देय होती है अतः इसे मांग जमा अथवा जमा मुद्रा भी कहा जाता है। इस प्रकार की बैंक जमा बढ़ने पर हो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है। बैंक जमा दो प्रकार के होते हैं:-जब ग्राहक वाणिज्यिक बैंक में करेन्सी जमा करते है (प्रारम्भिक जमा) और जब बैंक ऋण देते है, -व्युत्पन्न जमा। चूंकि ये प्रारम्भिक जमाओं से उत्पन्न होती है इसलिये इन्हें व्युत्पन्न जमाएँ कहते है।

साख मुद्रा के निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन क्रमशः एक तथा बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली के अर्न्तगत किया जा सकता है। बहु बैंक बैंकिंग प्रणाली के अर्न्तगत एक बैंक द्वारा किये गये साख निर्माण का श्रृंखलाबद्ध प्रभाव अन्य बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख निर्माण पर पड़ता है। कोई एक बैंक अपनी नकद जमा का केवल एक ही भाग ऋण कर सकता है। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि अन्य बैंक भी साख का निर्माण नहीं कर लेते है।

अनुकूल परिस्थितियों में बैंकिंग प्रणाली अपने नकद कोषों को आधार पर अपनी प्रारम्भिक जमाराशियों से अधिक मात्रा में बैंक मुद्रा अथवा मांग पर देय जमाराशियों का निर्माण कर सकती है। बैंको की साख निर्माण करने की शक्ति असीमित नहीं होती। उन्हें कुछ नियन्त्रण में रह कर ही कार्य करने पड़ता है। वाणिज्यिक बैंको को साख की मात्रा का विस्तार करना या संकुचित करना केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति पर भी निर्भर करता है। यह केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व बनता है कि वह अर्थव्यवस्था की मौद्रिक तथा विनियोग सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा को नियन्त्रित करे। केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनायी गयी साख नियन्त्रण की विधियों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है।

- परिमाणात्मक विधियां
- गुणात्मक विधियां

परिमाणात्मक विधियां जैसे बैंक दर कम होने से अवस्फीतिकारी प्रवृत्तियों की क्षतिपूर्ति हो जाती है तथा बैंक दर बढ़ने से स्फीति रूक जाती है। मंदी काल में केन्द्रीय बैंक विस्तारात्मक नीति अपनाता है और वाणिज्यिक बैंको और प्रतिभूतियों का व्यापार करने वाली वित्तीय संख्याओं से प्रतिभूतियां खरीदता है। केन्द्रीय बैंक के पास जमा नगद कोषों के अनुपात में कमी करने पर बैंको की साख निर्माण शक्ति बढ़ जाती है। साख नियन्त्रण के चयनात्मक या गुणात्मक तरीकों का प्रयोजन साख के प्रयोक्ताओं और प्रयोगों में साख पूर्ति को नियमित एवं नियन्त्रण करना है। यह गुणात्मक साधन साख की कुल राशि को नहीं बल्कि उतनी ही राशि को प्रभावित करते हैं, जो अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र में प्रयुक्त की जा रही है।

16.9 शब्दावली

- निष्क्रिय जमा:- वह जमा जिसका निर्माण बैंक नहीं करते।
- व्युत्पन्न जमा :- ये प्रारम्भिक जमाओं का परिणाम होती है जिसे साख जमा भी कहते हैं।
- बैंक जमाओं का बहुगुणक विस्तार:- सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से साख मुद्रा के निर्माण की प्रक्रिया
- करेन्सी जमा अनुपात:-कुल जमाओं में करेन्सी का अनुपात

16.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. डा० जे०सी० पन्त एवं जे०पी० मिश्रा - अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
2. डा० टी०टी० सेठी - मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

16.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें (सहयोगी)

- Dwivedi, D.N.(1908) Macro Economics, 7th edition, Vikas Publishing House.
- Ahuja ,H. L. ((1910) Principles of Macro Economics , S&Chand Publishing House .
- Colander, D, C (1908) Economics, McGraw Hill Education.
- Mishra, S. K. and Puri, V. K., (1903), Modern Macro-Economics Theory, Himalaya Publishing House.

16.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करने में वाणिज्यिक बैंको के योगदान की समीक्षा कीजिये।
2. बैंकिंग प्रणाली द्वारा साख मुद्रा का निर्माण किस प्रकार होता है।
3. बैंक जमाओं के बहुगुणक विस्तार की प्रक्रियाओं की व्याख्या कीजिये। इस प्रक्रिया की क्या सीमाएँ हैं।

इकाई 17- प्रतिष्ठित विकास प्रारूप-एडम स्मिथ, रिकार्डों

इकाई की रूपरेखा**171 प्रस्तावना****17.2 उद्देश्य****17.3 एडम स्मिथ का विकास प्रारूप****17.3.1 मुक्त साहस एवं प्रतिस्पर्द्धा****17.3.2 श्रम विभाजन****17.3.3 विकास प्रक्रिया****17.3.4 विकास का क्रम****17.3.5 स्थिर अवस्था****17.4 रिकार्डों का विकास प्रारूप****17.4.1 विकास प्रारूप की मान्यताएं****17.4.2 विकास के दूत****17.4.3 पूँजी संचय की प्रक्रिया****17.4.4 पूँजी संचय के अन्य साधन****17.4.5 स्थिर अवस्था****17.5 विकास प्रारूप की गणितीय व्याख्या****17.6 प्रतिष्ठित विकास प्रारूप की आलोचनाएं****17.7 अभ्यास प्रश्न****17.8 सारांश****17.9 शब्दावली****17.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****17.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची****17.12 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ****17.13 निबन्धात्मक प्रश्न**

17.1 प्रस्तावना

आर्थिक विकास के प्रारूप से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है इससे पहले की इकाइयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि आर्थिक विकास क्या है? आर्थिक विकास का मापन की विधियाँ कौन-2 सी हैं। अल्पविकसित देशों की विशेषताएँ और विकास के निर्धारक घटक क्या-क्या हैं।

इस इकाई में प्रतिष्ठित विकास प्रारूप के सम्बन्ध में बड़े ही स्पष्ट रूप से और विस्तार से इसके विषय में चर्चा की है कि प्रमुख प्रतिष्ठित विकास प्रारूप कौन-2 से हैं, इसके अन्तर्गत विकास का निर्धारण किस प्रकार होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत इकाई में एडम स्मिथ एवं रिकार्डों के विकास प्रारूप के सन्तुलन के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप प्रतिष्ठित विकास प्रारूप के महत्व को समझा सकेंगे, तथा एक अर्थव्यवस्था के विकास में इसके विभिन्न प्रारूपों का स्पष्ट विश्लेषण कर सकेंगे।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- बता सकेंगे कि प्रतिष्ठित विकास प्रारूप कितने प्रकार का होता है।
- एडम स्मिथ का विकास प्रारूप को समझ सकेंगे।
- रिकार्डों के विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताओं को जान सकेंगे।
- रिकार्डों के विकास प्रारूप को समझ सकेंगे।

17.3 एडम स्मिथ का विकास प्रारूप

प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री एडम स्मिथ डेविड रिकार्डों द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विकास से सम्बन्धित विचारों में बहुत सीमा तक समानता पाई जाती है। इनके सम्मिलित विचारों को ही आर्थिक विकास का प्रतिष्ठित सिद्धान्त कहा जाता है। आर्थिक विकास के ये प्रतिष्ठित सिद्धान्त को विकास का प्रारम्भिक सिद्धान्त भी कह सकते हैं।

एडम स्मिथ प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के अगुवा माने जाते हैं। उनका 1776 में प्रकाशित होने वाला महान ग्रन्थ “An Enquiry in to the nature and Causes of wealth of notions” स्वयं में ही आर्थिक विकास के महत्व का एक स्पष्टीकरण है। एडम स्मिथ के प्रगति के सिद्धान्त की प्रमुख विचारधाराएँ निम्न प्रकार वर्गीकृत की जा सकती हैं:-

17.3.1 मुक्त साहस एवं प्रतिस्पर्धा:- एडम स्मिथ के विचार में आर्थिक विकास के लिए मुक्त साहस एवं मुक्त प्रतिस्पर्धा अत्यन्त आवश्यक है। इनके द्वारा (प्रकृति) निर्धारित न्याय पूर्ण वैधानिक पद्धति ही विकास करने का सर्वोच्च साधन है। न्यायपूर्ण वैधानिक पद्धति का अर्थ उस व्यवस्था से लिया गया है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के अपने हितों का अन्य सदस्यों के दबाव से मुक्त रहकर अनुसरण करने के अधिकार को संरक्षण प्राप्त होता है। अर्थव्यवस्था को अदृश्य हाथों द्वारा यदि संचालित होने के लिए मुक्त छोड़ दिया जाय तो समन्वित एवं लाभकारी आर्थिक

व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। अदृश्य हाथों से स्मिथ का तात्पर्य मुक्त प्रतिस्पर्द्धा में उदय हुई शक्तियों से है जो अर्थ-व्यवस्था में आवश्यक समायोजन स्थापित करती रहती है।

17.3.2. श्रम विभाजन:- श्रम विभाजन द्वारा श्रम की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है। श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण द्वारा श्रमिकों की निपुणता में वृद्धि होती है। वस्तुओं के उत्पादन में लगने वाले समय में कमी होती है तथा अच्छी मशीनों एवं प्रसाधनों का अविष्कार होता है। उत्पादकता में वृद्धि होती है।

परन्तु श्रम-विभाजन द्वारा उत्पादकता बढ़ाने की प्रक्रिया की तीन परिसीमाएँ हैं:-

- श्रम विभाजन का प्रारम्भ मानव की एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु प्राप्त करने की इच्छा पर होती है।
- श्रम विभाजन के प्रारम्भ अथवा विस्तार के लिए पूँजी संचयन होना आवश्यक है। पूँजी संचयन के लिए बचत होना और बचत अथवा पूँजी मितव्ययता से बढ़ती है तथा फिजूलखर्ची एवं दूराचरण से घटती है।
- तीसरी सीमा बाजार का आकार होती है। यदि बाजार संकुचित है और उत्पादको को अपने उत्पादन के अतिरेक (Surplus) के विनिमय के अवसर सीमित हो तो व्यक्ति एक रोजगार में रहकर आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं करेगा। इस प्रकार संकुचित बाजार में श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त नहीं होंगे।

17.3.3 विकास प्रक्रिया:- पूँजी संचयन की व्यवस्था होने से श्रम विभाजन का उदय होता है जिससे उत्पादकता के स्तर में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय एवं जनसंख्या में वृद्धि होती है। आर्थिक विकास की यह प्रक्रिया धीरे-2 चलती है और अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में फैल जाती है एक क्षेत्र का विकास दूसरे क्षेत्रों के विकास को प्रभावित करता है और अन्ततः अर्थ व्यवस्था के समस्त क्षेत्र विकसित हो जाते हैं।

17.3.3.1 मजदूरी का निर्धारण:- मजदूरी का निर्धारण श्रमिकों एवं पूँजी पतियों की सौदा करने की क्षमता पर निर्भर करता है।

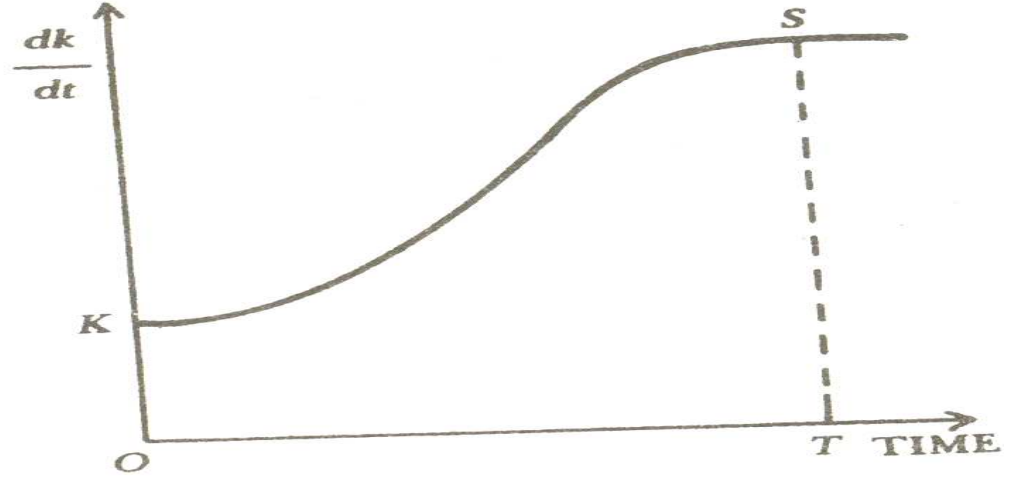
17.3.3.2 लाभ निर्धारण:- विकास की प्रक्रिया में लाभ एवं मजदूरी उस समय तक घटते बढ़ते रहते हैं जब तक कि जनसंख्या में आवश्यकतानुसार पर्याप्त वृद्धि होती है। अन्ततः अर्थव्यवस्था स्थिर अवस्था में पहुँच जाती है जहाँ पूँजी संचयन एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया दोनों ही रूक जाते हैं।

17.3.3.3 लगान का निर्धारण:- भूमि पर एकाधिकार का प्रतिफल लगान होता है।

17.3.3.4 विकास के दूत (Agents of Growth):- एडम स्मिथ के अनुसार कृषक उत्पादन तथा व्यापारी आर्थिक उन्नति तथा विकास के दूत हैं।

17.3.4 विकास का क्रम:- विकास की प्रक्रिया में सर्वप्रथम कृषि का विकास होता है। कृषि के बाद निर्माण प्रक्रिया का अन्त में वाणिज्य का विकास होता है।

यद्यपि स्मिथ ने अपने विचार आर्थिक विकास के सिद्धान्त के रूप में प्रकट नहीं किये परन्तु उनके विचार का प्रभाव बाद में आर्थिक विकास के सिद्धान्त पर पड़ता है। पूँजी संचयन का महत्व, स्थिर अर्थव्यवस्था का विचार तथा विकास प्रक्रिया में सहकारी हस्तक्षेप के तिरस्कार को बाद के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी मान्यता प्रदान की है।



स्थिर अवस्था:- परन्तु यह प्रगतिशील अवस्था सदैव नहीं चलती रहती है। प्राकृतिक साधनों की कमी विकास को रोकती है। जब अर्थव्यवस्था अपने साधनों का पूर्ण विकास कर लेती है ऐसी समृद्ध अवस्था में श्रमिकों में रोजगार के लिए प्रतिस्पर्धा मजदूरी कम करके निर्वाह स्तर पर ला देती है और व्यापारियों में प्रतिस्पर्धा लाभों को कम कर देती है। जब एक बार लाभ घटते हैं तो घटते ही चले जाते हैं जिससे निवेश - निवेश भी घट जाता है - पूँजी संचय भी रूक जाता है - जनसंख्या स्थिर हो जाती है - लाभ न्यूनतम होने लगते - मजदूरी जीवन निर्वाह स्तर पर पहुँच जाती है - प्रति व्यक्ति आय स्थिर हो जाती है और - अर्थव्यवस्था गतिहीनता की अवस्था में पहुँच जाती है। जिसे एडम स्मिथ ने स्थिर अवस्था का नाम दिया।

चित्र से स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था T समय में K से S तक बढ़ती है T के बाद अर्थव्यवस्था S से सम्बद्ध स्थिर अवस्था को प्राप्त होती है जहाँ आगे वृद्धि नहीं होती मजदूरी जितना बढ़ती है कि लाभ शून्य हो जाता है। पूँजी संचय रूक जाता है।

17.4 रिकार्डों का विकास प्रारूप

डेविड रिकार्डों के विकास सम्बन्धी विचार उनकी पुस्तक “The Principles of political Economy and Taxation” 1971 में जगह पर अव्यवस्थित रूप में व्यक्त किये गये। इनका विश्लेषण एक चक्करदार मार्ग है। यह सीमान्त और अतिरेक नियमों पर आधारित है। शुम्पीटर ने कहाँ रिकार्डों ने कोई सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया केवल स्मिथ द्वारा छोड़ी गयी कड़ियों को अपेक्षाकृत एक अधिक कठोर रूप से जोड़ने का प्रयास अवश्य किया। इसी तरह का विचार मायर एवं वाल्डविन आदि का था।

17.4.1 विकास प्रारूप की मान्यताएं

1. अनाज के उत्पादन में समस्त भूमि का प्रयोग होता है और कृषि में कार्यशील शक्तियाँ उद्योग में वितरण निर्धारित करने का काम करती हैं।
2. भूमि पर घटते प्रतिफल का नियम क्रियाशील है।

3. भूमि की पूर्ति स्थिर है।
4. अनाज की माँग पूर्णतया अलोचशील है।
5. पूँजी और श्रम परिवर्तनशील आगत (Inputs) है।
6. समस्त पूँजी समरूप है।
7. पूँजी में केवल चल पूँजी ही शामिल है।
8. तकनीकी ज्ञान की स्थिति दी हुई है।
9. सभी श्रमिकों को निर्वाह मजदूरी दी हुई है।
10. श्रम की पूर्ति कीमत स्तर पर दी हुई है।
11. श्रम की माँग पूँजी संचय पर निर्भर करती है। श्रम की माँग और श्रम की पूर्ति कीमत दोनों ही श्रम की सीमान्त उत्पादकता से स्वतन्त्र होती है।
12. पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है।
13. पूँजी संचय लाभ से उत्पन्न होती है।

17.4.2 विकास के दूत

इन मान्यताओं के आधार पर रिकार्डों ने कहा कि अर्थव्यवस्था का विकास तीन वर्गों के परस्पर सम्बन्धों पर आधारित है। वे हैं 1) भूमिपति 2) पूँजीपति तथा 3) श्रमिक जिनमें भूमि की समस्त उपज बाँटी जाती है। इन तीन वर्गों में कुल राष्ट्रीय उत्पादन क्रमशः लगान, लाभ और मजदूरी के रूप में बाँट दी जाती है।

17.4.3 पूँजी संचय की प्रक्रिया

रिकार्डों पूँजी संचय लाभ से होता है यह जितना बड़ेगा पूँजी निर्माण के काम आत है। पूँजी संचय दो घटकों पर निर्भर करेगा। प्रथम बचत करने की क्षमता और द्वितीय बचत करने की इच्छा जैसा कि रिकार्डों ने कहा दो रोटियों में से मैं एक बचा सकता हूँ और चार में से तीन यह बचत (अतिरिक्त) भूमिपति तथा पूँजीपति ही करते हैं। जो लाभ की दर पर निर्भर करता है।

लाभ दर:- लाभ की दर त्र लाभ/मजदूरी अर्थात् जब तक लाभ की दर धनात्मक रहेगी, पूँजी संचय होता रहेगा। वास्तव में लाभ मजदूरी पर निर्भर करता है, मजदूरी अनाज की कीमत पर अनाज की कीमत सीमान्त भूमि की उर्वरकता पर। इस प्रकार लाभ तथा मजदूरी में विपरीत सम्बन्ध है। कृषि में सुधार से उर्वरकता बढ़ती है इससे उपज बढ़ेगी कीमत कम होगी निर्वाह मजदूरी कम होगी परन्तु लाभ बढ़ेगा पूँजी संचय अधिक होगा इससे श्रम की माँग बढ़ेगी मजदूरी अधिक होगी लाभ घटेगा।

मजदूरी में वृद्धि :- रिकार्डों यह बातें हैं कि पूँजी संचय विभिन्न परिस्थितियों में लाभ को ही कम करेगा। मजदूरी बढ़ेगी तो मजदूर निर्वाह की वस्तुओं की माँग बढ़ेगी जिससे मूल्य बढ़ेगा। मजदूर उपभोग की वस्तुएँ प्रमुख रूप से कृषि वस्तुएँ होती हैं। ज्यों-2 जनसंख्या बढ़ेगी उपज की माँग बढ़ेगी उपजाऊ काश्त में वृद्धि होगी मजदूरी की माँग बढ़ेगी मजदूरी बढ़ेगी अनाज की कीमत बढ़ेगी। लाभ कम हो जायेगा। लगान बढ़ जायेगा जो अनाज कीमत में हुई वृद्धि खपा लेगा। ये दोनों विराधी प्रवृत्तियाँ अनत में पूँजी संचय कम कर देती हैं।

अन्य उद्योगों में भी लाभों की कमी:- रिकार्डों के अनुसार “किसानों के लाभ अन्य सब व्यापारियों के लाभों को नियमित करते हैं।” क्योंकि हर क्षेत्र के लिए आगत कृषि क्षेत्र से आता है।

17.4.4 पूँजी संचय के अन्य साधन

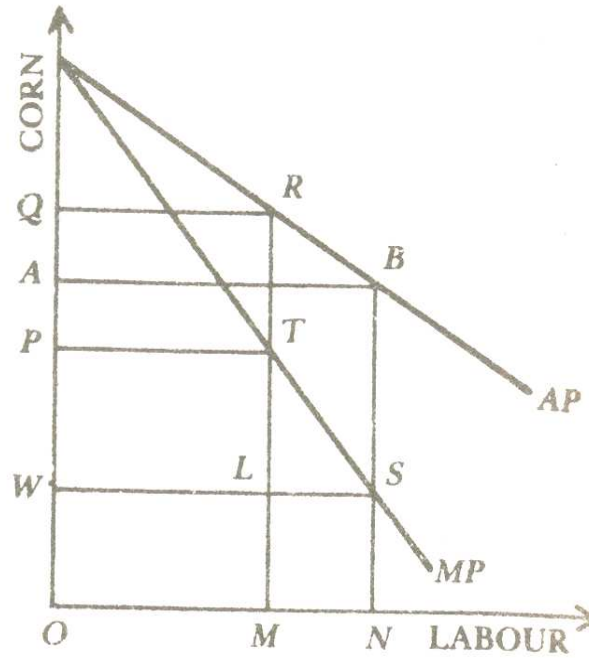
रिकार्डों के अनुसार “आर्थिक विकास उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर पर निर्भर करता है इसलिए वह उत्पादन के बढ़ाने और अनुत्पादक उपभोग में कमी करने पर जोर देता है।

कर:- कर सरकार के हाथ में पूँजी संचय का साधन है रिकार्डों के अनुसार करों को केवल दिखावटी उपभोग को कम करने के लिए ही लगाना आवश्यक होता है अन्यथा इनसे निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

बचत:- बचत पूँजी संचय के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। यह लाभ की दरों को बढ़ाकर, वस्तुओं के मूल्य कम करने व्यय तथा उत्पादन से की जाती है।

मुक्त व्यापार:- रिकार्डों मुक्त व्यापार के पक्ष में है। देश की आर्थिक उन्नति के लिए मुक्त व्यापार महत्वपूर्ण तत्व है।

रिकार्डों के मॉडल को रेखाचित्र में व्यक्त किया गया है अनाज की मात्रा अनुलम्ब अक्ष कृषि में लगाई गई श्रम की मात्रा को क्षैतिज अक्ष पर मापते हैं। श्रम के औसत उत्पादन को AP वक्र द्वारा सीमान्त उत्पादन को MP वक्र श्रम की OM मात्रा से OQRM अनाज का कुल उत्पादन होता है आयताकार क्षेत्र PQRT लगान को व्यक्त करता है जो AP तथा MP का अन्तर है। निर्वाह मजदूरी दर OW पर श्रम की पूर्ति वक्र WL लोचदार है कुल मजदूरी बिल OMLW है कुल लाभ WPTL है जो कुल उत्पादन (OQRM) - मजदूरी - लगान (OQRT+OWLM) से प्राप्त होता है।

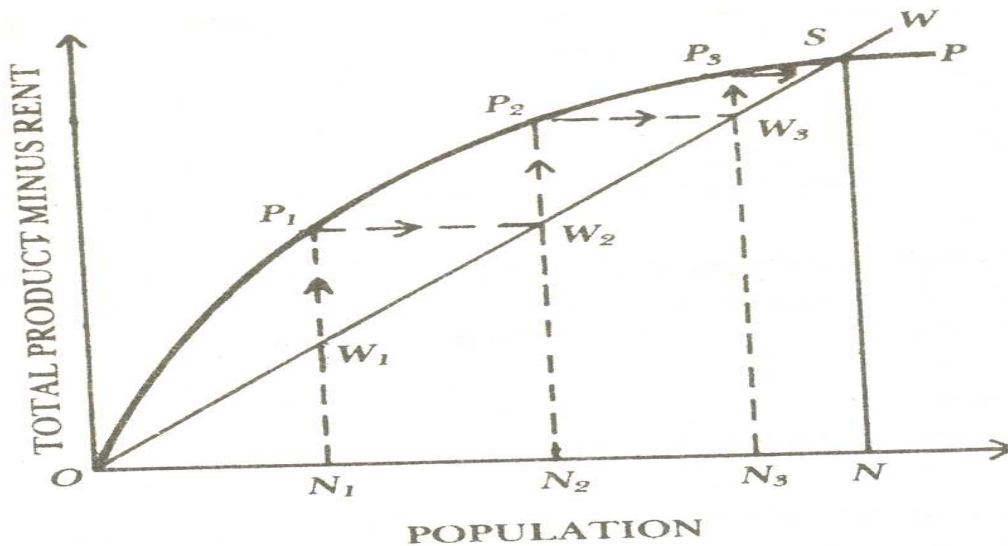


आर्थिक विकास होने पर कुल उत्पादन बढ़ता है अनाज की माँग एवं कीमत बढ़ती है भूमि पर बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू होने से लगान बढ़ता जाता है और लाभ कम होता है। अतः में बढ़ी श्रम की मात्रा तथा लगान लाभ समाप्त कर देते हैं। चित्र में यह स्थिति ON श्रम लगाने पर कुल उत्पादन OABN है जिसमें OWSN मजदूरी कोष तथा WABS लगान है तथा लाभ शून्य है।

17.4.5 स्थिर अवस्था

जिस अवस्था में लाभ शून्य होता है =

पूँजी संचय रूक जाता है = जनसंख्या स्थिर होती है = मजदूरी निर्वाह स्तर पर होती है = लगान ऊँचा होता है
 आर्थिक विकास रूक जाता है। इस अवस्था को रिकार्डो ने स्थिर अवस्था का नाम दिया है



रिकार्डो ने चित्र में स्थिर अवस्था की गति को बताया है जो उसकी वितरण की धारणा को स्पष्ट करता है। जनसंख्या क्षैतिज अक्ष पर और कुल उत्पादन घटा लगान को अनुलम्ब अक्ष पर वक्र OP जनसंख्या फलन है जो TP- Rent को जनसंख्या फलन प्रदर्शित करता है। जनसंख्या बढ़ने के साथ-2 OP वक्र घटते प्रतिफल का नियम लागू होने से चपटा होता जाता है। किरण OW Real Wage मापती है। जनसंख्या और OW रेखा का अन्तर कुल मजदूरी बिल मापता है। इस प्रकार ON_1, ON_2 तथा ON_3 जनसंख्या स्तरों पर W_1N_1, W_2N_2 और W_3N_2 क्रमशः कुल मजदूरी बिल है। तथा W_1N_1 मजदूरी बिल पर लाभ P_1W_1 है जो कुल उत्पादन घटाया मजदूरी बिल से प्राप्त होता है P_1W_1 से निवेश बढ़ता है श्रम की माँग ON_2 हो जाती है तो मजदूरी बिल W_2N_2 अब लाभ घटकर P_2W_2 हो जाता है अब निवेश बढ़ने पर श्रम की माँग ON_2 पर बढ़ने से मजदूरी बिल बढ़ता है लाभ घटकर P_2W_3 हो जाता है इस प्रकार अर्थव्यवस्था जब तक S बिन्दु पर नहीं पहुँच जाती और स्थिर अवस्था प्रारम्भ हो जाती है लाभ बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं और समस्त उत्पादन लगान मजदूरी में वितरित हो जाता है।

17.5 विकास प्रारूप की गणितीय व्याख्या

बैजमीन हिगीन्ज ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विकास मॉडल की विभिन्न कड़ियों को समीकरणों के माध्यम से भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है

1-उत्पादन फलन (Production Function)- कुल उत्पादन भूमि, श्रम व पूँजी की उपलब्ध मात्रा और इन साधनों के उपयोग के अनुपात व तकनीक के स्तर पर निर्भर करता है अर्थात्

$$O=F(L,K,Q,T).....(i)$$

जहाँ O = कुल उत्पादन, F = फलन अथवा निर्भर करता है, L = श्रम शक्ति की मात्रा, K = उपलब्ध भूमि की मात्रा, Q = पूँजी का स्ट्राक, T = प्रयुक्त तकनीक का स्तर।

2-पूँजी संचय से प्राविधिक प्रगति को बढ़ावा मिलता है (Capital accumulation promotes technological progress) पूँजी संचय के बढ़ने के साथ प्राविधिक प्रगति का स्तर बढ़ता है अर्थात् दोनों परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित है।

अर्थात् $T=T(I)$ (ii)

यहाँ T = प्राविधिक प्रगति, I = विनियोग

3-निवेश लाभ की मात्रा पर निर्भर करता है (Investment depends on profits) देश में निवेश की मात्रा पूँजी पति को प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा पर निर्भर करती है। लाभ जितने अधिक होंगे विनियोग भी उतने ही अधिक होते चले जायेंगे यहाँ निवेश से अभिप्रायः पूँजी में वास्तविक शुद्ध वृद्धि (net addition to the stock of capital) से है।

अर्थात् $I=DQ=I(R)$(iii)

4- लाभ श्रम की पूर्ति और तकनीकी स्तर पर निर्भर करता है

$R=R(T,L)$(iv)

यहाँ R = लाभ, T = तकनीकी का स्तर, L = श्रम शक्ति का आकार

5- The size of the labor force depends on the size of wage fund

$L=L(W)$(v)

यहाँ L = श्रम शक्ति की मात्रा, W = मजदूरी कोष

6- The wage fund depends on the level of investments

$W=W(I)$ (vi)

यहाँ W = मजदूरी कोष, I = विनियोग की मात्रा

7- Total output equals to profits plus wages

$O=R+W$ (vii)

यहाँ O = कुल उत्पादन, R = कुल लाभ, W = मजदूरी कोष

17.6 प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचनाएं

- 1- अवास्तविक विकास प्रक्रिया - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा विकास प्रक्रिया को स्थैतिक माना है अर्थात् जिससे सन्तुलन के आस पास ही परिवर्तन होता है तथा एक रूपता युक्त नियमित निरन्तर प्रगति होती है, जबकि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक विकास एकरूप व निरन्तर न होकर रूक - रूक का झटकों में होती है।
- 2- अवास्तविक मान्यताएँ - प्रतिष्ठित विकास सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या एवं उत्पत्ति हास नियम पर आधारित है, जबकि ये दोनों ही सिद्धान्त दोषपूर्ण है।
- 3- सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व को न समझ पाना एक बड़ी भूल है।
- 4- मध्यम वर्ग की उपेक्षा इनके द्वारा की गई और बचतों का सम्पूर्ण श्रेय पूँजी पतियों व भूमिपतियों को प्रदान किया जबकि पूँजी संचय के लिए बचतों में माध्यम वर्ग के वेतनभोगी वर्ग का बड़ा योगदान रहता है।
- 5- सरकारी हस्तक्षेप की इनके द्वारा उपेक्षा की गई जबकि 1936 के बाद निर्बाधावादी नीति का परित्याग कर दिया गया और सरकारी हस्तक्षेप नीति को अर्थव्यवस्था के विकास में लागू किया जाने लगा है।
- 6- इस विचारधारा के प्रारूप में परिवर्तित उत्पादन तकनीकों व उन्नत प्रौद्योगिकी को कम महत्व दिया गया जो उचित नहीं है।

17.7 अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. The Principles of Political economy and Taxation पुस्तक किसने लिखी-
अ. एडम स्मिथ ब. रिकार्डो स. माल्थस द. जे. बी. से।
2. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री है- अ. एडम स्मिथ ब. रिकार्डो स. माल्थस द. सभी।
3. रिकार्डो ने स्थैतिक या स्थिर दशा को किस रूप में माना है-
अ. निराशा का ब. खुशी का स. उदासीनता का द. कोई नहीं।
4. एडम स्मिथ की गतिहीन अर्थव्यवस्था की विचार किस आधुनिक विकास प्रारूप में मिलता है-
अ. हैरोड ब. मीड स. महालनोबिस द. जॉन रॉबिन्सन।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. एडम स्मिथ का विकास प्रारूप क्या है?
2. रिकार्डो के विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताएँ क्या है?
3. रिकार्डो के विकास प्रारूप की मुख्य बातें क्या है?
4. आर्थिक विकास के प्रतिष्ठित प्रारूप की प्रमुख आलोचना कीजिए।

17.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह जान चुके हैं कि प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री एडम स्मिथ डेविड रिकार्डों द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विकास से सम्बन्धित विचारों में बहुत सीमा तक समानता पाई जाती है। इनके सम्मिलित विचारों को ही आर्थिक विकास का प्रतिष्ठित सिद्धान्त कहा जाता है। आर्थिक विकास के ये प्रतिष्ठित सिद्धान्त को विकास का प्रारम्भिक सिद्धान्त भी कह सकते हैं।

17.9 शब्दावली

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री-एडम स्मिथ और उनके अनुयायी जैसे- रिकार्डों, जे. एस. मिल आदि।

विकास दूत-(1) भूमिपति (2) पूँजीपति तथा (3) श्रमिक जिनमें भूमि की समस्त उपज बाँटी जाती है।

स्थिर अवस्था- अर्थव्यवस्था एक ऐसी स्थिति जहाँ लाभ शून्य तक गिर जाए और पूँजी-संचय बिल्कुल रुक जाएगा।

17.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-1. ब. रिकार्डों। 2. द. सभी। 3. ब. खुशी का। 4. अ. हैरोड।

लघु उत्तरीय प्रश्न- 1. देखिए 5.3। 2. देखिए 5.4.1। 3. देखिए 5.4। 4. देखिए 5.6।

17.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- सिन्हा वी.सी.(1910) विकास और पर्यावरणीय अर्थशास्त्र, सहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
- एस. पी. सिंह(1901)आर्थिक विकास एवं नियोजन, एस चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली।
- एम.एल.झिंगन(1902)आर्थिक विकास एवं नियोजन, वृन्दा पब्लिकेशन्स प्रा.लि. नई दिल्ली।
- धींगरा आई0सी0 (1987), “इकोनॉमिक डेवलपमेंट एन प्लानिंग इन इण्डिया”, एस0 चन्द्र नई दिल्ली।

17.12 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

1. अग्रवाल ए0एन0, (1906) “इण्डियन इकोनॉमी (प्रोब्लम ऑफ डेवलपमेंट एण्ड प्लानिंग)” आशीष पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
2. अहलूवालिया, आई0जे0 (1985), “इन्डस्ट्रियल ग्रोथ इन इंडिया”, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

-
3. अहलूवालिया, आई0जे0 एवं लिटिल, आई0एम0डी0 (1902), 'इण्डियास इकोनॉमिक रिफार्म एण्ड डेवलपमेंट', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
-

17.13 निबन्धात्मक प्रश्न

- i. आर्थिक विकास के प्रतिष्ठित प्रारूप की विवेचना कीजिए तथा इसके मुख्य कमियों को इंगित कीजिए।
- ii. आर्थिक विकास के प्रतिष्ठित प्रारूप की गणितीय विवेचना कीजिए?
- iii. एडम स्मिथ और रिकार्डो के आर्थिक विकास के प्रारूप की विवेचना कीजिए?
- iv. प्रतिष्ठित विकास प्रारूप की गणितीय व्याख्या विवेचना कीजिए?

इकाई 18- हैरोड-डोमर का विकास प्रारूप

इकाई की रूपरेखा**18.1 प्रस्तावना****18.2 उद्देश्य****18.3 हैरोड का विकास प्रारूप****18.3.1 हैरोड का विकास प्रारूप की मान्यताएं****18.3.2 वास्तविक वृद्धि दर****18.3.3 अभीष्ट या आवश्यक वृद्धि दर****18.3.4 हैरोड वृद्धि मार्ग****18.3.5 दीर्घकालीन असन्तुलों का मूलरूप****18.3.6 सहज या प्राकृतिक वृद्धि दर****18.3.7 G , G_w एवं G_n का विचलन****18.4 डोमर का विकास प्रारूप****18.4.1 डोमर के विकास प्रारूप की मान्यताएं****18.4.2 पूर्ति पक्ष****18.4.2 माँग पक्ष****18.4.3 संतुलन****18.6 हैरॉड तथा डोमर प्रारूपों का तुलनात्मक अध्ययन****18.6.1 हैरॉड तथा डोमर प्रारूप की समानताएँ****18.6.2 हैरॉड तथा डोमर प्रारूप की असमानताएँ****18.7 सारांश****18.18 शब्दावली****18.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****18.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची****18.11 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ****18.11 निबन्धात्मक प्रश्न**

18.1 प्रस्तावना

आर्थिक विकास के प्रारूप से सम्बन्धित यह आठवीं इकाई है इससे पहले की इकाइयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि आर्थिक विकास क्या है, आर्थिक विकास का मापन की विधियाँ कौन-2 सी हैं। आर्थिक विकास के प्रतिष्ठित विकास प्रारूप एवं मार्क्स का विकास प्रारूप क्या है।

इस इकाई में हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप के सम्बन्ध में बड़े ही स्पष्ट रूप से और विस्तार से इसके विषय में चर्चा की है कि हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप कौन-2 से है, इसके अर्न्तगत विकास का निर्धारण किस प्रकार होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत इकाई में हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप के द्वारा विकासशील अर्थव्यवस्था में सन्तुलन के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप के महत्व को समझा सकेंगे, तथा एक अर्थव्यवस्था के विकास में इसके विभिन्न प्रारूपों का स्पष्ट विश्लेषण कर सकेंगे।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- हैरोड के विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताओं को जान सकेंगे।
- हैरोड का विकास प्रारूप को समझ सकेंगे।
- डोमर के विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताओं को जान सकेंगे।
- डोमर के विकास प्रारूप को समझ सकेंगे।

18.3 हैरोड का विकास प्रारूप

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने पूँजी संचय के क्षमता वृद्धि पक्ष पर अधिक जोर दिया था और उसके माँग पक्ष की अवहेलना की थी। इसके विपरीत कीन्सवादियों ने पूँजी संचय के “आय- वृद्धि पक्ष पर अधिक जोर दिया और उसके क्षमता वृद्धि पक्ष को भुला दिया।” हैरोड डोमर ने इन दोनों घरानों की भूल को सुधारते हुये निवेश प्रक्रिया के दोनों पक्षों को मिला दिया है और इस प्रकार यह उनके माँडल की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

हैरोड तथा डोमर ने भी आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया में निवेश को प्रमुख स्थान दिया है विशेष रूप से उसकी द्वैत प्रकृति को एक तरफ निवेश आय में वृद्धि करता है तो दूसरी तरफ अर्थव्यवस्था के पूँजीगत स्टॉक को बढ़ाकर उसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर देता है। पहले को निवेश का माँग प्रभाव और दूसरे को पूर्ति प्रभाव कहा जा सकता है। इसलिए एक अर्थव्यवस्था में जब तक निवेश बढ़ता रहेगा, तब तक वास्तविक आय तथा उत्पादन का विस्तार होता रहेगा।

सर रॉय एफ हैरोड ने गतिशील अर्थशास्त्र को सन् 1939 में एक नया मोड दिया जबकि उनका लेख “An Essay on Dynamic Theory” का प्रकाशन ब्रिटेन में ‘Economic Journal’ में हुआ। हैरोड ने इसी विषय लन्दन

विश्वविद्यालय में सन् 1947 में एक भाषण माला भी दी जो सन् 1918 में Towards A Dynamic Journal के शीर्षक से प्रकाशित हुई इन भाषणों में तीसरे भाषण का शीर्षक 'Fundamental Dynamic Therms' था। इसी भाषण में हैरोड के विकास प्रारूप का प्रारूप दिया है।

18.3.1 हैराड का विकास प्रारूप की मान्यताएं

हैराड का विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताएं निम्नवत है-

1. समाज में अपेक्षित बचत (Intended extant Savings) तथा वास्तविक बचत बराबर होती है। अर्थात औसत बचत प्रवृत्ति (APS), सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) के बराबर होता है।

$$APS = MPS$$

2. अर्थव्यवस्था में अपेक्षित निवेश तथा वास्तविक निवेश भी बराबर होते है।

$$\text{अर्थात } S = I$$

3. उत्पादन का उद्देश्य साम्य की स्थिति को प्राप्त करना।
4. विनियोग की दर उत्पादन व आय वृद्धि की दर पर निर्भर करती है।
5. अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार विद्यमान है।
6. मूल्य-स्तर तथा ब्याज की दर में कोई परिवर्तन नहीं होता और पूँजी श्रम अनुपात तथा पूँजी उत्पादन अनुपात भी यथा स्थिर है।
7. राज्य हस्तक्षेप का अभाव है।
8. पूँजी गुणांक (Capital Coefficient) अर्थात पूँजीगत स्टॉक का आय से अनुपात स्थिर मान लिया गया है।
9. पूँजीगत वस्तुओं का मूल्य हास नहीं होता है।

हैरोड ने अपना विकास प्रारूप तीन प्रकार की वृद्धि दरों पर आधारित किया है।

18.3.2 वास्तविक वृद्धि दर

वास्तविक वृद्धि दर (G) वह दर है जिस दर पर देश विकास कर रहा है। इस दर को बचत अनुपात तथा पूँजी उत्पाद अनुपात (COR) निर्धारित करते है और यह दर अल्पकालिक चक्रीय परिवर्तनों को प्रकट करती है समीकरण रूप में

$$GC = S$$

G = आय की वृद्धि दर अर्थात $\Delta y/y$, C = पूँजी में किया गया शुद्ध योग है अर्थात पूँजी उत्पाद अनुपात अर्थात

C = $I/\Delta y$, S = औसत बचत प्रवृत्ति अर्थात $S = S/Y$

$$s/Y = \Delta Y/Y \times I/\Delta Y$$

$$I/Y = S/Y \text{ या}$$

$$S = I$$

वास्तविक बचतें = वास्तविक निवेश

उपरोक्त सम्बन्ध को आय का व्यवहार स्पष्ट करता है। बचत (S) आय पर निर्भर करती है, निवेश (I) आय में वृद्धि; (ΔY) पर निर्भर होता है अर्थात् एक प्रकार से यह त्वरण सिद्धान्त है।

18.3.3 अभीष्ट या आवश्यक वृद्धि दर

हैरोड के शब्दों में, “ आवश्यक वृद्धि दर (G_w) विकास की वह दर होती है जिसे यदि प्राप्त कर लिया जाये तो उद्यमी ऐसी मानसिक स्थिति में होते हैं कि वे इसी प्रकार से विकास करते रहने के लिए प्रेरित होंगे।

समीकरण रूप में इस प्रकार व्यक्त है

$$G_w Cr = S \text{ या } G_w = S/Cr$$

G_w = आवश्यक वृद्धि दर, S = सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS)

Cr = पूँजीगत आवश्यकताएँ (Capital requirement)

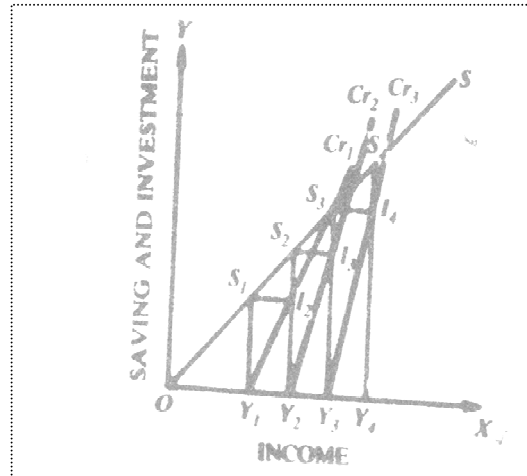
अर्थात् G_w को बनाए रखने के लिए आवश्यक पूँजी की मात्रा अर्थात् आवश्यक पूँजी उत्पाद- अनुपात यह $I/\Delta Y$ का मूल्य है।

पूर्ण रोजगार संतुलन वृद्धि के लिए G वास्तविक वृद्धि दर अभीष्ट वृद्धि दर अथवा पूर्ण क्षमता वृद्धि दर G_w के बराबर होनी चाहिए जो अर्थव्यवस्था को सतत् उन्नति दे सकेगी और C वास्तविक पूँजी वस्तुएँ Cr सतत् वृद्धि के आवश्यक पूँजी वस्तुएँ बराबर होनी चाहिए।

18.3.4 हैरोड वृद्धि मार्ग

हैरोड वृद्धि पथ को रेखाचित्र 1 से दिखाया गया है जिसमें क्षैतिज आय को लम्ब आय बचत एवं निवेश को प्रकट करता है। निवेश मात्रा के मूल्य पर निर्भर करती है।

इसे रेखाचित्र में Cr द्वारा प्रकट किया गया है समान्तर रेखाएँ Y_1Cr_1 , Y_2Cr_2 व Y_3Cr_3 स्थिर पूँजी अनुपात को बता रही हैं। आय में Y_1 से Y_2 परिवर्तन होने से प्रेरित निवेश I_2Y_2 जो कि S_1Y_1 बचत के समान है इस स्तर पर उत्पादन में वृद्धि दर $Y_2 - Y_1 / Y_1$ के समान है। I_2 निवेश आय को बढ़ाकर Y_3 पर ले जाता है और उत्पादन में वृद्धि दर $Y_3 - Y_2 / Y_2$ के समान है इसी प्रकार I_3 निवेश आय को बढ़ाकर Y_4 के स्तर पर लाती है अतः अर्थव्यवस्था एक समान वृद्धि दर से बढ़ती है।

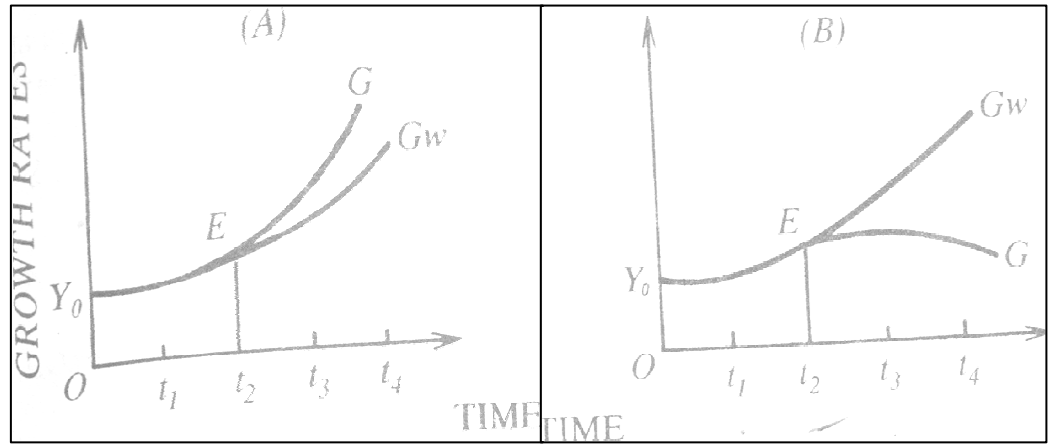


$$Y_2 - Y_1 / Y_1 = Y_3 - Y_2 / Y_2 = Y_4 - Y_3 / Y_3$$

18.3.5 दीर्घकालीन असन्तुलों का मूलरूप

यदि G और G_w बराबर नहीं है तो अर्थव्यवस्था असन्तुलन में रहेगी। यदि G_w से G बढ़ जाएगा $G > G_w$ तो C_r से C कम होगा ($C < C_r$) तो दीर्घकालीन स्फीति होगी। इसे रेखाचित्र 2(A) में दर्शाया गया है। आय की दर अनुलम्ब अक्ष पर तथा समय क्षैतिज अक्ष पर दिया गया है। आय के प्राप्त पूर्ण रोजगार स्तर Y_0 से शुरू करते हैं वास्तविक वृद्धि दर G बिन्दु E तक अभष्टि वृद्धि G_w के साथ t_1 समय पर्यन्त चलती है t_2 समय पश्चात दीर्घकालीन स्फीति में ले जाता है। दूसरी ओर यदि G_w से कम G है तो C_r से C अधिक होगा। ऐसी स्थिति दीर्घकालीन मंदी लाती है क्योंकि उत्पादन, रोजगार और आय में कमी होगी रेखाचित्र 2 (B) में इसे दर्शाया गया है जब t_2 समय के पश्चात G_w से G नीचे गिरती है और दोनों एक दूसरे से दूर होते (रेखाचित्र 2) जाते हैं।

अतः G और G_w में संतुलन छुरी धार संतुलन (Knife edge equilibrium) है। क्योंकि एकबार भंग होने पर



स्वयं सन्तुलन में नहीं आता अतः दीर्घकालीन स्थिरता के लिए G तथा G_w को इकट्ठे रखा जाए इस उद्देश्य के लिए हैरोड ने तीसरा समीकरण प्रस्तुत किया है।

18.3.6 सहज या प्राकृतिक वृद्धि दर

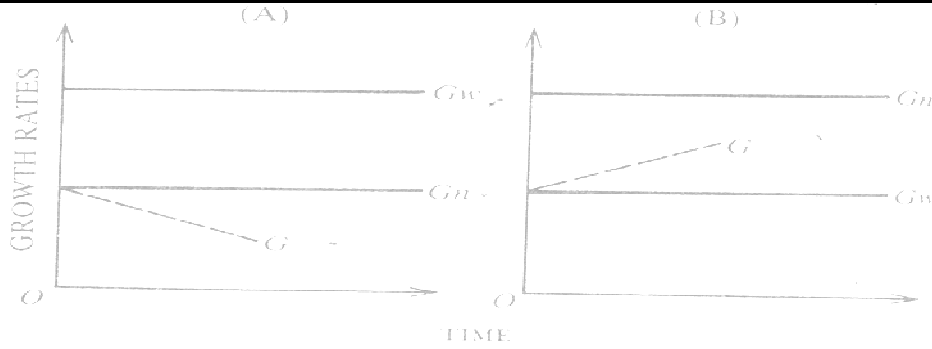
इसे वृद्धि की पूर्ण रोजगार दर या वृद्धि की सामान्य दर भी कहा जाता है यह दर देश के प्राकृतिक साधनों श्रम की उपलब्ध मात्रा तथा तकनीकी उन्नति आदि घटकों पर निर्भर करती है। चूँकि ये घटक परिवर्तनशील है अतः G_n , S के बराबर हो भी सकती है और नहीं भी

अर्थात् $G_n C_r = S$ or

$G_n C_r \neq S$

18.3.7 G , G_w एवं G_n का विचलन

पूर्ण रोजगार सन्तुलन = $G_n = G_w = G$ जो कि एक छुरी धार संतुलन है। यदि तीनों में कोई विचलन होगा तो अर्थव्यवस्था तो दीर्घकालीन स्थिरता अथवा स्फीति की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायेगी। यदि $G > G_w$ हो तो निवेश बचत की अपेक्षा तीव्रता से वृद्धि होती है और आय में G_w की अपेक्षा तीव्र वृद्धि होगी यदि $G < G_w$ तो विलोमश स्थिति होगी। हैरोड के अनुसार यदि $G_w > G_n$ हो तो दीर्घकालीन मंदी पैदा हो जायेगी। ऐसी स्थिति में G से G_w द्वारा लगाई जाती है।



रेखाचित्र 3

जैसाकि रेखाचित्र 3 (A) में दिखाया गया है। G_n से G_w अधिक होती है। यदि $G_w < G_n$ हो तो G से G_w नीचे होगा जैसा रेखाचित्र 3 (B) में दिखाया गया है। अब अर्थव्यवस्था में दीर्घकालीन स्फीति होगी। तथा $C < C_r$ श्रम की अधिकता पूँजी की कमी लाभ अधिक होता है।

18.4 डोमर का विकास प्रारूप

ईब्स डोमर ने सन् 1946 में अपनी पुस्तक *Essay in the theory of Economy Growth* में एक अध्याय *Capital Expansion Rate of growth and employment* के अर्न्तगत अपने विकास प्रारूप का प्रतिपादन किया

डोमर के विकास प्रारूप की मान्यताएं भी हैरोड के प्रारूप के समान है इन्होंने कहाँ कि निवेश एक ओर तो आय को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर उत्पादक क्षमता बढ़ाता है इसलिए उत्पादक क्षमता में वृद्धि को आय में वृद्धि के बराबर करने के लिए निवेश किस दर से बढ़े ताकि पूरा रोजगार बना रहे वह निवेश के माध्यम से कुल पूर्ति तथा कुल माँग के बीच संबंध स्थापित करके इस प्रश्न का उत्तर देता है।

18.4.1 डोमर के विकास प्रारूप की मान्यताएं

डोमर का विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताएं निम्नवत है-

- 1) समाज में अपेक्षित बचत (Intended extant Savings) तथा वास्तविक बचत बराबर होती है। अर्थात् औसत बचत प्रवृत्ति (APS), सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) के बराबर होता है।
- 2) अर्थव्यवस्था में अपेक्षित निवेश तथा वास्तविक निवेश भी बराबर होते है।

$$\text{अर्थात् } S = I$$

- 3) उत्पादन का उद्देश्य साम्य की स्थिति को प्राप्त करना।
- 4) विनियोग की दर उत्पादन व आय वृद्धि की दर पर निर्भर करती है।
- 5) अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार विद्यमान है।
- 6) मूल्य-स्तर तथा ब्याज की दर में कोई परिवर्तन नहीं होता और पूँजी श्रम अनुपात तथा पूँजी उत्पादन अनुपात भी यथा स्थिर है।

7) राज्य हस्तक्षेप का अभाव है।

8) पूँजी गुणांक (Capital Coefficient) अर्थात् पूँजीगत स्टॉक का आय से अनुपात स्थिर मान लिया गया है।

9) पूँजीगत वस्तुओं का मूल्य हास नहीं होता है।

18.4.2 पूर्ति पक्ष

डोमर ने पूर्ति पक्ष को इस प्रकार सपष्ट किया है कि मान लीजिए निवेश की वार्षिक आय I है और नयी पूँजी (मशीन) की उत्पादन क्षमता S के बराबर है। तब I डालर से उत्पादन क्षमता IS डालर वार्षिक होगी। लेकिन यदि नयी पूँजी का उपयोग पुरानी मशीनों के स्थान पर किया जाए तो वार्षिक उत्पादन क्षमता IS से कम होगी। डोमर इसे $I\sigma$ से प्रदर्शित करता है।

दूसरे शब्दों में $\Delta Y = I\sigma$

जबकि निवेश की औसत उत्पादकता $\sigma = \Delta Y/I$, $I\sigma$ को सिग्मा प्रभाव भी कहते हैं।

18.4.3 माँग पक्ष

इसकी व्याख्या केन्ज की गुणक प्रक्रिया से करता है। मान लीजिए राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि ΔY होगी, वह निवेश में वृद्धि ΔI की $1/\alpha$ गुणा होगी

$$I = \alpha Y$$

$$\text{अथवा } 1/\alpha = Y$$

$$Y = 1/\alpha$$

दूसरे शब्दों में

$$\Delta Y = \Delta I / \alpha$$

18.4.4 संतुलन

आय का पूर्ण रोजगार संतुलन बनाए रखने के लिए कुल माँग एवं कुल पूर्ति के बराबर रहना चाहिए। समी. (1) और (2) को बराबर रखने पर

$$\Delta I / \alpha = I\sigma \quad \text{अर्थात्}$$

$$\Delta I / I = \alpha\sigma \quad \text{-----(3)}$$

समी. (3) से स्पष्ट है कि यदि हम पूर्ण रोजगार बनाये रखना चाहते हैं तब $\Delta I/I$ शुद्ध स्वायत्त निवेश की वृद्धि दर $\alpha\sigma$ के बराबर होनी चाहिए इसका स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा दिया है। मान लीजिए कि $\sigma = 50\%$ प्रतिवर्ष, $\alpha = 24\%$ और $Y = 300$ बिलियन डॉलर प्रतिवर्ष है।

यदि पूर्ण रोजगार को बनाए रखना है तो $300 \times 24 / 100 = 72$ मिलियन डॉलर निवेश चाहिए। इससे उत्पादन क्षमता में निवेशित मात्रा की σ गुणा वृद्धि होगी। अर्थात् $300 \times 24 / 100 \times 50 / 100 = 36$ बिलियन डॉलर की और राष्ट्रीय आय को भी इतनी ही मात्रा में बढ़ना पड़ेगा। परन्तु आय में सापेक्ष वृद्धि आय द्वारा विभक्त निरपेक्ष वृद्धि के बराबर होगी $\Delta Y/Y$ अर्थात्

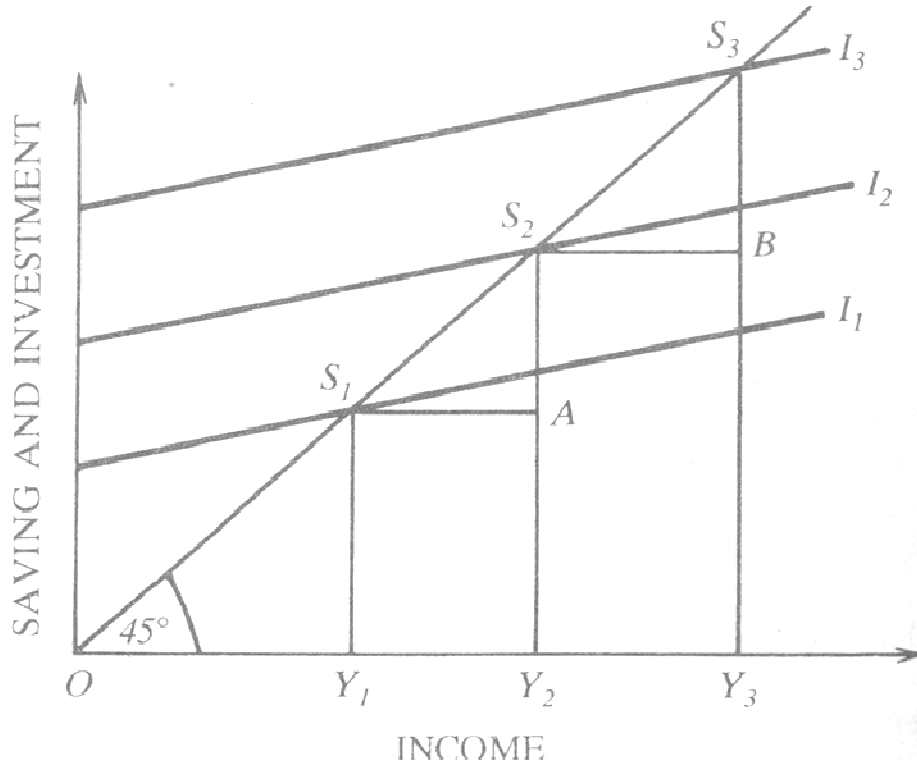
(i) $\Delta Y = 1/\alpha \Delta I$ अर्थात् $\Delta I = \Delta Y \alpha = 300 \times 24/100 = 72$ बिलियन डॉलर

(ii) $\Delta I \cdot \sigma = 76 \times 50/100 = 36$ बिलियन डॉलर

(iii) $\Delta Y/Y = 36/300 = 12/100 = 12\% = \alpha = 24/100 \times 50/100 = 12\%$

इसलिए पूर्व रोजगार बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि आय में 12% प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हो इस सुनहरी मार्ग से विचलन के परिणामस्वरूप चक्रिय परिवर्तन होंगे। जब $\alpha \sigma$ से $\Delta I/I$ अधिक होगा, तो अर्थव्यवस्था में मंदी की स्थिति होगी।

$$Y = S + I$$



रेखाचित्र 4

रेखाचित्र 4 में राष्ट्रीय आय का निर्धारण समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। क्षैतिज अक्ष पर आय के स्तर को जबकि अनुलम्ब अक्ष पर बचत एवं निवेश को लिया गया है 45° कोण $Y = S + I$ का संतुलन दिखाया गया है।

प्रारम्भ में अर्थव्यवस्था का संतुलन बिन्दु S_1 है अब आर्थिक निवेश I_1 है गुणक प्रभाव के कारण आय का स्तर बढ़कर $S_1 A (= Y_1 Y_2)$ हो जाता है लेकिन वार्षिक उत्पादन क्षमता $I \sigma$ से कम रहती है। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि $OY_2 > OY_1$ अब निवेश की मात्रा बढ़ कर I_2 हो जायेगी और आय में वृद्धि $S_2 B (= Y_2 Y_3)$ होगी। यह प्रक्रिया निवेश गुणक के अनुसार चलती रहेगी जब तक आय में वृद्धि निवेश में की गई वृद्धि की गुणक की वृद्धि के बराबर नहीं हो जाती।

18.5 आलोचना

(1) उत्पादन फलन तथा पूँजी श्रम अनुपात को स्थिर माना।

- (2) सीमांत बचत प्रवृत्ति तथा औसत बचत प्रवृत्ति स्थिर है।
- (3) कीमत परिवर्तन पर ध्यान नहीं दिया।
- (4) पूँजीगत तथा उपभोक्ता वस्तुओं में भेद नहीं करता।
- (5) उद्यमी व्यवहार की उपेक्षा की गई है।
- (6) सरकार की भूमिका पर विचार नहीं करता।

18.6 हैरॉड तथा डोमर प्रारूपों का तुलनात्मक अध्ययन

इनमें कुछ समानताएँ भी हैं जबकि कुछ असमानताएँ हैं-

18.6.1 हैरॉड तथा डोमर प्रारूपों की समानताएँ

(i) बचत एवं निवेश को अधिक महत्व:-दोनों प्रारूप बचत एवं निवेश को विशेष महत्व देते हैं और अर्थव्यवस्था का संतुलन बचत एवं निवेश की समानता पर निर्भर करता है।

डोमर प्रारूप

$$\Delta I / I = \alpha \sigma$$

$$\text{जबकि } \alpha = \Delta S / \Delta Y, \sigma = \Delta Y / I$$

$$\Delta I / I = \Delta S / \Delta Y \times \Delta Y / I$$

$$\text{OR } \Delta I / I = \Delta S / I$$

$$\Delta I = \Delta S$$

हैरोड प्रारूप

$$GC = S$$

$$\text{जबकि } G = \Delta Y / Y, c = I / \Delta Y$$

$$\Delta Y / Y \times I / \Delta Y = S / Y$$

$$\text{OR } I / Y = S / Y$$

$$I = S$$

(ii) डोमर की सतत वृद्धि दर ($\alpha \sigma$) हैरोड की वृद्धि की अभीष्ट दर (G_w) के अनुसार है हैरोड का S डोमर के α के बराबर है। अतः $\alpha = S / Y$ अथवा $S = \alpha Y$

$$\sigma = \Delta Y / I \text{ OR } I = \Delta Y / \sigma$$

अर्थव्यवस्था में आय का संतुलन बनाए रखने के लिए बचत एवं निवेश का बराबर होना आवश्यक है।

$$I = S, \Delta Y / \sigma = \alpha Y \text{ OR } \Delta Y / Y = \alpha \sigma = G_w$$

(iii) हैरोड यह मानकर चलता है कि बचत कुल आय का एक स्थिर अंश मात्र है $S = sY$ ($0 < r < 1$)

बचत फलन दीर्घकालीन उपभोगफलन है जिससे $APS = MPC$ निवेश आय के स्तर में परिवर्तन का फलन है I

$$= Cr (\Delta Y) Cr > 0 \text{ Long Turn में } I = S \text{ or } Cr (\Delta Y) = sY$$

दोनों तरफ Y से विभक्त करें

$$Cr \Delta Y / Y = s Y / Y$$

$$Cr (\Delta Y / Y) = S$$

$$G_w = S / Cr$$

18.6.2 हैरॉड तथा डोमर प्रारूप की असमानताएँ

- (i) डोमर सीमान्त पूँजी उत्पादन तथा गुणक के व्युत्क्रम $\Delta Y/d = \Delta I / \sigma$ का प्रयोग करता है हैरोड सीमांत पूँजी उत्पादन तथा त्वरक का प्रयोग करता है।
- (ii) डोमर निवेश को वृद्धि प्रक्रिया में मुख्य कार्य सौंपता है जबकि हैरॉड आय स्तर को वृद्धि प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण कारक समझता है।
- (iii) डोमर निवेश की माँग और पूर्ति में संबंध स्थापित करता है जबकि हैरॉड बचत की माँग और पूर्ति को बराबर करता है।
- (iv) डोमर पूँजी उत्पादन अनुपात के व्युत्क्रम का प्रयोग करते हैं हैरॉड पूँजी उत्पादन अनुपात का इस दृष्टि से डोमर का $\sigma = 1/Cr$ हैरॉड का।
- (v) डोमर $\Delta I/I = \Delta Y/Y$ की मान्यता स्वीकारते हैं जबकि हैरॉड नहीं।
- (vi) हैरॉड के लिए व्यापार चक्र वृद्धि के मार्ग का अभिन्न अंग पर डोमर के लिए नहीं फिर भी वह σ निवेश की औसत उत्पादकता के उतरी चढ़ाव को माना है।
- (vii) हैरॉड उद्यमियों के व्यवहार ढाँचे को माना जबकि डोमर सम्बन्ध में कुछ नहीं सुझाते हैं।

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. विकास की अभीष्ट दर है:

अ. $GC=S$ ब. $GC=S/Cr$ स. $GC=SCr$ द. $GC=I$

2. Essay in the Theory of Economy Growth पुस्तक है-

अ. हैरोड ब. डोमर स. एडम स्मिथ द. रिकार्डो।

3. हैरोड-डोमर के आर्थिक प्रारूप में, बढ़ता पूँजी निर्गत अनुपात दिया होने पर, आवश्यक वृद्धि दर निर्भर करती है?

अ. पूँजी की सीमान्त क्षमता पर

ब. विनियोग की सीमान्त उत्पादकता पर

स. श्रम-शक्ति के विकास की दर पर

द. बचत-आय अनुपात पर

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हैरोड का विकास प्रारूप क्या है?
2. हैरोड की वास्तविक संवृद्धि दर का वर्णन कीजिए।
3. डोमर के विकास प्रारूप क्या है?
4. हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताएँ क्या हैं?
5. हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप की मुख्य बातें क्या हैं?

18.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह जान चुके हैं कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने पूँजी संचय के क्षमता वृद्धि पक्ष पर अधिक जोर दिया था और उसके माँग पक्ष की अवहेलना की थी। इसके विपरीत कीन्सवादियों ने पूँजी संचय के “आय- वृद्धि पक्ष पर अधिक जोर दिया और उसके क्षमता वृद्धि पक्ष को भुला दिया।” हैरोड डोमर ने इन दोनों घरानों की भूल को सुधारते हुये निवेश प्रक्रिया के दोनों पक्षों को मिला दिया है और इस प्रकार यह उनके माँडल की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। हैरोड एवं डोमर के विकास प्रारूप की मान्यताएं समान है इन्होंने कहाँ कि निवेश एक ओर तो आय को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर उत्पादक क्षमता बढ़ाता है इसलिए उत्पादक क्षमता में वृद्धि को आय में वृद्धि के बराबर करने के लिए निवेश किस दर से बढ़े ताकि पूरा रोजगार बना रहे वह निवेश के माध्यम से कुल पूर्ति तथा कुल माँग के बीच संबंध स्थापित करके इस प्रश्न का उत्तर देता है।

हैरोड तथा डोमर ने भी आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया में निवेश को प्रमुख स्थान दिया है विशेष रूप से उसकी द्वैत प्रकृति को एक तरफ निवेश आय में वृद्धि करता है तो दूसरी तरफ अर्थव्यवस्था के पूँजीगत स्टॉक को बढ़ाकर उसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर देता है। पहले को निवेश का माँग प्रभाव और दूसरे को पूर्ती प्रभाव कहा जा सकता है। इसलिए एक अर्थव्यवस्था में जब तक निवेश बढ़ता रहेगा, तब तक वास्तविक आय तथा उत्पादन का विस्तार होता रहेगा।

18.18 शब्दावली

- वास्तविक वृद्धि दर - वास्तविक वृद्धि दर वह दर है जिस दर पर देश विकास कर रहा है।
- अभीष्ट या आवश्यक वृद्धि दर - आवश्यक वृद्धि दर विकास की वह दर होती है जिसे यदि प्राप्त कर लिया जाये तो उद्यमी ऐसी मानसिक स्थिति में होते है कि वे इसी प्रकार से विकास करते रहने के लिए प्रेरित होंगे।
- प्राकृतिक वृद्धि दर-इसे वृद्धि की पूर्ण रोजगार दर या वृद्धि की सामान्य दर भी कहा जाता है।

18.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्न 1- ब.ळब्रैध्ब्तए2.. ब.डोमर 3- द. बचत-आय अनुपात पर

लघु उत्तरीय प्रश्न 1-देखिए 18.3 , 2-देखिए 18.3.3 ,3-देखिए 18.4

4-देखिए 18.3.1,18.4 ,5-देखिए 18.6।

18.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिन्हा वी.सी.(1910) विकास और पर्यावरणीय अर्थशास्त्र, सहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
2. एस. पी. सिंह(1901)आर्थिक विकास एवं नियोजन, एस चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली।
3. एम.एल.झिंगन(1902)आर्थिक विकास एवं नियोजन, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा.लि. नई दिल्ली।
4. धींगरा आई0सी0 (19187), “इकोनॉमिक डेवलपमेंट एन प्लानिंग इन इण्डिया”, एस0 चन्द्र नई दिल्ली।

18.11 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

1. अग्रवाल ए0एन0, (1906) “इण्डियन इकोनॉमी (प्रोब्लम ऑफ डेवलपमेंट एण्ड प्लानिंग)” आशीष पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
 2. अहलूवालिया, आई0जे0 (19185), “इन्डस्ट्रियल ग्रोथ इन इंडिया”, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
 3. अहलूवालिया, आई0जे0 एवं लिटिल, आई0एम0डी0 (1902), “इण्डियास इकोनॉमिक रिफार्म एण्ड डेवलपमेंट”, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
-

18.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप की विवेचना कीजिए तथा इसके मुख्य कमियों को इंगित कीजिए।
2. हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप में समानताओं और असमानताओं की विवेचना कीजिए?
3. हैरोड-डोमर के विकास प्रारूप के विश्लेषण के प्रमुख अंश स्पष्ट कीजिए। इसके व्यावहारिक प्रयोग की विवेचना कीजिए?

इकाई. 19 व्यापार चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 उद्देश्य
- 19.3 व्यापार चक्र का आशय एवं विशेषताएं
- 19.4 व्यापार-चक्र के प्रकार
- 19.5 व्यापार-चक्र की अवस्थाएं
- 19.6 व्यापार-चक्र के सिद्धान्त
- 19.7 व्यापार-चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त
 - 19.7.1 विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त-
 - 19.7.2 मौद्रिक अति-निवेश का सिद्धान्त
- 19.8 सारांश
- 19.9 शब्दावली
- 19.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 19.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 19.12 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ
- 19.13 निबन्धात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

पिछले खण्डों के विभिन्न इकाईयों में समष्टि अर्थशास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर काफी विस्तार से विवेचना प्रस्तुत किया गया। इन विभिन्न पहलुओं के अन्तर्गत एक मुख्य विचारणीय प्रश्न यह था कि अर्थव्यवस्था में आय का निर्धारण कैसे होता है? अर्थात् इसके अन्तर्गत इस समस्या का विश्लेषण किया गया कि दी गयी परिस्थिति में आय का स्तर पूर्ण रोजगार का है या अपूर्ण रोजगार के सन्तुलन का है? यदि अपूर्ण रोजगार का सन्तुलन है तो इसके क्या कारण हो सकते हैं तथा किस प्रकार पूर्ण रोजगार के सन्तुलन को प्राप्त किया जा सकता है? परन्तु समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही एक दूसरे प्रकार की समस्या पर भी विचार किया जाता है। वह समस्या यह होती है कि दीर्घकाल में आय के सन्तुलन की प्रवृत्ति क्या होती है? वस्तुतः विकसित देशों के सन्दर्भ में किये गये अध्ययनों से यह निष्कर्ष प्राप्त किया गया कि दीर्घकाल में इन देशों के आय एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं में एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति के इर्द-गिर्द उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इस खण्ड के समस्त इकाईयों के अन्तर्गत इसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जायेगा।

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आर्थिक उच्चावचन के सिद्धान्त, विशेषकर मौद्रिक सिद्धान्त, को विस्तार से समझना है। आर्थिक क्रियाओं में उतार-चढ़ाव उत्पन्न होने के लिये कौन-कौन से आर्थिक कारक उत्तरदायी होते हैं तथा ये कारक किस प्रकार से क्रियाशील होकर आर्थिक क्रियाओं में नियमित रूप से उतार-चढ़ाव उत्पन्न करते हैं। इस सन्दर्भ में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अपने अलग-अलग सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। परन्तु उन सिद्धान्तों को समझने से पहले कुछ आधारभूत पहलुओं को जान लेना आवश्यक होगा। अतः इस इकाई के अन्तर्गत व्यापार-चक्र के मौद्रिक सिद्धान्त की भी विवेचना की जायेगी।

19.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- बता सकेंगे कि आर्थिक उच्चावचन का क्या अभिप्राय होता है।
- समझा सकेंगे कि व्यापार-चक्र की विशेषताएं क्या हैं।
- व्यापार-चक्र के अभिप्राय एवं उसके प्रमुख प्रकार को बता सकेंगे।
- व्यापार-चक्र की अवस्थाओं को समझा सकेंगे।

19.3 व्यापार चक्र का आशय एवं विशेषताएं

ऐसे आर्थिक उतार चढ़ाव जिनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से बार-बार उत्पन्न होने की होती है व्यापार चक्र अथवा चक्रीय आर्थिक उतार चढ़ाव कहलाते हैं। व्यापार चक्र को अंग्रेजी अर्थशास्त्री प्रायः Trade Cycles कहते हैं जबकि अमेरिकी अर्थशास्त्री Business Cycle कहना पसन्द करते हैं। प्रो0 ली के अनुसार ये दोनों शब्द ही भ्रामक हैं। चूँकि इनसे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है, इसलिए Economic Cycles कहना अधिक उपयुक्त होगा।

व्यापार चक्र की अनेक परिभाषा दी हुई हैं। प्रो0 कीन्स के अनुसार “व्यापार चक्र अच्छे व्यापार की अवधि जिससे मूल्यों में वृद्धि तथा बेरोजगारी में कमी होती है। तथा मन्द व्यापार की अवधि (जिसमें मूल्यों में गिरावट तथा बेरोजगारी में वृद्धि होती है) का मिश्रण है।” प्रो0 बेन्हम के अनुसार “व्यापार चक्र समृद्धि की वह स्थिति है जिसके बाद अवसाद या मन्दी का क्रम आता है।” प्रो0 हैबरलर के अनुसार “सामान्य अर्थ में व्यापार चक्र को समृद्धि अवसाद अच्छे तथा बुरे व्यापार की अवधि के एकान्तरण (alternation) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।”

ऊपर की परिभाषाओं के सार के रूप में व्यापार चक्र से तात्पर्य एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की समग्र आर्थिक क्रियाओं में होने वाले उस विशिष्ट उच्चावचन से है। जिसमें लहरों जैसा स्पन्दन हो जो समक्रामिक हो तथा जिसमें आर्थिक समृद्धि के बाद निश्चित रूप से अवसाद की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो।

अब तक की व्याख्या से स्पष्ट है कि आर्थिक क्रियाओं के सभी उच्चावचन व्यापार चक्र नहीं होते हैं कुछ विशिष्ट उच्चावचन ही जिनमें सामान्यतया निम्नांकित विशेषताएं पायी जाती हैं वे व्यापार चक्र कहे जा सकते हैं।

1. व्यापार चक्र में लहरों जैसा स्पन्दन होता है (Wake line movement) अर्थात् समृद्धि के बाद अवसाद, अवसाद के बाद समृद्धि आती जाती है।
2. चक्रीय परिवर्तनों का स्वभाव आवर्तनशील होता है।
3. व्यापार चक्र बारबार होते हैं परन्तु नियमित नहीं होते हैं, (Business Cycles are recurrent but not periodic)
4. इनमें स्वतः वर्धनशीलता (Self reinforcing) की संचयी प्रवृत्ति पायी जाती है तथा स्वतः विनष्टशीलता (Self destructive) की भी प्रवृत्ति होती है।
5. व्यापार चक्र के प्रभावों में समक्रमिकता (Synchronism) की विशेषता होती है अर्थात् ये प्रभाव अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र से न होकर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं।
6. व्यापार चक्रों का सम्बन्ध मूलतः रोजगार, उत्पादन व कीमत स्तर से होता है और यह तीनों विनियोग से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार तेजी काल में विनियोग बढ़ता है और मन्दी काल में घटता है।

19.4 व्यापार-चक्र के प्रकार

व्यापार चक्रों को सामान्यतः यों वर्गीकृत किया जाता है:

1. **अल्प किचिन चक्र:-** इसे लघु चक्र कहते हैं जो लगभग 40 मास की अवधि का होता है प्रमुख तथा लघु चक्रों के बीच भेद एक अंग्रेजी अर्थशास्त्री जोसेफ किचिन ने किया था।
2. **दीर्घ जुगलर चक्र:-** इस चक्र को बड़ा चक्र भी कहते हैं यह अनुक्रमिक संकटों के बीच व्यापार क्रिया का उतार चढ़ाव होता है। इसकी खोज फ्रान्सीसी अर्थशास्त्री क्लीमेंट जुगलर ने की इसकी अवधि लगभग 10 वर्ष होती है।
3. **अतिदीर्घ कोन्द्रातीफ चक्र:-** 1925 में रूसी अर्थशास्त्री कोन्द्रातीफ ने व्यापार चक्रों की अति दीर्घ कालीन तरंगों को बताया जिसकी अवधि 50 वर्ष के लगभग होती है।
4. **निर्माण कार्य चक्र:-** निर्माण कार्यों से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार के चक्र की अवधि 15 से 19 वर्ष होती है इस तरह के चक्र वारन तथा पीयर्सन नामक दो अमरीकी अर्थशास्त्रियों से सम्बन्ध है।
5. **कुजनेट्स चक्र:-** प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो० साइमन कुजनेट्स ने 16-22 वर्ष के दीर्घकालीन उतार चढ़ाव नामक नए प्रकार के चक्रों की प्रस्थापना की इससे इन्ही के नाम पर कुजनेट्स चक्र कहा जाने लगा है।

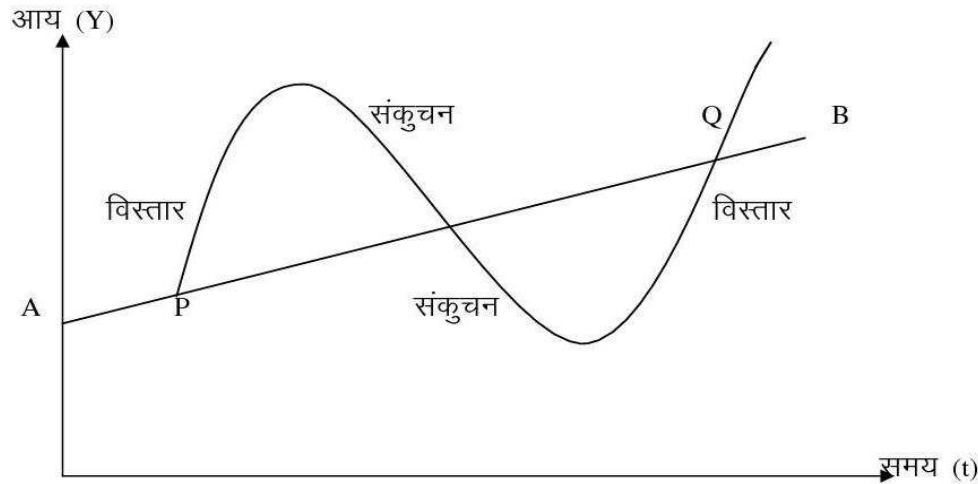
19.5 व्यापार-चक्र की अवस्थाएं

एक व्यापार चक्र की प्रावस्थाएँ (Phases of a Trade Cycle)

1. विस्तार अथवा समृद्धि अथवा उत्कर्ष (upswing)
2. सुस्ती (recession) अथवा उपरी मोड़ बिन्दु
3. संकुचन अथवा मन्दी अथवा अधोमुख (downswing)
4. पुनरुत्थान (revival) अथवा पुनरुत्थान (recovery) अथवा निचला मोड़ बिन्दु।

अमेरिकी अर्थशास्त्री बर्न्स (Authur F. Burns) तथा मिचेल (Wesley C. Mitchell) डपजबीमससद्ध के अनुसार प्रत्येक व्यापार चक्र में गर्त तथा शिखर (Peak) की दो अवस्थाओं के अतिरिक्त दो अन्य अवस्थाएँ इन दोनों के बीच की होती हैं।

लार्ड ओवरस्टोन (Lord over stone) ने व्यावसायिक उतार चढ़ावों के क्रम की व्याख्या इन शब्दों में की है “घोर मन्दी पुनर्जीवन बढ़ता हुआ आशावाद सम्पन्नता उत्तेजना अत्यधिक व्यापार दबाव परेशानी पुनः घोर मन्दी।”



मन्दी (Depression) :- मन्दी काल में आर्थिक क्रियाएं निम्नतम स्तर पर आ जाती है और अर्थव्यवस्था के लिए अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था की सामान्यतः मुख्य विशेषताएँ ये होती है। (1) उत्पादन तथा व्यापार का नीचा स्तर (2) बड़े पैमाने पर बेरोजगारी आय का नीचा स्तर (3) माँग में कमी तथा कीमतों में गिरावट (4) कच्चे माल तथा कृषि पदार्थों की कीमतों में निर्मित पदार्थों की कीमत में गिरावट (5) कीमतों की तुलना में लागतों में कम गिरावट (6) विकृत सापेक्ष कीमत संरचना (7) विनियोग में कमी के कारण बैंक साख की माँग में कमी (8) ब्याज दर में कमी (9) ऊँचा तरलता अधिमान तथा साहस में कमी (10) व्यावसायिक असफलताओं की ऊँची दर (11) निर्माण क्रियाओं तथा कारखानों के विस्तार में रूकावट तथा (12) सर्वव्यापक निराशावादिता।

उपर्युक्त तत्व जब सम्मिलित रूप से कार्य करने लगते है तो एक तत्व दूसरे को शक्ति देता हैं और मन्दी का क्रम एक संचयी प्रक्रिया (Cumulative process) का रूप धारण कर लेता है। जिससे आर्थिक कठिनाईयों के अतिरिक्त राजनीतिक व सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो सकती है।

पुनरूत्थान (Recovery or Revival):- पुनरूत्थान का क्रम तब आरम्भ होता है जब आर्थिक क्रियाएँ शिथिलता की निम्नतम दशा (trough) में पहुँच जाती है। पुनरूत्थान आरम्भ करने वाली अनेक शक्तियाँ हो सकती है जैसे कीमतों की गिरावट रूक जाना, गोदामों में रखे स्टॉक समाप्त हो जाना, नीची ब्याज दरों के कारण विनियोग को प्रोत्साहन मिलना, नये बाजार उपलब्ध होना इत्यादि। पुनरूत्थान की अवस्था की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार होती है- (1) उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि (2) आय में वृद्धि के कारण माँग में वृद्धि (3) कीमतों में वृद्धि (4) मजदूरी तथा ब्याज की दरें अपेक्षाकृत नीची होने के कारण लाभ में वृद्धि (5) विनियोग को प्रोत्साहन (6) बैंक साख की अधिक माँग (7) स्टॉक रखने की माँग में वृद्धि (8) स्थापित उद्योगों की अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता में कमी तथा (9) सर्वव्यापी आशावादिता (Optimism)। पुनरूत्थान का क्रम आरम्भ होते ही उपर्युक्त सभी तत्व संचयी स्वरूप में कार्य करने लगते है और अर्थव्यवस्था में पुनर्जीवन की प्रक्रिया निरन्तर अधिक वेगपूर्ण होती जाती है।

समृद्धि तथा तेजी (Prosperity and Boom):- हैबरलर के अनुसार, समृद्धि की स्थिति की अवस्था वह है जिसमें वास्तविक आय तथा उत्पादन में वृद्धि होती है रोजगार का स्तर ऊँचा होता है अथवा बढ़ रहा होता है बेकार साधन तथा बेरोजगार मजदूर होते ही नहीं अथवा बहुत कम होते है समृद्धि की अवस्था तब प्राप्त होती है जब पुनरूत्थान को उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ पर्याप्त रूप से जोरदार हो जाती है। समृद्धि विशेषताएँ होती है। (1) उत्पादन रोजगार व आय के ऊँचे स्तर (2) माँग तथा कीमतों में अधिक वृद्धि (3) मजदूरी तथा ब्याज दरों में भी वृद्धि (4) लागतों की अपेक्षा कीमतों में अधिक वृद्धि के कारण लाभ में वृद्धि (5) विनियोग

में वृद्धि के कारण निर्माण कार्यों को प्रोत्साहन (6) बैंक साख का विस्तार (7) औद्योगिक विस्तार (8) गोदाम में माल रखने की माँग अधिक तथा (9) सर्वव्यापी आशावादिता।

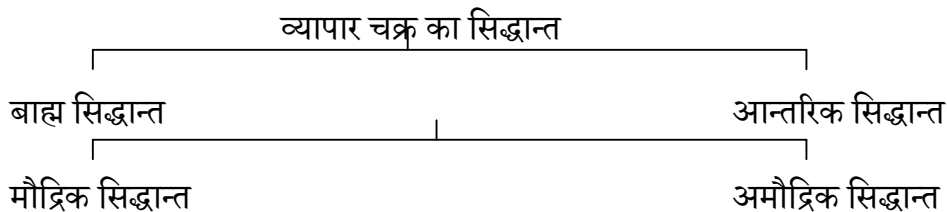
इस अवस्था में पहुँचने के बाद (तेजी) भी व्यय बढ़ते रहते हैं परन्तु उत्पादन बढ़ना रूक जाता है। परिणाम स्वरूप कीमतों में स्फीतिक वृद्धि होने लगती है तथा कीमते बढ़ जाती हैं अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं विस्तार को बढ़ाने वाली शक्तियाँ कमजोर होने लगती हैं और चोटी से नीचे की ओर पतन ; क्वूदूपदहद्ध आरम्भ हो जाती है।

सुस्ती (Recession) :- समृद्धि समाप्त होते ही सुस्ती का आरम्भ होता है। वास्तव में यह एक अवस्था न होकर एक ऐसा मोड़ होता है जो अधोगति (Downswing) का रास्ता खोल देता है। इस मोड़ पर संकुचन की शक्तियाँ विस्तार की शक्तियों से अधिक बलवान हो जाती हैं और आर्थिक क्रिया का स्तर गिरने लगता है सुस्ती तथा प्रतिसार की प्रमुख विशेषताएँ ये होती हैं: (1) कीमतों की अपेक्षा लागत में अधिक वृद्धि (2) लाभ में कमी तथा व्यवसाय में अत्यधिक सावधानी (3) विनियोग में कमी तथा औद्योगिक विस्तार में शिथिलता (4) रोजगार के अवसरों में कमी तथा आय में गिरावट (5) स्टॉकों में कमी (6) मुद्रा एवं साख बाजार में प्रतिकूल दशाएँ (7) व्यावसायिक असफलताओं में वृद्धि (8) तथा निराशावादी दृष्टिकोण।

सुस्ती का प्रभाव संचयी (Cumulative) होता है। गुणक प्रभाव उल्टी दिशा में कार्य करने लगता है और त्वरक लगभग शून्य हो जाता है। प्रो0 ली के अनुसार “सुस्ती एक बार आरम्भ हो जाने पर अपनी ही शक्ति से आगे बढ़ती है, जिस प्रकार जंगल की आग अपनी विनाश की शक्ति का स्वयं ही सृजन करती है।” सुस्ती अन्त में अर्थव्यवस्थाओं को मन्दी की अवस्था में पहुँचा देती है और इस प्रकार एक चक्र पूरा हो जाता है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट होता है कि व्यापार चक्र का निश्चित क्रम होता है और प्रत्येक अवस्था में इस प्रकार की आर्थिक शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो पहले की अवस्था को बदल डालती हैं।

19.6 व्यापार-चक्र के सिद्धान्त



बाह्य सिद्धान्त व्यापार चक्र के बहिर्जनक कारणों (exogenous Factors) की व्याख्या करते हैं। स्टेनले जेवन्स ने बताया था कि कुछ काल के बाद सूर्य धरातल पर कुछ धब्बे (Sun spots) बढ़ जाते हैं जिनके परिणाम स्वरूप वर्षा होती है, और इसका कृषि उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। जिससे व्यापार भी प्रभावित होता है। व्यापार चक्र के कुछ अन्य बहिर्जनक कारण भी हो सकते हैं जैसे युद्ध, क्रान्तियाँ, राजनीतिक घटनाएँ, जनसंख्या की वृद्धि दर, स्वर्ण की खोज तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कार व सुधारा। वास्तविकता यह है कि उपर्युक्त बाह्य कारण अर्थव्यवस्था पर प्रहार तो करते हैं परन्तु ये उतार चढ़ाव उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। गडबड़ी तो आन्तरिक कारणों से ही उत्पन्न होती है।

आन्तरिक सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र उत्पन्न करने वाले अन्तर्जनित कारणों (endogenous factors) की व्याख्या करते हैं। ये सिद्धान्त अर्थव्यवस्था की आन्तरिक क्रियाओं की ओर ध्यान लाते हैं।

19.7 व्यापार-चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यापार-चक्र की घटना के उत्पन्न होने के लिये मौद्रिक कारकों को ही उत्तरदायी माना गया है। इस विचारधारा के समर्थक अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि मौद्रिक कारक ही अर्थव्यवस्था के अनेक आन्तरिक कारकों पर इस प्रकार प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि विस्तार तथा संकुचन की प्रक्रिया संचयी रूप धारण कर लेती है। आर्थिक साहित्य में इस विचारधारा के अन्तर्गत प्रमुख रूप से दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है - विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त तथा मौद्रिक अति-निवेश सिद्धान्त।

19.7.1 विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को एक ब्रिटिश अर्थशास्त्री आर0 जी0 हाट्रे ने प्रतिपादित किया। उनकी यह धारणा थी कि व्यापार-चक्र विशुद्ध रूप से एक मौद्रिक घटना है। उन्हीं के शब्दों में, “व्यापार-चक्र विशुद्ध रूप से एक मौद्रिक घटना होती है क्योंकि सामान्य माँग अपने आप में एक मौद्रिक घटना होती है।” उनका स्पष्ट मत था कि समस्त आर्थिक क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों का मुख्य कारण ‘मुद्रा की प्रवाह’ में होने वाला परिवर्तन ही होता है। चूकि मुद्रा की प्रवाह को निर्धारित करने वाला मुख्य घटक बैंकों की साख क्रियाएं होती हैं। इसलिये हाट्रे ने बैंकों की साख क्रियाओं को ही व्यापार-चक्र के प्रमुख निर्धारक घटक के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार बैंकों की साख में विस्तार की क्रिया व्यापार-चक्र की विस्तार की अवस्था को उत्पन्न करती है जबकि साख में संकुचन की क्रिया व्यापार-चक्र की संकुचन की अवस्था को उत्पन्न करती हैं। उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि व्यापार-चक्र के निर्धारण में अमौद्रिक कारकों की भी भूमिका होती है परन्तु साथ ही साथ यह विचार व्यक्त किया कि इन कारकों का व्यापार-चक्र पर उत्पन्न होने वाला प्रभाव मौद्रिक कारकों के माध्यम से ही होता है।

हाट्रे ने अपने विश्लेषण में निम्न कारकों के आधार पर व्यापार-चक्र की व्याख्या प्रस्तुत किया:-

बैंकों के नकद जमा कोष - बैंकों के पास नकद जमा कोष की अधिकता होने पर बैंक ‘सरल ऋण-नीति’ को अपनाते हुए साख की मात्रा में विस्तार करते हैं जबकि नकद जमा कोष की कमी होने पर बैंक ‘कठोर ऋण-नीति’ को अपनाते हुए साख की मात्रा में संकुचन करते हैं। साख में विस्तार तथा संकुचन की क्रिया ही व्यापार-चक्र को उत्पन्न करती है।

मुद्रा प्रवाह - मुद्रा की प्रवाह में परिवर्तन होने पर अर्थव्यवस्था के कुल व्यय की मात्रा में भी परिवर्तन हो जाता है। इसके लिए हाट्रे ने ‘फिशर के समीकरण’ को आधार के रूप में प्रस्तुत किया जो निम्न प्रकार से व्यक्त किया जाता है:

$$MV = PT$$

जहाँ पर MV कुल मुद्रा प्रवाह को तथा PT कुल व्यय को व्यक्त करता है।

व्यापारियों का व्यवहार - हाट्रे ने अपने विश्लेषण में व्यापारी वर्ग के व्यवहार, विशेषकर स्टॉक रखने की प्रवृत्ति, को प्रमुख आधार के रूप में प्रस्तुत किया।

ब्याज दर - हाट्रे ने ब्याज-दर को व्यापारियों के स्टॉक जमा करने के सम्बन्ध में मुख्य निर्धारक घटक माना तथा उनकी यह धारणा थी कि व्यापारी वर्ग ब्याज-दर के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होते हैं। उनका तर्क यह था कि ब्याज-दर व्यापारियों के लिए ऋण की लागत के रूप में होती है। इसलिए ब्याज-दर में कमी होने पर व्यापारियों द्वारा ऋण की माँग में वृद्धि की जाती है जबकि ब्याज-दर में वृद्धि होने पर ऋण के माँग में कमी की जाती है।

इन कारकों के आधार पर व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या निम्न प्रकार से किया जाता है-

समृद्धि अथवा विस्तार की अवस्था- समृद्धि की अवस्था बैंकों की साख में विस्तार के कारण प्रारम्भ होती है। इसका कारण यह है कि जब बैंकों के पास नकद जमा कोष की अधिकता हो जाती है तो वे ‘सरल ऋण-नीति’ को अपनाते हुए साख की मात्रा में विस्तार करते हैं तथा साथ ही साथ ब्याज-दरों में भी कमी करते हैं। साख में विस्तार अर्थव्यवस्था में मुद्रा की प्रवाह में वृद्धि उत्पन्न कर देता है और इसके फलस्वरूप कुल व्यय की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है। दूसरी तरफ, चूकि व्यापारी वर्ग ब्याज-दर के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होते हैं इसलिये ब्याज-दर में होने वाली कमी व्यापारियों को अधिक स्टॉक रखने के लिये प्रेरित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारियों द्वारा अधिकाधिक ऋण की माँग की जाती है तथा इसकी पूर्ति बैंकों की उदार साख नाति के द्वारा होता रहता है। साख विस्तार के फलस्वरूप मुद्रा की प्रवाह में वृद्धि हो जाती है और इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था

में वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो जाती है। बढ़े हुए माँग के कारण रोजगार, उत्पादन तथा आय में भी वृद्धि होती है। आय में वृद्धि होने के कारण माँग में और अधिक वृद्धि होती है जो व्यापारियों को और अधिक स्टॉक रखने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार आर्थिक विस्तार की प्रक्रिया संचयी हो जाती है। विस्तार की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि बैंक साख का विस्तार करते रहते हैं।

प्रतिसार अथवा सुस्ती की अवस्था- इस अवस्था के प्रारम्भ होने का कारण बैंकों के साख विस्तार की क्रिया का रूक जाना होता है। साख विस्तार की क्रिया के रूकने का कारण यह होता है कि समृद्धि की अवस्था में बैंकों द्वारा अधिकाधिक ऋण देने के परिणामस्वरूप उनके नकद जमा कोष में कमी होती रहती है। एक समय ऐसा आता है जबकि बैंकों के पास उपलब्ध नकद जमा कोष अपने निम्न स्तर पर पहुँच जाती है। ऐसी परिस्थिति में बैंकों द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने हेतु 'कठोर ऋण-नीति' अपनाया जाता है। फलस्वरूप, बैंकों द्वारा साख विस्तार की क्रिया रोक दी जाती है और ब्याज-दरों में वृद्धि कर दी जाती है। साथ ही साथ बैंकों द्वारा पूर्व में दिये गये ऋणों की वापसी के लिए व्यापारियों पर दबाव उत्पन्न किया जाता है। यह दबाव व्यापारियों को जमा किये गये स्टॉक को बेचने के लिए विवश कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार में वस्तुओं के कीमतों में गिरावट होती है। कीमतों में होने वाली कमी उत्पादकों के लाभ को कम करती है जिसके फलस्वरूप उत्पादक उत्पादन में कमी करने के लिए विवश हो जाते हैं। उत्पादन में कमी के कारण रोजगार में कमी होती है जिसके फलस्वरूप आय में भी कमी हो जाती है। ये समस्त प्रभाव संचयी रूप से क्रियाशील होकर अर्थव्यवस्था में सुस्ती की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

मन्दी अथवा संकुचन की अवस्था- हाट्रे के अनुसार मन्दी की अवस्था के उत्पन्न होने का कारण साख के मात्रा में अत्यधिक संकुचन होना होता है। साख में संकुचन होने के कारण व्यापारियों को ऋण प्राप्त करने में मुश्किल का सामना करना पड़ता है। इसलिए व्यापारियों द्वारा स्टॉक रखने की माँग कम कर दी जाती है। इसके साथ ही साथ साख में संकुचन के कारण अर्थव्यवस्था के कुल व्यय के आकार में भी कमी होती है। पर्याप्त माँग के अभाव में बाजार में वस्तुओं की कीमतों तथा उत्पादकों को मिलने वाले लाभ की मात्रा में गिरावट होती है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादक उत्पादन में कमी करने के लिए विवश हो जाते हैं। उत्पादन में कमी के कारण रोजगार में कमी होती है जिससे आय में भी कमी हो जाती है। आय में होने वाली कमी के कारण माँग में पुनः कमी होती है जिसके परिणामस्वरूप रोजगार, उत्पादन तथा आय में पुनः गिरावट होती है। इस प्रकार संकुचन की प्रक्रिया संचयी रूप धारण कर लेती है और अर्थव्यवस्था मन्दी के दुःश्चक्र में फँस जाती है।

पुनरूत्थान की अवस्था- मन्दी काल में ऋण की माँग कम होने के कारण बैंकों के पास नकद जमा कोष संचित होते रहते हैं और ब्याज-दर में भी गिरावट होती रहती है। केन्द्रीय बैंक भी बैंक-दर में कमी करती है और प्रतिभूतियों के क्रय द्वारा बैंकों की तरलता में वृद्धि करने की नीति अपनाती है। जब बैंक नीची ब्याज-दर पर साख का विस्तार करने को तैयार हो जाते हैं तो व्यापारी तथा उत्पादक ऋणों की माँग करने लगते हैं। इसके फलस्वरूप बैंक साख में विस्तार करना आरम्भ करते हैं। यहीं से अर्थव्यवस्था में पुनरूत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। क्योंकि साख में विस्तार की क्रिया कुल व्यय के आकार में वृद्धि करती है जिसके फलस्वरूप माँग में वृद्धि होती है। माँग में होने वाली वृद्धि व्यापारियों द्वारा स्टॉक रखने की माँग में वृद्धि उत्पन्न करती है। माँग पर उत्पन्न होने वाला विस्तारकारी प्रभाव रोजगार, उत्पादन तथा आय पर संचयी प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार पुनरूत्थान की प्रक्रिया आगे बढ़ती है।

पुनरूत्थान की अवस्था प्रारम्भ होने में एक अवरोध क्रियाशील हो सकता है। यह अवरोध 'साख-गतिरोध' के रूप में हो सकती है। यह वह स्थिति होती है जिसमें ब्याज-दर में कमी करने पर भी व्यापारियों द्वारा ऋणों की माँग में वृद्धि नहीं की जाती है। इसका कारण यह है कि मन्दी की अवस्था में कीमतें तथा माँग अत्यन्त निम्न स्तर पर गिर जाते हैं। साख-गतिरोध की स्थिति को हाट्रे ने स्वीकार तो किया परन्तु उनका स्पष्ट रूप से यह मानना था कि 'उदार ऋण-नीति' इस प्रकार के गतिरोध को दूर करने में सफल हो जाती है।

सिद्धान्त की समीक्षा- हाट्रे का सिद्धान्त व्यापार-चक्र की घटना का एक तर्कबद्ध विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा फ्रीडमैन जैसे अर्थशास्त्रियों ने हाट्रे के सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया है। परन्तु अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए आलोचना किया है। इनमें कुछ आलोचनार्थे निम्नवत हैं :-

1. इस सिद्धान्त में व्यापारियों की भूमिका विशेषकर उनके स्टॉक रखने के व्यवहार को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है।
2. यह सिद्धान्त आर्थिक उतार-चढ़ाव के लिये केवल मौद्रिक कारकों को ही उत्तरदायी मानता है जबकि इसके लिए अनेक प्रकार के अमौद्रिक कारक भी उत्तरदायी होते हैं। इसीलिए इस सिद्धान्त को व्यापार-चक्र के सिद्धान्त के अन्तर्गत एक आंशिक सिद्धान्त के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।
3. व्यापारियों के स्टॉक रखने के व्यवहार के निर्धारण में ब्याज-दर पर विचार किया गया है। जबकि इस सन्दर्भ में कई अन्य कारको जैसे व्यापार प्रत्याशायें, कीमतों में परिवर्तनों की सम्भावनायें तथा स्टॉक रखने की लागत इत्यादि की भूमिका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।
4. इस सिद्धान्त के अन्तर्गत साख में विस्तार तथा संकुचन को आर्थिक तेजी और मन्दी के कारण के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो उपयुक्त नहीं है। इस सन्दर्भ में पीगू ने आलोचना करते हुए कहा कि बैंक मुद्रा में होने वाले परिवर्तन व्यापार-चक्र के अंग होते हैं, उनके कारण नहीं। व्यावहारिक अनुभवों से भी यह सिद्ध किया गया है कि साख में विस्तार के द्वारा उत्थान सम्भव नहीं होता है और न ही साख में संकुचन मन्दी की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।
5. इस सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यापारियों की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए बैंक साख को ही प्रमुख स्रोत माना गया है। जबकि वास्तव में व्यापारी अपने वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए केवल बैंक साख पर ही निर्भर नहीं रहते हैं बल्कि अपने निजी संचित कोषों तथा निजी स्रोतों से उधार-ग्रहण करके अपने व्यापार के लिए वित्त का प्रबन्ध कर सकते हैं।

19.7.2 मौद्रिक अति-निवेश सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 'आस्ट्रियन स्कूल' के अर्थशास्त्रियों ने किया था। परन्तु इसको विकसित करने का प्रमुख श्रेय आस्ट्रिया के ही एक अर्थशास्त्री एफ ए हेयक को जाता है। यह सिद्धान्त भी व्यापार-चक्र का एक मौद्रिक सिद्धान्त है क्योंकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भी व्यापार-चक्र की व्याख्या मौद्रिक कारकों के आधार पर ही की जाती है। फिर भी यह सिद्धान्त हाट्रे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है। यह भिन्नता दो रूपों में है। प्रथम, हाट्रे का सिद्धान्त व्यापार-चक्र उत्पन्न होने के लिए विशुद्ध रूप से मौद्रिक प्रणाली में उत्पन्न होने वाले असन्तुलन को उत्तरदायी मानता है जबकि हेयक इसके लिए उत्पादन ढाँचे में उत्पन्न होने वाले असन्तुलन को उत्तरदायी मानते हैं। दूसरा, हाट्रे के सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यापार-चक्र की व्याख्या माँग पक्ष पर आधारित है क्योंकि यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र की व्याख्या साख में परिवर्तनों का व्यापारियों के स्टॉक रखने के व्यवहार तथा उपभोग व्यय पर उत्पन्न होने वाले प्रभाव के माध्यम से करता है। जबकि हेयक के सिद्धान्त अन्तर्गत व्यापार-चक्र की व्याख्या पूर्ति पक्ष पर आधारित है क्योंकि यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र की व्याख्या साख में परिवर्तन का उत्पादन के ढाँचे पर उत्पन्न होने वाले प्रभाव के माध्यम से किया जाता है।

हेयक ने अपने विश्लेषण में निम्न कारकों के आधार पर व्यापार-चक्र की व्याख्या प्रस्तुत किया:-

बैंकों के नकद जमा कोष - बैंकों के पास नकद जमा कोष की अधिकता होने पर बैंक 'सरल ऋण-नीति' को अपनाते हुए साख की मात्रा में विस्तार करते हैं जबकि नकद जमा कोष की कमी होने पर बैंक 'कठोर ऋण-नीति' को अपनाते हुए साख की मात्रा में संकुचन करते हैं। साख में विस्तार तथा संकुचन की क्रिया ही व्यापार-चक्र को उत्पन्न करती है।

ब्याज-दर - हेयक ने अपने सिद्धान्त में दो प्रकार के ब्याज-दरों - 'बाजार ब्याज-दर' तथा 'स्वाभाविक ब्याज-दर' की अवधारणाओं पर विचार किया। वस्तुतः ब्याज दर की इन दो अवधारणाओं को एक अर्थशास्त्री नट विकसेल ने विकसित किया था। स्वाभाविक ब्याज दर वह ब्याज दर होती है जिस पर ऋण योग्य कोषों की माँग ऐच्छिक बचतों की पूर्ति के बराबर होती है जबकि बाजार ब्याज दर वह ब्याज दर होती है जो बाजार में प्रचलित होती है तथा यह दर मौद्रिक शक्तियों के द्वारा निर्धारित होती है।

निवेश के लिए कोषों की माँग - हेयक ने निवेश निर्धारण की प्रक्रिया में ब्याज दर को ही प्रमुख घटक के रूप में प्रस्तुत किया। ब्याज-दर में होने वाली कमी निवेश की क्रिया को प्रेरित करती है।

पूर्ण रोजगार की मान्यता - हेयक ने अपने विश्लेषण को पूर्ण रोजगार की मान्यता के आधार प्रस्तुत किया तथा यह विचार व्यक्त किया कि किसी एक उद्योग के माँग में होने वाली वृद्धि के कारण उत्पादन के साधन दूसरे उद्योगों से उस उद्योग की तरफ हस्तान्तरित होते हैं।

हेयक ने अपने विश्लेषण के अन्तर्गत यह विचार प्रस्तुत किया कि जब तक 'स्वाभाविक ब्याज दर' तथा 'बाजार ब्याज दर' के बीच समानता बनी रहती है तब तक अर्थव्यवस्था में संतुलन बना रहता है और निवेश के लिए कोषों की माँग बचत की पूर्ति के बराबर बनी रहती है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब इन दोनों ब्याज दरों के बीच अन्तर उत्पन्न होता है। हेयक का यह मानना था कि यह अन्तर तब उत्पन्न होता है जब बैंक अपनी ऋण-नीति में परिवर्तन करते हुए ब्याज दरों में परिवर्तन कर देते हैं। यदि बाजार ब्याज दर स्वाभाविक ब्याज दर से कम हो जाती है तो निवेश के लिए कोषों की माँग बचत की पूर्ति से अधिक हो जाती है। इस परिस्थिति में बचत की माँग तथा पूर्ति के बीच के अन्तर को बैंक साख के द्वारा पूरा किया जाता है। दूसरी तरफ यदि बाजार ब्याज दर स्वाभाविक ब्याज दर से अधिक हो जाती है तो निवेश के लिए कोषों की माँग बचत की पूर्ति से कम हो जाती है। इस परिस्थिति में बैंकों द्वारा कठोर ऋण नीति अपनाया जाता है और साख में संकुचन किया जाता है। साख क्रियाओं में किया जाने वाला परिवर्तन ही अर्थव्यवस्था में उतार-चढ़ाव को उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या निम्न प्रकार से किया जाता है-

समृद्धि अथवा विस्तार की अवस्था - समृद्धि की अवस्था तब प्रारम्भ होती है जब बैंक 'उदार ऋण-नीति' अपनाते हैं तथा साख में विस्तार के साथ-साथ ब्याज दर में भी कमी कर देते हैं। इसके परिणामस्वरूप 'बाजार ब्याज दर' 'स्वाभाविक ब्याज दर' से कम हो जाती है। ब्याज दर में होने वाली कमी निवेशकों को ज्यादा निवेश के लिए प्रेरित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादक पूँजीगत उद्योगों में निवेश करने के लिए बैंकों से ऋणों की माँग में वृद्धि करते हैं। पूँजीगत उद्योगों में निवेश की मात्रा में वृद्धि होने से पूँजीगत वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो जाती है। इसके फलस्वरूप पूँजीगत वस्तुओं के कीमतों में वृद्धि हो जाती है और पूँजीगत उद्योग में लाभ प्राप्त होने की संभावना में वृद्धि हो जाती है।

हेयक ने अपने विश्लेषण में पूर्ण रोजगार की मान्यता के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया कि पूँजीगत वस्तुओं के माँग में होने वाली वृद्धि के कारण उत्पादन के साधन उपभोक्ता उद्योग से पूँजीगत उद्योगों की तरफ हस्तान्तरित होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में तो वृद्धि होगी जबकि उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में गिरावट होगी। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में कमी होने कारण इन वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उपभोग वस्तुओं पर किये जाने वाले व्यय की मात्रा में कमी हो जाती है और अनैच्छिक, अर्थात् बलात्, बचतों में वृद्धि हो जाती है। दूसरी तरफ, पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होने के कारण इन वस्तुओं के उद्योग में साधनों की आय, विशेषकर मजदूरियों में, लगातार वृद्धि होती रहती है। साधनों की आय में होने वाली वृद्धि उपभोग वस्तुओं की माँग में वृद्धि उत्पन्न करती है। पूँजीगत वस्तुओं के साथ-साथ उपभोग वस्तुओं के माँग में वृद्धि होने के कारण उपलब्ध साधनों को आकर्षित करने के लिए दोनों उद्योगों के बीच प्रतिस्पर्धा होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधनों की कीमतों में वृद्धि होने लगती है। इसके फलस्वरूप साधनों की आय में पुनः वृद्धि होती है और उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती है। माँग में होने वाली वृद्धि उत्पादन, रोजगार तथा आय पर विस्तारकारी प्रभाव उत्पन्न करती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में विस्तार की प्रक्रिया संचयी हो जाती है।

मन्दी अथवा संकुचन की अवस्था - हेयक ने अपने विश्लेषण में यह विचार व्यक्त किया कि आर्थिक क्रियाओं में विस्तार की प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी नहीं रहती है। इसका कारण यह है कि विस्तार की प्रक्रिया में साधनों की कीमतों में लगातार वृद्धि होते रहने के कारण उत्पादन लागतों में भी वृद्धि होती रहती है। इसका प्रभाव यह होता है कि उत्पादकों को प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा में क्रमशः कमी होती जाती है। लाभ में कमी की आशंका उत्पादकों को पूँजीगत उद्योगों में निवेश में कमी करने के लिए विवश करती है। ऐसी परिस्थिति में बैंक भी निवेशकों को ऋण देने में रूकावटें उत्पन्न करते हैं क्योंकि विस्तार की प्रक्रिया में बैंकों के नकद जमा कोष में कमी होती जाती है। लाभ में कमी की आशंका तथा ऋणों की उपलब्धता में कमी के कारण उत्पादक पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में कमी करते हैं और उत्पादन प्रक्रिया में श्रम गहन तकनीकी का प्रयोग किया जाता है। पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में कमी हाने के कारण साधनों को पूँजीगत उद्योगों से उपभोक्ता उद्योगों की तरफ हस्तान्तरित किया जाता है

। परन्तु इस प्रक्रिया में पूँजीगत उद्योगों से जितने साधन हटाये जाते हैं वे सभी साधन उपभोक्ता उद्योगों में खप नहीं पाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न होने लगती है और साधनों के कीमतों में गिरावट होती है। साधनों की कीमतों में गिरावट के कारण उनकी आय में कमी होती है और आय में होने वाली यह कमी अर्थव्यवस्था में माँग पर संकुचनकारी प्रभाव उत्पन्न करती है। इसके परिणामस्वरूप रोजगार, उत्पादन तथा आय में गिरावट होती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में संकुचन की प्रक्रिया संचयी रूप धारण कर लेती है।

पुनरूत्थान की अवस्था- हेयक ने पुनरूत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के सन्दर्भ में यह तर्क प्रस्तुत किया कि मन्दी की अवस्था में कीमतों में लगातार गिरावट होती रहती है परन्तु एक ऐसी स्थिति आती है जब कीमतों में गिरावट रूक जाती है। यह वह स्थिति होती है जब अर्थव्यवस्था में निराशावाद, आशावाद के रूप में परिवर्तित हो जाती है। चूँकि मन्दी की अवस्था में बैंकों के पास नकद जमा कोष संचित होते रहते हैं इसलिए ऐसी परिस्थिति में बैंक भी उदार ऋण- नीति अपनाते हुए साख का विस्तार करते हैं तथा ब्याज दर में कमी करते हैं जिसके फलस्वरूप 'बाजार ब्याज दर' 'स्वाभाविक ब्याज दर' से कम हो जाती है। बाजार ब्याज दर में कमी होने से अर्थव्यवस्था में निवेश माँग में वृद्धि होने लगती है। यहीं से पुनरूत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

सिद्धान्त की समीक्षा-

1. हाट्टे के सिद्धान्त की ही तरह यह सिद्धान्त भी व्यापार-चक्र की व्याख्या केवल कुछ ही कारकों के आधार पर करता है। इसलिए इस सिद्धान्त को भी केवल आंशिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।
2. निवेश निर्धारण की प्रक्रिया में ब्याज दर को ही प्रमुख घटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो उचित नहीं है। क्योंकि निवेश के निर्धारण में कई अन्य घटकों जैसे- अनुमानित लाभ, व्यापार संभावनायें इत्यादि की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है।
3. सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।
4. पूँजीगत उद्योगों तथा उपभोक्ता उद्योगों के बीच प्रतिस्पर्धा की मान्यता सही नहीं है। क्योंकि वस्तुतः ये दोनों उद्योग एक दूसरे के पूरक होते हैं, न कि प्रतिस्पर्धी।

अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. व्यापार-चक्र की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. व्यापार-चक्र की मूलभूत विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. 'प्रमुख चक्र', 'लघु चक्र' तथा 'दार्घ्य लहरों' से आप क्या समझते हैं?
4. व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख कीजिए।
5. विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमुख निर्धारक घटकों को स्पष्ट कीजिए।
6. 'मौद्रिक अति-निवेश सिद्धान्त' के अन्तर्गत प्रमुख निर्धारक घटकों को स्पष्ट कीजिए।

19.10 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह जान चुके हैं कि व्यापार-चक्र का अभिप्राय आर्थिक क्रियाओं में हाने वाले उतार-चढ़ाव से होता है परन्तु अर्थव्यवस्था में सामान्य उतार-चढ़ाव की स्थिति को व्यापार-चक्र के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थव्यवस्था में जब कुछ स्पष्ट विशेषताओं के साथ उतार-चढ़ाव की स्थिति उत्पन्न हो तभी इसे व्यापार-चक्र के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। वस्तुतः व्यापार-चक्र से उत्पन्न होने वाले उतार-चढ़ाव का स्वरूप चक्रीय होता है और एक चक्र के अन्तर्गत चार अवस्थाएं होती हैं और ये चार अवस्थाएं हैं - समृद्धि, प्रतिसार, मन्दी तथा पुनरूत्थान। ये चारों अवस्थाएं क्रमिक रूप से बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं अर्थात् समृद्धि के पश्चात् प्रतिसार, तत्पश्चात् मन्दी तथा उसके पश्चात् पुनरूत्थान और पुनः समृद्धि का क्रम चलता रहता है।

जहाँ तक व्यापार-चक्र की घटना को उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी कारकों का सम्बन्ध है तो इस सन्दर्भ में आर्थिक साहित्य के अन्तर्गत अनेक सिद्धान्त विकसित किये गये हैं। परन्तु इस इकाई के अन्तर्गत मौद्रिक सिद्धान्त को ही स्पष्ट किया गया है जिसके अन्तर्गत व्यापार-चक्र की घटना के उत्पन्न होने के लिये मौद्रिक कारकों को ही उत्तरदायी माना गया है। आर्थिक साहित्य के अन्तर्गत इस विचारधारा के अन्तर्गत प्रमुख रूप से दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है - हाट्टे का विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त तथा हेयक का मौद्रिक अति-निवेश सिद्धान्त। इस विचारधारा के समर्थक अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि मौद्रिक कारक ही अर्थव्यवस्था के अनेक आन्तरिक कारकों पर इस प्रकार प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि विस्तार तथा संकुचन की प्रक्रिया संचयी रूप धारण कर लेती है और व्यापार-चक्र की चारों अवस्थाएं क्रमिक रूप से बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं।

19.11 शब्दावली

- **प्रावैगिक कारक-** इसका सम्बन्ध उन कारकों से होता है जो अल्पकाल में तो स्थिर हो सकते हैं परन्तु दीर्घकाल में परिवर्तनशील होते हैं। जैसे- उत्पादन की तकनीकी, जनसंख्या इत्यादि।
- **आत्म-समर्थक-** यदि कोई घटना अनेक अवस्थाओं से से निर्मित होती है और प्रत्येक अवस्था अगली अवस्था को उत्पन्न करती रहती है तो यह व्यवहार आत्म-समर्थक कहलाती है।
- **प्राविधिक परिवर्तन-** इसका सम्बन्ध उन परिवर्तनों से होता है जो तकनीकी में होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त करते हैं।
- **स्टॉक-** व्यापारियों द्वारा संग्रह की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा स्टॉक कहलाती है।
- **साख-गतिरोध-** यह उस स्थिति को व्यक्त करती जिसमें ब्याज-दर में कमी करने पर भी व्यापारियों द्वारा ऋणों की माँग में वृद्धि नहीं की जाती है।
- **अति-निवेश-** आवश्यकता से अधिक निवेश की क्रिया अति-निवेश कहलाती है।

19.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न 1.उत्तर: 19.3 में देखें। 2.उत्तर: 19.3 में देखें। 3.उत्तर: 19.4 में देखें। 4.उत्तर: 19.5 में देखें। 5.उत्तर: 19.7.1 में देखें। 6.उत्तर: 19.7.2 में देखें।

19.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- सेठी, टी.टी. (1903), मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
- झिंगन, एम.एल. (1904), मौद्रिक अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा.लि., दिल्ली।
- A.W. Stonier and D.C. Hague (1972), A Text-book of Economic Theory, 4th ed.
- Ackely G. (1978): *Macro Economics – Theory and Policy*, Macmillan, New York.
- Ahuja H.L. (1910): *Principles of Macro Economics*, S Chand, New Delhi.

19.14 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

- Burns F and Wesley C. Mitchell (1946): *Measuring Business Cycles*, National Bureau of Economic Research, New York.
- Estey J.A. (1962): *Business Cycles* (Third Edition).
- Gordon, Robert A (1961): *Business Fluctuations* (2nd Edition), Harper & Row, New York.
- Haberler G. (1960): *Prosperity and Depression*, Fourth Edition.

- Hansen A.H. (1964): *Business Cycles and National Income*
 - Hawtrey R.G. (1928): *Trade and Credit*, Green and Co. , London.
 - Louis A Dow. (1968): *Business Fluctuations in a Dynamic Economy*, Charles E Merrill, Columbus.
 - Mitchell Wesley C. (1941): *Business Cycles and Their Causes*, University of California Press, Berkeley.
-

19.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यापार-चक्र की विशेषताओं एवं अवस्थाओं का उल्लेख करते हुए इसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. “व्यापार-चक्र की घटना विशुद्ध रूप से एक मौद्रिक घटना है”। इस कथन की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
3. व्यापार-चक्र के ‘मौद्रिक अति-निवेश सिद्धान्त’ की विवेचना कीजिए। यह सिद्धान्त ‘विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त’ से किस प्रकार से भिन्न है ?

इकाई- 20 व्यापार चक्र का गुणक त्वरक सिद्धान्त

इकाई संरचना

- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 उद्देश्य
- 20.3 व्यापार चक्र के गुणक त्वरक अन्तक्रिया
- 20.4 प्रो0 सेमुएलसन का व्यापार चक्र सिद्धान्त
- 20.5 प्रो0 सेमुएलसन के व्यापार चक्र मॉडल की प्रमुख मान्यतायें
- 20.6 अर्थव्यवस्था की संस्थिति के लिए आवश्यक दशा
- 20.7 सेमुएलसन के व्यापार चक्र सिद्धान्त का मूल्यांकन
- 20.8 हिक्स का व्यापार चक्र सिद्धान्त
- 20.9 हिक्स के व्यापार चक्र मॉडल के तत्व
- 20.10 हिक्स के व्यापार चक्र मॉडल की प्रमुख मान्यतायें
- 20.11 हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त का मूल्यांकन
- 20.12 सारांश
- 20.13 शब्दावली
- 20.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 20.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 20.16 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ
- 20.17 निबन्धात्मकप्रश्न

20.1 प्रस्तावना

पिछले इकाई के अन्तर्गत व्यापार-चक्र से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं तथा उसकी व्याख्या के लिए मौद्रिक सिद्धान्त की विवेचना प्रस्तुत किया गया। मौद्रिक सिद्धान्त के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया कि व्यापार-चक्र के उत्पन्न होने के लिए मौद्रिक कारक ही उत्तरदायी होते हैं तथा इन्हीं कारकों के आधार पर ही व्यापार-चक्र की व्याख्या प्रस्तुत किया गया। इसके विपरीत, आर्थिक साहित्य के अन्तर्गत दूसरा दृष्टिकोण है व् गुणक तथा त्वरक के अन्तःक्रिया पर आधारित है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम एक अर्थशास्त्री पॉल ए सैम्युल्सन ने गुणक-त्वरक की अन्तःक्रिया को स्पष्ट करते हुए इसके माध्यम से व्यापार-चक्र की घटना का विश्लेषण प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् एक दूसरे अर्थशास्त्री जे आर हिक्स ने इस मॉडल को और अधिक विकसित किया।

यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र की घटना का एक अत्यन्त ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत करता है, फिर भी यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र की घटना की उपयुक्त व्याख्या करने में असफल माना जाता है। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र के उत्पन्न होने के कारण को तो स्पष्ट करता है परन्तु इसकी विभिन्न अवस्थाओं की कोई स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता है। हिक्स ने व्यापार-चक्र का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया वह भी गुणक-त्वरक की अन्तःक्रिया पर ही आधारित है परन्तु इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त सैम्युल्सन के सिद्धान्त की उपरोक्त त्रुटियों का निराकरण करते हुए इसे और अधिक विकसित स्वरूप प्रदान करता है।

20.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- गुणक-त्वरक के बीच अन्तःक्रिया को समझा सकेंगे।
- बता सकेंगे कि व्यापार चक्र के गुणक त्वरक अन्तःक्रिया के कौन-2 से सिद्धान्त है।
- प्रो0 सेमुएलसन के व्यापार चक्र सिद्धान्त को समझा सकेंगे।
- हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त को समझा सकेंगे।

20.3 व्यापार चक्र के गुणक त्वरक अन्तःक्रिया सिद्धान्त

(The Multiplier Accelerator Interactions Theory)

व्यापार चक्र के आधुनिक सिद्धान्त गुणक तथा त्वरक के अन्तःक्रिया पर आधारित है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक क्रियाओं में विस्तार तथा संकुचन गुणक तथा त्वरक के अन्तःक्रिया के कारण होते हैं।

विनियोग स्तर में परिवर्तन से आय स्तर में परिवर्तन होता है। गुणक के क्रियाशीलन के कारण आय में वृद्धि प्रारम्भिक विनियोग से कई गुनी होगी। अर्थात् $\Delta I = K \Delta I$

इस आय वृद्धि से माँग उत्पन्न होगी। जिसको पूरा करने के लिए विनियोग में वृद्धि होगी। जिसकी मात्र त्वरक

गुणांक द्वारा निर्धारित होगी। ($\Delta I = \Delta y \cdot g$)

विनियोग स्तर में यह वृद्धि गुणक की क्रियाशीलता के कारण आय में पुनः कई गुनी वृद्धि लायेगी जो माँग में वृद्धि के रूप में प्रेरित विनियोग में वृद्धि लायेगी।

इस प्रकार वृद्धि की यह प्रक्रिया चलती जायेगी इनमें किस परिणाम में परिवर्तन होगा इसकी दिशा क्या होगी, यह गुणक त्वरक के मानों पर निर्भर करेगा। गुणक त्वरक के संयुक्त प्रभाव को अधिगुणक कहा जाता है

$$Y = C + I \text{ -----(i)}$$

$$I = I_a + I_n$$

$$\Delta y = \Delta C + \Delta I_a + \Delta I_n \text{ -----(ii)}$$

समी0 (ii) में \square_y से भाग देने पर

$$\Delta y / \Delta y = \Delta C / \Delta y + \Delta I_a / \Delta y + \Delta I_n / \Delta y$$

$$I = C + \Delta I_a / \Delta y + g$$

$C =$ सीमान्त उपयोग प्रवृत्ति तथा $g =$ त्वरक

$$\Delta I_a / \Delta y = I - c - g$$

$$\Delta y / \Delta I_a = I / I - c - g$$

$K_s = I / I - c - g$ जिसमें K_s अधिगुणक है।

20.4 प्रो0 सेमुएलसन का व्यापार चक्र सिद्धान्त $\frac{1}{4}$ Samuelsons Trade Cycles Model)

कीन्स के सामान्य सिद्धान्त के प्रकाशन के बाद, व्यापार चक्र के सभी आधुनिक सिद्धान्त गुणक त्वरक अंतःक्रिया (Multiplier Accelerator Interaction) पर आधारित है। वर्तमान प्ररिपेक्ष में जब अर्थव्यवस्था में विनियोग का स्तर बढ़ेगा फलस्वरूप गुणक क्रिया से आय के स्तर में वृद्धि होगी। आय वृद्धि विनियोग वृद्धि को प्रेरित करेगी और अर्थव्यवस्था में आय एवं रोजगार के स्तरों में परिवर्तन उत्पन्न होंगे, आय एवं रोजगार के स्तरों में किस परिणाम में परिवर्तन परिलक्षित होंगे अथवा इन परिवर्तन की क्या दिशा होगी यह गुणक एवं त्वरक गुणांक के मानों पर निर्भर करेगा।

 20.5 प्रो0 सेमुएलसन के व्यापार चक्र मॉडल की प्रमुख मान्यतायें

प्रो0 सेमुएलसन का सिद्धान्त इसी अन्तक्रिया की एक सरल समीक्षा है। यह विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है।

1. उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति स्थिर है, और किसी समयावधि 't' में उपभोग का स्तर पिछली समयावधि (t-1) की आय पर निर्भर है

$$\text{अर्थात् } C_t = C_0 + c(y_{t-1}) \text{----- (1)}$$

जहाँ $C_t = t$ समयावधि में उपभोग का स्तर

$C =$ उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति

$y_{t-1} = (t-1)$ समयावधि में आय का स्तर

$C_0 =$ स्वायत्त उपभोग व्यय

2. पूँजी उत्पाद अनुपात g एक स्थिरांक है समयावधि 't' में विनियोग का स्तर I_t इसी काल में हुई उपभोग माँग की वृद्धि $C_t - C_{t-1}$ पर आधारित है जैसे

$$I_t = I_0 + g(C_t - C_{t-1}) \text{----- (2)}$$

जहाँ $I_t =$ समयावधि 't' में विनियोग का स्तर

$g =$ पूँजी उत्पाद अनुपात

$I_0 =$ स्वायत्त विनियोग व्यय अर्थात् विनियोग का वह भाग या अंश जो आय अथवा उपभोग परिवर्तनों से स्वतन्त्र है।

3. अर्थव्यवस्था पूँजी वस्तुओं के सन्दर्भ में पूर्ण उत्पादन क्षमता पर कार्यरत है, अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन क्षमता शून्य है। इन्वेन्ट्री अर्थात् वस्तुओं के स्ट्राक में कोई परिवर्तन नहीं होता जो कुछ उत्पादित होता है वह सब कुछ बिक जाता है।

4. श्रमशक्ति उत्पादन के स्तर में किसी प्रकार का अवरोध नहीं उत्पन्न करता है। अर्थात् अर्थव्यवस्था में श्रम पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

5. उत्पादन स्थिर है।

6. सरकारी व्यय G आय परिवर्तनों के लिए स्वतन्त्र है।

 20.6 अर्थव्यवस्था की संस्थिति के लिए आवश्यक दशा

अर्थव्यवस्था की संस्थिति के लिए निम्नलिखित दशा आवश्यक है।

$$Y_t = C_t + I_t + G_t \text{-----}(3)$$

$$\text{Or } = C_0 + CY_{t-1} + I_0 + g(C_t - C_{t-1}) + G_t$$

$$\text{Or } = C_0 + CY_{t-1} + I_0 + cg(Y_{t-1} - Y_{t-2}) + G_t \text{-----}(4)$$

समी0 (4) इस तथ्य को व्यक्त करता है कि वर्तमान आय Y_t पिछली दो समयावधि की आय $Y_{t-1} - Y_{t-2}$ और स्वायत्त व्यय $C_0 + I_0 + G_t$ निर्भर है और इन चरों में होने वाले परिवर्तन आय में परिवर्तन करेंगे।

यदि $Y_{t-1} = Y_{t-2} = Y_e$ हो और स्वायत्त व्यय $C_0 + I_0 + G_t$ भी अपरिवर्तित रहे तो अर्थव्यवस्था स्थाई संतुलन की स्थिति में रहेगी।

$$Y_e = \text{गुणक } x \text{ स्वायत्त व्यय}$$

$$= 1/1-c \times (C_0 + I_0 + G_t)$$

$Y_{t-1} = Y_{t-2} = Y_e$ समी0 (4) में रखने पर

$$Y_e = C_0 + C Y_e + I_0 + cg Y_e - cg Y_e + G_t$$

$$Y_e = C_0 + I_0 + G_t + C Y_e + cg Y_e - cg Y_e$$

$$Y_e (1-C) = C_0 + I_0 + G_t$$

$$Y_e = 1/(1-C) C_0 + I_0 + G_t \text{-----}(5)$$

गुणक एवं त्वरक के मूल्य में अन्तर के साथ ही व्यापार चक्र की आकृति बदलती जाती है। यह मानकर कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का मूल्य शून्य से अधिक और एक से कम ($0 < \alpha(c) < 1$) तथा त्वरक का मूल्य शून्य से अधिक $\{(g)(\beta) > 0\}$ है सैम्युअलसन ने निम्न पाँच प्रकार के उतार चढ़ावों की व्याख्या की है।

स्थिति	मूल्य	व्यापार चक्र का स्वरूप
1.	$C(\alpha) = .5) \beta(g) = 0$	सामान्य गुणक मॉडल अथवा चक्रहीन पथ
2.	$C(\alpha) = .5) \beta(g) = 1$	परिमन्दित उच्चावचन
3.	$C(\alpha) = .5) \beta(g) = 2$	नियमित चक्र
4.	$C(\alpha) = .6) \beta(g) = 3$	विस्फोटक चक्र
5.	$C(\alpha) = .8) \beta(g) = 4$	चक्रहीन विस्फोटात्मक पथ

उपर्युक्त पाँचों परिस्थितियों से सम्बन्धित व्यापार चक्र की आकृतियाँ रेखाचित्र में दिखायी गयी है। **OX** अक्ष पर समय तथा **YO** अक्ष पर राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन को प्रदर्शित किया गया है। आकृति (a) सामान्य गुणक मॉडल को प्रदर्शित करती है। त्वरक का मूल्य शून्य होने के कारण निवेश वृद्धि होने से आय एक स्थिर स्तर से बढ़कर स्थिर स्तर पर पहुँच जाती है। आकृति (b) परिमान्दित उच्चावचन की स्थिति व्यक्त करती है। गुणक का मूल्य तथा त्वरक का मूल्य होने के कारण उच्चावचन धीरे-2 घटते गये है और अन्त में सीधी रेखा में परिणित हो जाते है। आकृति (c) में उतार चढ़ाव नियमित होंगे तथा उनकी गति भी समान होगी। आकृति (d) विस्फोटक व्यापार चक्र की स्थिति प्रकट करती है। इस विस्फोटक स्थिति में उतार चढ़ाव समाप्त हो जाता है। आकृति (e) भी विस्फोटक स्थिति दिखाती है, परन्तु इसमें उतार चढ़ाव की गति धीरे-2 बढ़ती है और अन्त में विस्फोटक रूप धारण कर लेती है। विस्फोटक व्यापार चक्र के लिए आवश्यक है कि त्वरक का मूल्य गुणक से अधिक हो। त्वरक का मूल्य गुणक से जितना अधिक होगा उतनी ही तीव्र गति से विस्फोटक स्थिति उत्पन्न होगी।

20.7 सेमुएलसन के व्यापार चक्र सिद्धान्त का मूल्यांकन

1. यह सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में कार्यरत शक्तियों को समझने के लिए एक सरल विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इससे पहले व्यापार चक्र के सभी सिद्धान्त नितान्त एकांगी थे। परन्तु गुणक त्वरक सिद्धान्त में गुणक द्वारा उपभोगता का एवं त्वरक गुणांक द्वारा निवेश कर्ताओं के व्यवहार का समावेश किया गया है।
2. इस सिद्धान्त का अनौपचारिक प्रस्तुतीकरण अर्थव्यवस्था को एक यांत्रिक क्रिया के समान बना देता है। वास्तव में स्थिति काफी जटिल है, आर्थिक निकाय यंत्रवत नहीं चलता इसमें काफी लोचशीलता होती है।
3. इस विश्लेषण में प्रयुक्त निवेश फलन पूँजी स्टॉक में वांछित (desired) परिवर्तनों के दर की व्याख्या करता है और इसकी यह अवधारणा है कि पूँजी स्टॉक में हो रहे वास्तविक परिवर्तन वांछित दर से हो रहे है। परन्तु यह वास्तविक से भिन्न है।
4. इस विश्लेषण में मन्दीचरण में सकल निवेश शून्य के बराबर और निवल निवेश ऋणात्मक होता है परन्तु वास्तविकता इसके एकदम विपरीत है। ऐतिहासिक मन्दी (1929-30) में अमेरिका में जब GNP में 30% की कमी आई तब भी सकल निवेश का स्तर शून्य से काफी ऊपर था अर्थात् अर्थव्यवस्था में पूँजी स्टॉक में वृद्धि रही जो इस सिद्धान्त के एकदम विपरीत थी।
5. इस मॉडल में प्रावधिक प्रगति (technical progress) का अर्थव्यवस्था में उत्पादन क्षमता पर पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में नहीं रखा गया।
6. इसमें आय वृद्धि तथा कमी की किसी सीमा की बात नहीं की परन्तु हिक्स ने ऊपरी तथा निचली सतह की बात इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहीं।

7. यह सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में कार्यरत केवल वास्तविक शक्तियों एवं उनकी अन्तर्क्रिया की व्याख्या करता है और मौद्रिक शक्तियों को महत्व नहीं देता जो भी आर्थिक गतिविधियों को विशेष रूप से प्रभावित करती है।

8. सेमुएलसन के सिद्धान्त में विनियोग पर पड़ने वाले ब्याज के प्रभाव को ध्यान में नहीं रखा गया है।

इन सभी आलोचनाओं के बावजूद भी यह सिद्धान्त एक वास्तविक अर्थव्यवस्था में कार्यरत शक्तियों की एक समन्वित व्याख्या करता है।

20.8 हिक्स का व्यापार चक्र सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री प्रो० जे० आर० हिक्स ने अपनी 1950 में प्रकाशित पुस्तक “A Contribution to the theory of trade cycle” में यह प्रतिपादित किया कि व्यापार चक्र गुणक तथा त्वरक की अन्तर् क्रिया का परिणाम है।

हिक्स के अनुसार “जिस प्रकार माँग तथा पूर्ति सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त के दो पहलू हैं उसी प्रकार गुणक तथा त्वरक उच्चावचन के सिद्धान्त के दो पहलू हैं।”

हिक्सियन व्यापार चक्र मॉडल कीन्सियन गुणक विश्लेषण जे० बी० क्लार्क के त्वरक विश्लेषण तथा हैराड के आर्थिक संवृद्धि विश्लेषण तीनों पर आधारित है।

20.9 हिक्स के व्यापार चक्र मॉडल के तत्व

हिक्स के व्यापार चक्र मॉडल के तत्व ये हैं

20.9.1 वृद्धि की अभीष्ट दर (Warranted rate of growth):- वह दर है, जो अपने आपको बनाए रखेगी। यह बचत निवेश संतुलन के अनुरूप होती है। जब वास्तविक निवेश बराबर हो वास्तविक बचत के तो अर्थव्यवस्था अभीष्ट दर से वृद्धि कर रही है। हिक्स के अनुसार गुणक त्वरक परस्पर क्रिया ही है जो अभीष्ट वृद्धि दर के गिर्द आर्थिक उतार चढ़ावों का मार्ग प्रशस्त करती है।

20.9.2 उपभोग फलन :- उपभोग फलन $C_t = aY_{t-1}$ का रूप लेता है। अवधि t में उपभोग को पिछली अवधि $(t-1)$ की आय (Y) का फलन माना जाता है।

20.9.3 स्वायत्त निवेश:- स्वायत्त निवेश उत्पादन के स्तर में परिवर्तनों से स्वतन्त्र होता है अतः यह अर्थव्यवस्था की वृद्धि से नहीं सम्बद्ध होता।

20.9.4 प्रेरित निवेश:- प्रेरित निवेश उत्पादन के स्तर में परिवर्तनों पर निर्भर रहता है। अतः यह अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर का फलन होता है। हिक्स के मॉडल में त्वरक प्रेरित निवेश पर आधारित है।

गुणक तथा त्वरक के स्थिर मूल्यों में दिए होने पर लीवर प्रभाव ही (leverage effect) आर्थिक उतार चढ़ावों के लिए उत्तरदायी होता है।

20.10 हिक्स के व्यापार चक्र मॉडल की प्रमुख मान्यतायें

यह विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है।

1. अर्थव्यवस्था प्रगतिशील है जिसमें स्वायत्त निवेश स्थिर दर से इस तरह बढ़ता है ताकि अर्थव्यवस्था गतिमान संतुलन में रहें।
2. बचत तथा निवेश गुणांक काल पर्यन्त (overtime) ऐसे ढंग से बदलते हैं कि संतुलन पथ से ऊपर की ओर विस्थापन संतुलन से दूर समय पश्चता गति ला देता है।
3. हिक्स मान लेता है कि गुणक तथा त्वरक का मूल्य स्थिर है।
4. पूर्ण रोजगार सीमा, अर्थव्यवस्था के ऊपर की ओर गति पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण का काम करती है।
5. अवनति (downswing) में त्वरक का कार्यकरण अर्थव्यवस्था की नीचे की ओर गति पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रदान करता है। त्वरक में कमी की दर को मूल्यहास की दर अवनति में सीमित करती है।
6. उपभोग तथा प्रेरित निवेश समय पश्चात के साथ कार्यकरण करते हैं इसलिए गुणक तथा त्वरक के बीच सम्बन्ध समयान्तर ढंग से किया जाता है।
7. औसत पूँजी उत्पादन अनुपात (v) इकाई से अधिक है और कि कुल निवेश शून्य से नीचे नहीं गिरता।

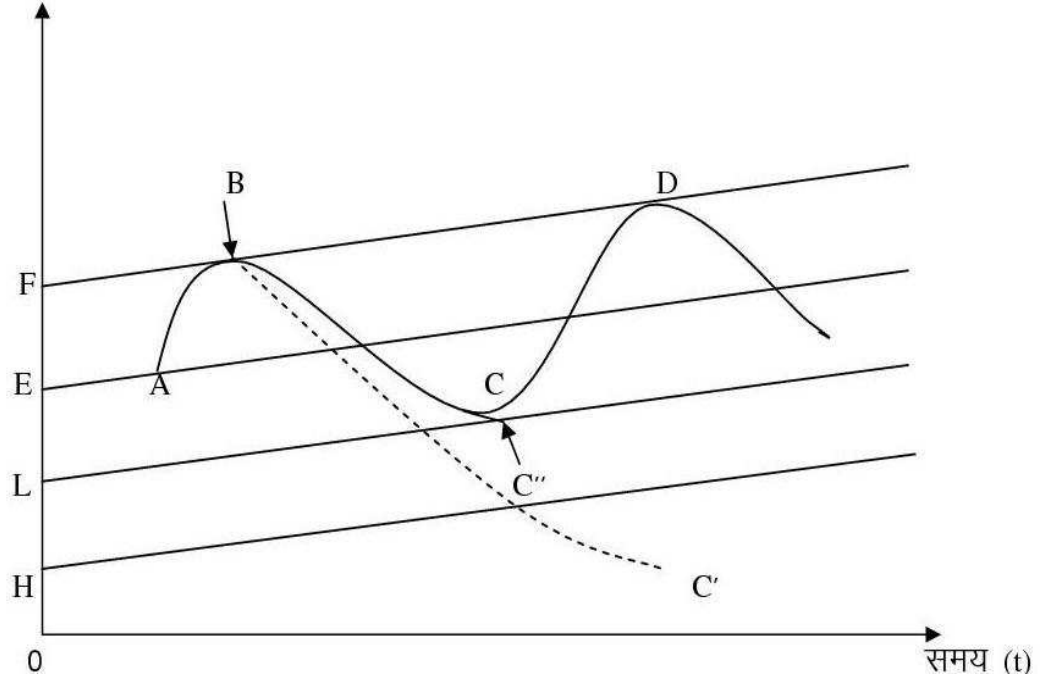
हिक्स ने अपने व्यापार चक्र सिद्धान्त को रेखाचित्र में स्पष्ट किया है। रेखा AA स्थिर दर से बढ़ते स्वायत्त निवेश के मार्ग को व्यक्त करती है EE उत्पादन का संतुलन स्तर जो AA पर निर्भर है गुणक त्वरक परस्पर क्रिया लागू करके इसे निकाला जाता है। रेखा FF संतुलन मार्ग EE के ऊपर पूर्ण रोजगार शिखर स्तर है और स्वायत्त निवेश की स्थिर दर से बढ़ रहा है LL उत्पादन का निम्न संतुलन पथ है जो तल (Floor) अथवा अवपात (slump) संतुलन रेखा को व्यक्त करता है।

हिक्स संतुलन पथ EE पर चक्रहीन स्थिति P_0 से प्रारम्भ करता है जब स्वायत्त निवेश की दर में वृद्धि से आय बढ़ने लगती है। अर्थव्यवस्था को विस्तार पथ पर P_0 पर ऊपर की ओर P_1 पर ले जाती है। हिक्स के अनुसार प्रस्तुत उत्कर्ष प्रावस्था स्टैण्डर्स चक्र से सम्बन्ध रहती है जो गुणक त्वरक के दिये मूल्य के कारण ऐसा नहीं हो पाता इस बारे में हिक्स लिखते हैं “मै केन्ज का अनुसरण करते हुए यह मान लेता हूँ कि कोई बिन्दु ऐसा रहता है जिस पर प्रभावी माँग के प्रत्युत्तर में उत्पादन बेलोच बन जाता है।” पूर्ति की अड़चने उत्पादन को शिखर पर पहुँचने से रोकती है P_1 पर उपरि सीमा से मिलती है।

P_1 पर पूर्ण रोजगार शिखर का स्पर्श करती है तो वह समय की कुछ अवधि के लिए शिखर के साथ चलेगी (रेगती) और अवनति तुरन्त प्रारम्भ नहीं होगी। निवेश समय पश्चात जितना अधिक होगा,

अर्थव्यवस्था उतना शिखर के साथ चलेगी। चक्र की पिछली अवस्था की सापेक्षता में इस स्तर पर आय घट रही है इसलिए निवेश की मात्रा घट रही है कम निवेश अर्थव्यवस्था को शिखर पर रहने के लिए पर्याप्त नहीं है और नीचे की ओर झुकाव शुरू हो जाता है।

$g(Y), \text{Log}(I)$



अवनति (downswing) के दौरान गुणक त्वरक यंत्र उलटा चलता है जिससे आय घटेगी जो निवेश घटती है यही क्रम आगे बढ़ता चलता है त्वरक के इसी तरह से कम करने के कारण उत्पादन निश्चय ही संतुलन स्तर EE के नीचे की ओर गिर जाएगा और इस कारण अपेक्षाकृत अधिक सीमा तक वही विस्फोटात्मक प्रवृत्तियां होगी जिनसे यह उससे ऊपर बढ़ी थी। उत्पादन में पतन प्रपत्ति (Steep) हो सकता है जैसा P_1P_2Q द्वारा दिखाया गया है। परन्तु अवनति में त्वरक उत्कर्ष के समान तेजी से कार्य नहीं करता। अवपात उग्र होगा तो प्रेरित निवेश शीघ्र गिर कर शून्य हो जाएगा और त्वरक का मूल्य शून्य हो जाएगा। निवेश में कमी की दर मूल्य हास के दर के बराबर है स्वायत्त निवेश घटा मूल्य हास दर के बराबर है। स्वायत्त निवेश हो रहा है इसलिए उत्पादन में पतन धीमे होगा और तेजी की अपेक्षा अवपात लम्बा होगा। जैसा कि Q_1Q_2 द्वारा प्रकट है। Q_2 पर अवपात रेखा LL द्वारा प्रादान तल पर चलती है तुरन्त मुड़ती नहीं जब तक अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त क्षमता है। जब क्षमता समाप्त हागी स्वायत्त निवेश आय बढ़ायेगा जिससे प्रेरित निवेश बढ़ेगा ताकि त्वरक चालू हो जो गुणक के साथ अर्थव्यवस्था को शिखर पर ले जाएगा। इस तरीके से अर्थव्यवस्था में चक्रीय प्रवृत्ति की आवृत्ति होती चलेगी।

20.11 हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त का मूल्यांकन

1. गुणक का मूल्य स्थिर नहीं (Value of multiplier not constant)

हिक्स द्वारा व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में गुणक का मूल्य स्थिर रहता माना गया यह केन्ज के स्थिर उपभोग फलन पर आधारित है यह मान्यता वास्तविक नहीं है। थतपमकउंद ने अनुजन्य प्रमाण के आधार पर सिद्ध किया सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति आय में चक्रीय परिवर्तनों के अनुपात में नहीं स्थिर रही। चक्र की विभिन्न अवस्था में गुणक का मूल्य बदलता रहता है।

2. त्वरक का मूल्य स्थिर नहीं (Value of accelerator not constant)

त्वरक का मूल्य हर चक्र में स्थिर मान लिया है त्वरक की स्थिरता पहले से स्थिर पूँजी उत्पादन अनुपात मानकर चलती है। ये मान्यताएँ आर्थिक है क्योंकि प्रौद्योगिकीय कारकों, निवेश की प्रकृति तथा संरचना पूँजी वस्तुओं की पक्वनावधि इत्यादि के कारण पूँजी उत्पादन अनुपात स्वयं बदलता है। इसलिए प्रो० लुण्ड वर्ग ने सुझाव दिया है कि व्यापार चक्रों को समझने की आर्थिक पद्धति के लिए त्वरक की स्थिरता की मान्यता छोड़ दी जाए।

3. स्वायत्त निवेश निरन्तर नहीं:- मन्दी में वित्तीय संकट स्वायत्त निवेश को उसके समान्य स्तर से नीचे गिरा सकता है।

4. वृद्धि केवल स्वायत्त परिवर्तनों पर निर्भर नहीं।

5. शिखर मन्दी के प्रारम्भ की व्याख्या करने में असफल।

6. तल व निम्न मोढ़ बिन्दु की व्याख्या विश्वासप्रद नहीं।

7. पूर्ण रोजगार स्तर उत्पादन पथ से स्वतन्त्र नहीं।

8. विस्फोटात्मक चक्र वास्तविक नहीं।

9. व्यापार चक्र की यान्त्रिक व्यवस्था।

10. संकुचन प्रावस्था विस्तार प्रावस्था से लम्बी नहीं।

अभ्यास प्रश्न

निम्न कथनों में से सत्य या असत्य छोटिये

1. गुणक का मान इकाई से अधिक होता है। (सत्य/असत्य)
2. गुणक केवल धनात्मक दिशा में कार्य करता है। (सत्य/असत्य)
3. गुणक का मान उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति से निर्धारित होता है। (सत्य/असत्य)
4. त्वरक ऋणात्मक दिशा में भी क्रियाशील होता है। (सत्य/असत्य)
5. हिक्स का सिद्धान्त केवल लघु चक्रों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। (सत्य/असत्य)
6. हिक्स का सिद्धान्त उतार-चढ़ाव की किसी सीमा का उल्लेख नहीं करता है। (सत्य/असत्य)

7. हिक्स ने प्रेरित निवेश तथा आय के बीच समय पश्चता को स्वीकार किया।(सत्य/असत्य)
8. व्यापार-चक्रों की ऊपरी सीमा का निर्धारण पूर्ण रोजगार से होता है।(सत्य/असत्य)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:-

1. गुणक-त्वरक अन्तःक्रिया को ----- ने विकसित किया।(हिक्स/सैम्युल्सन/हैन्सन)
2. त्वरक के क्रियाशीलन के लिए केवल -----उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता विद्यमान होनी चाहिए।
(उपभोक्ता/पूजीगत)
3. सैम्युल्सन द्वारा प्रस्तुत व्यापार-चक्र का सिद्धान्त एक-----सिद्धान्त है। (मौद्रिक/अमौद्रिक)
4. हिक्स का मॉडल ----- के सिद्धान्त पर आधारित है। (हैरोड/कीन्स/हैन्सन)
5. हिक्स ने अपने मॉडल में गुणक तथा त्वरक के मानों को-----माना। (स्थिर/परिवर्तनशील)
6. हिक्स द्वारा प्रस्तुत व्यापार-चक्र का सिद्धान्त एक-----सिद्धान्त है। (मौद्रिक/अमौद्रिक)

20.12 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत प्रमुख रूप से गुणक तथा त्वरक के बीच अन्तःक्रिया को समझाया गया। इस अन्तःक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि गुणक तथा त्वरक एक साथ क्रियाशील होकर आय में उतार-चढ़ाव की प्रवृत्ति को उत्पन्न करते हैं। गुणक तथा त्वरक की अन्तःक्रिया के माध्यम से ही सैम्युल्सन ने व्यापार-चक्र की घटना को स्पष्ट करने का प्रयास किया। वस्तुतः उन्होंने अपने विश्लेषण में गुणक तथा त्वरक की अन्तःक्रिया के आधार पर कुल पाँच प्रकार के आय के प्रवृत्तियों को प्राप्त किया। ये पाँच प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं- चक्रहीन पथ, अवमन्दित चक्रों वाला पथ, नियमित चक्रों वाला पथ, विस्फोटक चक्रों वाला पथ तथा विस्फोटक विस्तार वाला पथ।

हिक्स ने व्यापार-चक्र का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया वह भी गुणक-त्वरक की अन्तःक्रिया पर ही आधारित है परन्तु इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त एक वृद्धिशील अर्थव्यवस्था में होने वाले उतार-चढ़ाव की व्याख्या करने में सफल है। हिक्स ने सैम्युल्सन द्वारा वर्णित आय के विभिन्न प्रवृत्तियों में से केवल 'विस्फोटक चक्रों' वाले प्रवृत्ति की सम्भावना को ही स्वीकार किया परन्तु उन्होंने अपने मॉडल में प्रदर्शित किया कि इस प्रकार के चक्र भी एक 'ऊपरी' (सीलिंग) तथा 'निचली' (फ्लोर) सीमा के भीतर ही उत्पन्न होंगे।

20.13 शब्दावली

विस्थापित:- इसका तात्पर्य किसी एक स्थिति का दूसरे स्थिति पर स्थानान्तरित होने से होता है। जैसे इस इकाई में इस शब्द को इस अर्थ के लिए प्रयोग किया गया है कि आय के सन्तुलन का एक स्तर स्थानान्तरित होकर दूसरे सन्तुलन स्तर पर पहुँच जाता है।

तात्कालिक:- इस शब्द का अभिप्राय 'तुरन्त' शब्द से होता है। जैसे इस इकाई में इस शब्द को इस अर्थ के लिए प्रयोग किया गया है कि निवेश में परिवर्तन का आय पर उत्पन्न होने वाला गुणक प्रभाव सम्पूर्ण रूप से तुरन्त घटित नहीं होता है बल्कि कई चरणों में घटित होता है।

अनवरत्:- इस शब्द का अभिप्राय 'लगातार' से होता है। जैसे इस इकाई में इस शब्द को इस अर्थ के लिए प्रयोग किया गया है कि गुणक प्रक्रिया के अन्तर्गत आय के स्तर में परिवर्तन तो होगा परन्तु इस परिवर्तन की प्रक्रिया लगातार जारी नहीं रहेगी अपितु एक नये सन्तुलन स्तर को प्राप्त करके रूक जायेगी।

अवमन्दित:- इस शब्द का अर्थ धीरे-धीरे मन्द पड़ने से होता है। जैसे इस इकाई में इस शब्द को इस अर्थ के लिए प्रयोग किया गया है कि आय में होने वाला उतार-चढ़ाव धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगता है। जैसा कि सैम्युल्सन के मॉडल के द्वितीय प्रवृत्ति में प्रदर्शित किया गया है।

उत्तरोत्तर:- इस शब्द का अर्थ 'आगे बढ़ते हुए क्रम में' से होता है। जैसे इस इकाई में इस शब्द को इस अर्थ के लिए प्रयोग किया गया है कि गुणक प्रक्रिया जैसे-जैसे आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उपभोग में होने वाला परिवर्तन आगे बढ़ते हुए क्रम में कम होता जाता है।

अतिरिक्त क्षमता:- इस शब्द का अर्थ 'आवश्यकता से अधिक क्षमता' से होता है। इस इकाई में इस शब्द का प्रयोग एक उद्योग विशेष की उत्पादन क्षमता के लिए किया गया है। जैसे उपभोग वस्तुओं के उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता विद्यमान नहीं होने का यह अभिप्राय है कि इस उद्योग में जितनी वस्तुएं उत्पादित किया जा सकता है वे सब बाजार में खप जाएं। उदाहरण के लिए यदि उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग में 1000 इकाई वस्तुएं उत्पादित की जा सकती हैं तो बाजार में इन वस्तुओं की माँग भी 1000 इकाई के बराबर होनी चाहिए। यदि बाजार में इन वस्तुओं की माँग 1000 इकाई से कम जैसे कि 800 इकाई के बराबर है तो इसका तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग में अतिरिक्त क्षमता विद्यमान है।

गतिमान सन्तुलन:- जब अर्थव्यवस्था के सभी चर परिवर्तनशील होते हुए भी संतुलन में बने रहते हैं तो ऐसी स्थिति को गतिमान संतुलन कहा जाता है। वस्तुतः इसका अभिप्राय उस स्थिति से होता है जिसमें सभी चरों में एक समान दर से परिवर्तन होता है।

प्रावैगिक घटक:- इसका अभिप्राय उन सभी घटकों से होता है जो अर्थव्यवस्था के दीर्घकालीन व्यवहार को निर्धारित करते हैं। वस्तुतः इसके अन्तर्गत उन सभी घटकों को शामिल किया जाता है जो दीर्घकाल से सम्बन्धित होते हैं जैसे- जनसंख्या, तकनीकी, पूँजी संचय इत्यादि।

उत्कर्ष:- इसका अभिप्राय अर्थव्यवस्था में होने वाले उत्तरोत्तर रूप से विस्तार की अवस्था से होता है।

अवनति:- इसका अभिप्राय अर्थव्यवस्था में होने वाले उत्तरोत्तर रूप से संकुचन की अवस्था से होता है।

20.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

निम्न कथनों में से सत्य या असत्य छॉटिये

1. असत्य, 2. असत्य, 3. सत्य, 4. असत्य, 5. असत्य, 6. असत्य, 7. सत्य, 8. सत्य

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. सैम्युल्सन, 2. पूँजीगत, 3. अमौद्रिक 4. हैरोड, 5. स्थिर, 6. अमौद्रिक,

20.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- सेठी, टी.टी. (2003), मौद्रिक अर्थशास्त्र, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
- झिंगन, एम.एल. (2004), मौद्रिक अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा.लि., दिल्ली।
- A.W. Stonier and D.C. Hague (1972), A Text-book of Economic Theory, 4th ed.
- Ackely G. (1978): *Macro Economics – Theory and Policy*, Macmillon, New York.
- Ahuja H.L. (2010): *Principles of Macro Economics*, S Chand, New Delhi.

20.16 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

- Burns F and Wesley C. Mitchell (1946): *Measuring Business Cycles*, National Bureau of Economic Research, New York.
- Estey J.A. (1962): *Business Cycles* (Third Edition).
- Gordon, Robert A (1961): *Business Fluctuations* (2nd Edition), Harper & Row, New York.
- Haberler G. (1960): *Prosperity and Depression*, Fourth Edition.
- Hansen A.H. (1964): *Business Cycles and National Income*
- Hawtrey R.G. (1928): *Trade and Credit*, Green and Co. , London.
- Louis A Dow. (1968): *Business Fluctuations in a Dynamic Economy*, Charles E Merrill, Columbus.
- Mitchell Wesley C. (1941): *Business Cycles and Their Causes*, University of California Press, Berkeley.

21.17 निबन्धात्मक प्रश्न

1. गुणक तथा त्वरक के बीच अन्तःक्रिया की विवेचना कीजिए तथा इस अन्तःक्रिया को एक गणितीय उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।
2. गुणक-त्वरक अन्तःक्रिया पर आधारित सैम्युल्सन के व्यापार चक्र के सिद्धान्त की विवेचना प्रस्तुत कीजिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र की उचित व्याख्या करने में सफल है ?
3. हिक्स के सिद्धान्त की प्रमुख बातों का उल्लेख करते हुए इसकी आधारभूत मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।
4. हिक्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त सैम्युल्सन के सिद्धान्त के ऊपर एक सुधार है। इस तथ्य को स्पष्ट कीजिए।
5. व्यापार-चक्र के सन्दर्भ में हिक्स के मॉडल की समीक्षात्मक विवेचना प्रस्तुत कीजिए।